"वास्तव में विज्ञानमूलक ऐतिहासिक दृष्टि के आधार पर ही भारतीय संस्कृति के विकास का अध्ययन होना चाहिए। इसके अनुसार भारतीय संस्कृति को उसके अत्यन्त व्यापक अर्थ में लेकर, उसको स्वभावतः प्रगतिशील तथा समन्वयात्मक मानते हुए, वैदिक परम्परा के संस्कृत साहित्य के साथ बौद्ध-जैन साहित्य तथा संतों के साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन, मूक जनता के अनंकित विश्वासों और आचार-विचारों के परीक्षण, और भाषा के साथ-साथ पुरातत्त्व-सम्बन्धी ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक साक्ष्य के अनुशीलन द्वारा, समष्टि-दृष्टि से, भारतीय संस्कृति के आधारों का अनुसन्धान किया जाना चाहिए।"

भारतीय संस्कृति का विकास

प्रथम खण्ड

[भूमिका-खण्ड-सहित]

卐

वैदिक धारा

卐

ग्रन्थकार

डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री

एम० ए०, डी० फ़िल० (ऑक्सन)

पूर्व प्रिंसिपल, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस

प्रकाशक :

समाज विज्ञान परिषद्

काशी विद्यापीठ, बनारस

प्रकाशक
समाज विज्ञान परिषद्,
काशी विद्यापीठ, बनारस

प्रथम संस्करण २०००
सन् १९५६ ई०
मूल्य ७)

मुद्रक—विद्यामन्दिर प्रेस, लि०, मानमन्दिर, बनारस।

समन्वयात्मक, असाम्प्रदायिक तथा प्रगतिशील भारतीय
संस्कृति के आधार पर नव्य-भारत के निर्माण
में तत्पर राष्ट्र-प्रेमियों
की सेवा में

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक डॉ० मंगलदेव शास्त्री द्वारा समाज विज्ञान परिषद्, बनारस, के सम्मुख दी गई व्याख्यानमाला का निबन्धन है। भारतीय संस्कृति को तीन दृष्टियों से देखा जाता है। एक तो परम्परावादियों की संकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टि है और दूसरी इसके प्रतिवाद स्वरूप आधुनिकतावादियों की दृष्टि है जो सारी प्राचीन परम्परा को अन्धविश्वास और प्रतिक्रियावादिता ही मानती है। तीसरी दृष्टि ऐतिहासिक समन्वय की दृष्टि है, जो प्राचीन तथा नवीन, प्राच्य तथा पाश्चात्य को ऐतिहासिक दृष्टि से समन्वित करके भारत के विभिन्न समुदायों तथा धर्मों के योग से भारतीय संस्कृति का स्वरूप निर्मित करती है। स्पष्ट है कि यही वैज्ञानिक दृष्टि संकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाओं और विषमताओं को दूर करके देश के समस्त समुदायों में एकसूत्रता ला सकती है, सबके अभिमान की वस्तु बन सकती है, राष्ट्र में एकात्मता की भावना उत्पन्न कर सकती है और देश की अनेक नवीन तथा विषम समस्याओं का समाधान कर सकती है।

यह समन्वय का कार्य आज ही नहीं आरम्भ हुआ है, वरन् प्राचीन काल से ही होता आया है। विद्वान् लेखक ने दिखाया है कि परम्परागत हिन्दू धर्म के प्रसिद्ध नाम 'निगमागम धर्म' का अर्थ स्पष्टतः यही है कि इसका आधार केवल 'निगम' न होकर 'आगम' भी है और वह निगम-आगम-धर्मों का समन्वित रूप है। लेखक की दृष्टि में 'निगम' का अभिप्राय वैदिक परम्परा से है और 'आगम' का अभिप्राय प्राचीनतर प्राग्वैदिक काल से आती हुई वैदिकेतर धार्मिक या सांस्कृतिक परम्परा से है। एक ओर देव और दूसरी ओर असुर, दास या दस्यु जिन्हें 'अयज्ञाः' तथा 'अनिन्द्राः' अर्थात् यज्ञ-प्रथा और इन्द्र को न माननेवाले कहा गया है, एक ओर ऋग्वेदीय रुद्र तथा अनेक वैदिक देवता और दूसरी ओर पौराणिक शिव तथा अन्य प्रचलित उपास्यदेव और कर्मकाण्ड, एक ओर कर्म और अमृतत्व तथा दूसरी ओर संन्यास और मोक्ष की भावना, एक ओर ऋषि-सम्प्रदाय और दूसरी ओर मुनि-सम्प्रदाय, एक ओर हिंसामूलक मांसाहार तथा असहिष्णुता और दूसरी ओर अहिंसा तथा तन्मूलक निरामिषता और विचार-सहिष्णुता अथवा अनेकान्तवाद, एक ओर वर्ण और दूसरी ओर जाति, एक ओर पुरुषविध देवता और दूसरी ओर स्त्रीविध देवता, एक ओर कृषिमूलक ग्राम-व्यवस्था और दूसरी ओर शिल्पमूलक नगर-व्यवस्था इत्यादि द्वन्द्व प्राचीन काल की दो संस्कार-धाराओं की ओर संकेत करते हैं। पुराण, रामायण, महाभारत

आदि में यक्ष, राक्षस, विद्याधर, गन्धर्व, किन्नर, नाग आदि अनेक प्राग्-ऐतिहासिक जातियों का उल्लेख भी मिलता है। निगमागम धर्म का आधार केवल श्रुति न होकर श्रुति-स्मृति–पुराण है। पुराण शब्द ही अत्यन्त प्राचीन संस्कृति की ओर संकेत करता है।

अतएव भारतीय संस्कृति के वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए वैदिक तथा वैदिकेतर साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन तथा लोकसाहित्य, लोकव्यवहार और लोकश्रुति तथा ऐतिहासिक और प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व-विज्ञान, भाषाविज्ञान, मानव-जाति-विज्ञान, पुराणविज्ञान आदि अनेक नवीन विज्ञानों के अनुशीलन की आवश्यकता है। यह कार्य डॉ० मंगलदेव शास्त्री जैसे प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्या के अधिकारी विद्वानों द्वारा ही हो सकता है। विद्वान् लेखक ने अपने अध्ययन को मौलिक आधारों पर ही प्रस्तुत किया है, उसमें उतनी ही और वे ही बातें प्रस्तुत की गई हैं जो वेद आदि प्रमाणों से प्रत्यक्ष रूप से निष्पन्न होती हैं। किसी बात का कल्पना के आधार पर अप्रमाणित विस्तार नहीं किया गया है। इस मौलिक अध्ययन का एक आवश्यक परिणाम यह भी हुआ है कि आजकल प्रचलित अनेक वैज्ञानिक शब्दों के लिये सुन्दर पर्याय प्राप्त हुए हैं।

भारतीय संस्कृति का सम्पूर्ण विकास ही प्रस्तुत ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय है, इसके लिये लेखक ने उसकी विभिन्न धाराओं, जैसे 'वैदिक, औपनिषद, जैन, बौद्ध, पौराणिक, संत, इस्लाम और इसाइयत पर विवेचनात्मक दृष्टि से विचार करने तथा अन्त में उसके भावी विकास पर भी दृष्टि डालने का सत्संकल्प किया है। यह कार्य ग्रंथ के आठ या नौ खण्डों में पूर्ण होगा। इसका भूमिका खण्ड तथा प्रथम खण्ड—वैदिकधारा ही इस समय प्रस्तुत किया जा रहा है। मुझे विश्वास है कि भारतीय संस्कृति के अध्ययन में यह पुस्तक पथ-निर्देश का काम करेगी और भारतीय संस्कृति तथा समाजशास्त्र के विद्यार्थियों के लिये तो यह आवश्यक पाठ्यग्रंथ होगी ही, अन्य जिज्ञासु तथा विद्वान् पाठक भी इससे लाभान्वित होंगे और इस सेवा का समुचित आदर करेंगे।

लखनऊ,
तिथि १ जनवरी, १९५६

नरेन्द्रदेव
अध्यक्ष
समाज विज्ञान परिषद्, बनारस

प्रस्तावना

'भारतीय संस्कृति का विकास' नामक इस ग्रन्थ को प्रायेण आठ खण्डों में समाप्त करने का हमारा विचार है। भारतीय संस्कृति की वैदिक धारा के संबन्ध में उसी के (भूमिका-खण्ड-सहित) प्रथम खण्ड को इस समय हम विज्ञ पाठकों के सामने उपस्थित कर रहे हैं।

भूमिका-खण्ड (परिच्छेद १—४) का संबन्ध समग्र ग्रन्थ से है, केवल प्रथम खण्ड से नहीं।

ग्रन्थ की मुख्य विशेषता

ग्रन्थ की मुख्य विशेषता उसकी रचना के लक्ष्य, दृष्टिकोण और विषय-प्रतिपादन की प्रक्रिया या पद्धति में है। भूमिका-खण्ड में विस्तार से इन सब विषयों को स्पष्ट करने का हमने यत्न किया है। तो भी इस संबन्ध में यहाँ कुछ कहना आवश्यक प्रतीत होता है।

इधर कुछ वर्षों से, विशेषतः स्वतन्त्रता-प्राप्ति के अनन्तर, भारतीय संस्कृति की चर्चा विशेष रूप से देश में रही है। अनेक ग्रन्थ इस के संबन्ध में प्रकाशित हो चुके हैं और हो रहे हैं। इसपर भी उसके स्वरूप के विषय में, ऐकमत्य न होकर, विभिन्न दृष्टियाँ ही पायी जाती हैं। किन्हीं किन्हीं दृष्टियों में तो आकाश-पाताल का अन्तर है।

भारत के राजनीतिक इतिहास में संप्रदाय-निरपेक्षता (अथवा संप्रदाय-सम-भाव) तथा मानवता के सिद्धान्तों के आधार पर 'लोकतन्त्रात्मक गणराज्य' की स्थापना एक अनोखी घटना है; न केवल सैकड़ों वर्षों के दास्य के पश्चात् स्वतन्त्रता-प्राप्ति के कारण, अपितु अपने आधार-भूत सिद्धान्तों की महत्ता के कारण

भी । अतः उक्त गण-राज्य के रूप में स्वराज्य-प्राप्ति के अनन्तर हमारा प्रथम कर्तव्य है उक्त मौलिक सिद्धान्तों के आधार पर नव्य-भारत का सुदृढ़ और स्थायी पुनर्निर्माण ।

परन्तु यह किससे छिपा है कि इधर चिरकाल से संप्रदाय-वाद, जातिवाद तथा वर्गवाद की संकीर्ण और विघटनात्मक प्रवृत्तियाँ भारतीय इतिहास में बराबर काम करती रही हैं । संप्रदाय, वर्ण, जाति-पाँति की परम्परागत पृथक्त्व की भावनाओं से परिपूर्ण भारतवर्ष का अभिनव निर्माण विभिन्न संप्रदायों और वर्गों में एकसूत्र-रूप से व्याप्त , समन्वयात्मक तथा अखिल-भारतीय भावना से युक्त भारतीय संस्कृति के आधार पर ही हो सकता है । उसी भारतीय संस्कृति के वास्तविक स्वरूप और स्वभाव को समझना प्रत्येक राष्ट्र-प्रेमी का आवश्यक कर्तव्य है ।

ऐसा होने पर भी , जैसा ऊपर कहा है, भारतीय संस्कृति के स्वरूप के विषय में , ऐकमत्य न होकर, विभिन्न दृष्टियाँ ही पायी जाती हैं ।

भारतीय संस्कृति के विषय में अब तक के लेखकों को प्रायेण तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—

प्रथम वर्ग तो उन संकीर्ण सांप्रदायिक दृष्टि रखने वालों का है, जिनके सामने प्रगतिशील समष्टयात्मक भारतीय संस्कृति-जैसी कोई वस्तु या भावना रह ही नहीं सकती । विभिन्न भारतीय संप्रदायों में भी वे पारस्परिक पूरकता के स्थान में समानान्तरता और प्रतिद्वन्द्विता की भावना को ही सामने रख कर कुछ लिखने में प्रवृत्त होते हैं । अपने ही संप्रदाय को सर्वोत्कृष्ट और सर्वांश में सत्य मानने के कारण, वे दूसरे संप्रदायों के विषय में न्याय्य बुद्धि से काम नहीं ले सकते ।

दूसरे वर्ग के लेखक प्रायः वे विदेशी विद्वान् हैं, जिन्होंने बहुत-कुछ अपने राजनीतिक स्वार्थ या अभिनिवेश के कारण, जाने या अनजाने, भारतीय संप्रदायों की ऊपरी प्रतिद्वन्दिता पर ही बल दिया है। ऐसे ही लेखकों के प्रभाव के कारण हमारे जातीय जीवन में आर्य-अनार्य, वैदिक-अवैदिक, ब्राह्मण-अब्राह्मण, वर्णाश्रमी-वर्णाश्रमेतर, हिन्दू-अहिन्दू, हिन्दू-मुसलमान. हिन्दू-सिक्ख जैसी प्रतिद्वन्द्वी भावनाओं ने जड़ पकड़ कर नई समस्यायों को खडा कर दिया है ।

तीसरे वर्ग में उन भारतीय विद्वान् लेखकों का स्थान है, जो भारतीय चिर-परम्परा से प्राप्त जाति - वर्ण - या सम्प्रदाय-मूलक गहरे अभिनिवेश के कारण, जनता के वास्तविक जीवन के प्रवाह की उपेक्षा करके, बहुत कुछ 'शास्त्रीय दृष्टि' को ही सामने रख कर भारतीय संस्कृति की एकदेशी व्याख्या में प्रवृत्त होते हैं ।

केवल शास्त्रों में प्रतिपादित, पर व्यावहारिक जीवन से असंपृक्त, संस्कृति को संस्कृति कहा भी जा सकता है या नहीं, इसमें हमें सन्देह है। व्यवहारपक्ष या जनता-पक्ष की उपेक्षा करके, विशुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से किसी भी संस्कृति का ऐसा मनोमोहक चित्र खींचा जा सकता है, जिसका अस्तित्व, किसी दिव्यलोक में भले ही हो, इस मर्त्यलोक में तो नहीं हो सकता। फिर, शास्त्रीय अभिनिवेश वाला लेखक विभिन्न संप्रदायों का कहाँ तक न्याय-पूर्ण वर्णन कर सकता है ?

इस संबन्ध में **हमारा दृष्टि-कोण और लक्ष्य**, दोनों ही दूसरे लेखकों से बहुत-कुछ भिन्न हैं।

प्रकृत ग्रन्थ में हमारा प्रयत्न बराबर यही रहेगा कि हम, अपने को संकीर्ण अनुदार भावनाओं से पृथक् रखते हुए, प्रगतिशील भारतीय संस्कृति के अविच्छिन्न प्रवाह और विकास को इस प्रकार दिखा सकें, जिससे—

(१) एक समन्वयात्मक भारतीय संस्कृति के आधार पर हमारे भारतीय राष्ट्र को दृढ़ता और पुष्टि प्राप्त हो सके;

(२) भारतीय संस्कृति की प्रगति में, वास्तविकता के आधार पर, विभिन्न संप्रदायों की देन और साहाय्य को दिखलाते हुए हम उनमें प्रतिद्वन्द्विता के स्थान में पूरकता की भावना का विकास कर सकें;

(३) संप्रदायों में नैतिकता, नागरिकता और मानवता की दृष्टि से सहयोग के साथ-साथ, परस्पर समादर और सद्भावना की भी वृद्धि हो सके;

(४) संप्रदायों के स्वरूप और प्रभाव के निरूपण में हम पूर्ण सद्भावना और न्याय्य-बुद्धि से काम ले सकें। इस संबंध में जो कुछ हम लिखें, उसका आधार, केवल पुस्तकाध्ययन न होकर, यथासंभव उनके व्यावहारिक जीवन का आन्तरिक अवेक्षण भी हो। दूसरे शब्दों में, शास्त्रीय और जनता-गत, दोनों पक्षों को साथ लेकर ही हम चलना चाहते हैं।

हमारी दृष्टि में भारतीय संस्कृति की विभिन्न धाराओं में पारस्परिक विरोध-भावना के लिए वास्तव में कोई स्थान न होना चाहिए।

हम उन सब को समष्ट्यात्मक, अविच्छिन्न-प्रवाहिणी एक ही व्यापक भारतीय संस्कृति का पूरक और पोषक समझते हैं।

हमारे लिए वे सब धाराएँ, उनका उत्कृष्ट साहित्य और उनके मान्य महापुरुष, सब सम्माननीय और आदरणीय हैं।

हम चाहते हैं कि भारतीय राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को उन सब में गर्व और गौरव की भावना के साथ साथ ममत्व की बुद्धि भी हो।

उपर्युक्त लक्ष्य और दृष्टिकोण को लेकर ही हम प्रकृत ग्रन्थ के लिखने में प्रवृत्त हुए हैं।

प्रक्रिया या पद्धति

ग्रन्थ की विषय-प्रतिपादन की प्रक्रिया या पद्धति के विषय में यहाँ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। भूमिका-खण्ड (परिच्छेद ३) में विस्तार से इसके संबन्ध में हम कह चुके हैं। यह स्पष्ट है कि समस्त भारतीय संप्रदायों में एकसूत्र-रूप से व्याप्त समष्ट्यात्मक भारतीय संस्कृति के विकास के अध्ययन में संकुचित तथा अनुदार **साम्प्रदायिक विचार-पद्धति** से काम ही नहीं चल सकता। उसमें **वैज्ञानिक विचार-पद्धति** का अवलम्बन अनिवार्य-रूप से आवश्यक है।

वैज्ञानिक विचार-पद्धति का मुख्य आधार उसकी तुलनात्मक और ऐतिहासिक प्रक्रिया है। किसी विषय के स्वरूप को उपपत्ति और युक्ति के सहित समझने के लिए हमें उसके इतिहास और विकास के साथ-साथ उसकी वर्तमान आपेक्षिक परिस्थिति को भी ठीक-ठीक जानना आवश्यक होता है।

इसलिए व्यापक दृष्टि से भारतीय संस्कृति के स्वरूप, स्वभाव और विकास को, उसकी अत्यत प्राचीन काल से आने वाली धारावाहिक जीवित परम्परा को, ठीक-ठीक समझने के लिए उसके इतिहास को जानने की अत्यन्त आवश्यकता है। इसके लिए स्पष्टतः सत्य के अन्वेषण में तत्पर विवेचनात्मक व्यापक ऐतिहासिक बुद्धि के साथ-साथ अन्य प्राचीन-परम्परागत संस्कृतियों के परिज्ञान की भी अपेक्षा है।

सत्यान्वेषण की भावना से प्रवृत्त ऐतिहासिक का कर्तव्य है कि वह सब प्रकार के पूर्वग्रह और पक्षपात से रहित होकर भारतीय संस्कृति के विभिन्न कालों की वस्तु-स्थिति का निरूपण करे। उसे किसी भी वस्तु-स्थिति को अच्छे या बुरे रूपान्तर में दिखाना अपनी न्याय्य-बुद्धि के विपरीत ही समझना चाहिए।

एक काल को दूसरे काल में अध्ययन या आरोप करने की प्रवृत्ति (Anachronism) अबुद्धिपूर्वक सांप्रदायिकों के अतिरिक्त अन्य लोगों में भी देखी जाती है। सच्चे ऐतिहासिक को इस प्रवृत्ति की ओर से अपने को सदा सचेत रखना पड़ता है।

भारतवर्ष में हम लोगों की प्रायेण यही प्रवृत्ति रही है कि हम बड़े-बड़े धार्मिक आन्दोलनों को, अवतारी महापुरुषों को और बड़ी-बड़ी ऐतिहासिक घटनाओं

को पूर्वापर परिस्थितियों से असंबद्ध तथा असंपृक्त अथवा आकस्मिक घटना के रूप में ही देखते हैं । परन्तु वास्तव में महान् आन्दोलनों, ऐतिहासिक घटनाओं और अवतारी महापुरुषों की पूर्ववर्ती और परवर्ती परिस्थितियों में कार्यकारण-भाव की परम्परा रहती है। वैज्ञानिक पद्धति का कर्तव्य है कि वह उसका पता लगाए और उसका निरूपण करे ।

किसी भी इतिहास के समान ही, भारतीय संस्कृति का इतिहास भी इसी प्रकार की कार्यकारण-भाव की परम्पराओं से निर्मित है । वैज्ञानिक पद्धति के अवलम्बन से ही हम उन परम्पराओं का अध्ययन कर सकते हैं ।

भारतीय संस्कृति के लम्बे इतिहास में काल-भेद से विभिन्न स्तरों का पाया जाना स्वाभाविक है । हमारा कर्तव्य है कि हम, न केवल उनके परस्पर सम्बन्ध का ही, किन्तु प्रत्येक स्तर की पूर्वावस्था और अनन्तरावस्था का भी, उन-उन त्रुटियों का भी, जिनके कारण एक स्तर के पश्चात् अगले स्तर का आना आवश्यक होता गया, पता लगावें। इसी प्रकार एक धारावाहिक जीवित परम्परा के रूप में भारतीय संस्कृति को हम समझ सकते हैं ।

उपर्युक्त प्रकार के अध्ययन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति के विभिन्न कालों के साथ हमारी न केवल ममत्व की या तादात्म्य की ही भावना हो, किन्तु सहानुभूति भी हो ।

वैज्ञानिक पद्धति के इन्हीं मौलिक सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए हम भारतीय संस्कृति की विभिन्न धाराओं का और उसकी लम्बी परम्परा का अध्ययन प्रकृत ग्रन्थ में करना चाहते हैं ।

विषय-निर्देश

ऊपर हमने भारतीय संस्कृति की विभिन्न धाराओं का उल्लेख किया है । इसका अभिप्राय यही है कि चिरन्तन काल से अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में आनेवाली भारतीय संस्कृति की धारा में, भगवती गंगा की धारा में मिलनेवाली सहायक नदियों की धाराओं के समान, तात्कालीन विशिष्ट परिस्थितियों और आवश्यकताओं से उत्पन्न होनेवाली नवीन सांस्कृतिक उपधाराओं का समावेश होता रहा है । वे उपधाराएँ मूलधारा में अपृथक्-रूप से मिलकर एक होती रही हैं । उन्होंने सतत-प्रगति-शील मूलधारा के साथ विरोध-भाव न रखकर, पूरकता के रूप में उसको समृद्ध ही बनाया है ।

उपर्युक्त दृष्टि से ही समष्टि-दृष्टि-मूलक भारतीय संस्कृति की प्रगति और विकास को दिखाने के उद्देश्य से प्रकृत ग्रन्थ के विभिन्न खण्डों का क्रम हम इस प्रकार रखना चाहते हैं—

खण्ड	विषय
प्रथम खण्ड	वैदिक धारा
द्वितीय खण्ड	औपनिषद धारा
तृतीय खण्ड	जैन धारा
चतुर्थ खण्ड	बौद्ध धारा
पंचम खण्ड	पौराणिक धारा (वर्तमान हिन्दू-धर्म)
षष्ठ खण्ड	सन्त-धारा
सप्तम खण्ड	इसलाम, ईसाइयत, आदि

अष्टम खण्ड में भारतीय संस्कृति की प्रागैतिहासिक धारा पर दृष्टि डालने के साथ-साथ वर्तमान जगत् में भारतीय संस्कृति के भावी विकास पर भी कुछ विचार करना चाहते हैं।

प्रत्येक धारा के वर्णन और विवेचन में हम साधारणतया यही क्रम रखना चाहते हैं कि उसकी साहित्यिक भूमिका की रूपरेखा को दिखलाते हुए, उसके प्रारम्भ, स्वरूप, गुणपक्ष, दोषपक्ष, भारतीय संस्कृति के लिए उसकी देन, कालान्तर में उसका शैथिल्य अथवा ह्रास, और अन्त में उसकी वर्तमान-कालीन आवश्यकताओं का विचार करें।

उन धाराओं में परस्पर अपेक्षाकृत किसका कितना महत्त्व है, इस विचार में यथासंभव हम नहीं पड़ना चाहते, क्योंकि, जैसा हम पहले कह चुके हैं, इस ग्रन्थ में हम, विभिन्न सांप्रदायिक विचारधाराओं के पारस्परिक तारतम्य या प्रतिद्वन्द्विता के स्थान में, मुख्यतः भारतीय संस्कृति की प्रगति में उनकी देन और साहाय्य को ही दिखाना चाहते हैं। राष्ट्र में एक समष्ट्यात्मक भारतीय संस्कृति की भावना का विकास और पोषण इसी प्रकार हो सकता है।

ग्रन्थ-रचना की कहानी

प्रकृत ग्रन्थ की और साथ ही उसके विशेष दृष्टिकोण के विकास की कहानी अपना महत्त्व रखती है। इसलिए यहाँ संक्षेप में उसका वर्णन करना अनुचित न होगा।

ऐसा कौन भारतवासी होगा जिसने बाल्यकाल से ही संप्रदाय, जाति-पाँति आदि की पृथक्त्व-भावनाओं के कारण अपने देश के संकीर्ण और संकुचित वातावरण का अनुभव न किया हो? लम्बे काल से संस्कृत के वातावरण में रहते हुए हमने उसको और भी उग्र रूप में देखा है। अभी कुछ वर्ष पहले सांप्रदायिक संघर्ष की धधकती हुई भीषण ज्वाला को भी देश ने देखा है, जिसमें सहस्रों निर्दोष व्यक्तियों के साथ राष्ट्रपिता को भी अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी थी। संक्षेप में, सांप्रदायिक संघर्ष, वर्ग-विद्वेष और उनसे समुत्पन्न संकुचित तथा संकीर्ण मनोवृत्ति, पृथक्त्व की भावना और लोक-व्यवहार में अन्याय्य-बुद्धि चिरकाल से भारतवर्ष की महती समस्या रही है।

इस सारी भयावह परिस्थिति को देखकर, औरों के समान ही, लेखक ने भी अनेक बार मर्मान्तिक पीडा का अनुभव किया है। उसी मर्मान्तिक पीडा की मानों तपस्या से प्रकृत ग्रन्थ की समष्टि-दृष्टि-मूलक भारतीय संस्कृति की भावना का प्रथम उद्गम कोई २० वर्ष पहले लेखक के हृदय में हुआ था। शनैः-शनैः उसका परिपाक होता रहा और अन्त में वे ही विचार शब्दमूर्त्तिधर होकर अनेक भाषणों और संस्कृत तथा हिन्दी के लेखों द्वारा प्रकट होते रहे।

१९५२ के सितम्बर मास की ६ तारीख को 'काशी विद्यापीठ' में 'समाज-विज्ञान-परिषद्' की ओर से भाषण देने के लिए आग्रह-पूर्वक निमन्त्रित होने पर **'भारतीय संस्कृति के आधार'** विषय पर लेखक ने अपना भाषण पढ़ा। प्रकृत ग्रन्थ का वास्तव में यही उपक्रम था।

भाषण को विशेष रूप से विचारोत्तेजक और रोचक कहा गया। इसी से उसे 'कल्पना' (हैदराबाद) पत्रिका में प्रकाशनार्थ भेजना उचित समझा। दिसम्बर १९५२ की 'कल्पना' में वह प्रकाशित हुआ। पाठकों ने उसे विशेष महत्त्व दिया। अनेकानेक पत्र पत्रिका के संपादक-मण्डल तथा लेखक के पास भी इसी संबन्ध में प्राप्त हुए। देहली की 'सांस्कृतिक संघ' नामक संस्था ने लेख को पुस्तिका-रूप में प्रकाशित कर उसका विस्तृत वितरण किया और चाहा कि इंग्लिश के साथ साथ देश की विभिन्न भाषाओं में भी उसका अनुवाद प्रकाशित किया जाए।

उधर 'कल्पना' के यशस्वी और उत्साही संचालक-तथा-संपादक श्री बद्रीविशाल पित्ती ने बराबर आग्रह किया कि समष्टि-दृष्टि-मूलक भारतीय संस्कृति की विचार-धारा को लेखमाला के रूप में पत्रिका में चलाया जाए।

समयाभाव से लेखमाला धीरे-धीरे ही चलती रही। 'भारतीय संस्कृति की वैदिक धारा' की समाप्ति पर यह विचार हुआ कि इसको प्रकृत ग्रन्थ के प्रथम खण्ड के रूप में प्रकाशित कर दिया जाए। श्री पित्ती जी ने प्रसन्नता-पूर्वक

इसके लिए अपनी अनुमति दे दी। इसलिए प्रकृत ग्रन्थ का, कई प्रकार से, बहुत बड़ा श्रेय श्री पित्ती जी को है। स्वभावतः हम उनके कृतज्ञ हैं।

उसी लेखमाला के आधार पर, आवश्यक परिवर्तन और परिवर्धन के साथ, '**भारतीय संस्कृति का विकास**' ग्रन्थ का यह **प्रथमखण्ड** पाठकों की सेवा में उपस्थित हो रहा है।

विशेष प्रसन्नता की बात है कि पुस्तक का प्रकाशन '**समाज-विज्ञान-परिषद्, काशी विद्यापीठ, बनारस**' जैसी प्रतिष्ठित संस्था की ओर से हो रहा है। इसके लिए हम विशेषतः अपने मित्र श्री राजाराम शास्त्री, प्राध्यापक, काशी विद्यापीठ, के कृतज्ञ हैं; क्योंकि वास्तव में उन्हीं की प्रेरणा से उक्त परिषद् इसको प्रकाशित कर रही है।

अन्त में हम 'विद्यामन्दिर प्रेस, लिमिटेड, बनारस' के अध्यक्ष श्रीकृष्णचन्द्र बेरी के भी अनुगृहीत हैं। उन्होंने पुस्तक को शुद्ध और सुन्दर छापने में यथाशक्य प्रयत्न किया है।

वैदिक-स्वाध्याय-मन्दिर,
ज्योतिराश्रम, बनारस कैंट,
माघ कृष्ण ५, २०१२
(१२।१९५६)

मङ्गलदेव शास्त्री

विषय-सूची

भूमिका-खण्ड

(परिच्छेद १—४)

पहला परिच्छेद

भारतीय संस्कृति के आधार

दूसरा परिच्छेद

भारतीय संस्कृति का दृष्टिकोण

तीसरा परिच्छेद

भारतीय संस्कृति की वैज्ञानिक विचार-पद्धति

चौथा परिच्छेद

भारतीय संस्कृति की विचारधारा का लक्ष्य

——:o:——

प्रथम खण्ड

भारतीय संस्कृति की दिकधारा

परिच्छेद ५—१

पाँचवाँ परिच्छेद

वैदिक वाङ्मय की रूपरेखा

छठा परिच्छेद

वैदिकधारा की दार्शनिक भूमिका

सातवाँ परिच्छेद

वैदिक धारा की तीन अवस्थाएँ

आठवाँ परिच्छेद

वैदिक उदात्त भावनाएँ

नवाँ परिच्छेद

वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि

दसवाँ परिच्छेद

वैदिक धारा की देन

ग्यारहवाँ परिच्छेद

वैदिक धारा का ह्रास

—:०:—

प्रथम परिशिष्ट

(क) वैदिक धारा का अमृतस्रोत

(ख) वैदिक-सूक्ति-मञ्जरी

(ग) ब्राह्मणीय-सूक्ति-मंजरी

(घ) व्रत से आत्म-शुद्धि

(ङ) ब्रह्मचर्य

—:o:—

द्वितीय परिशिष्ट

(क) संस्कृत साहित्य में ग्रन्थ-प्रणयन

(ख) वेदों का वास्तविक स्वरूप

अथवा

वेदों के महान् आदर्श

(ग) यजुर्वेद तथा वैदिक कर्मकाण्ड

(घ) वेदों के जीवन-प्रद संदेश

(ङ) भगवद्गीता का एक असाम्प्रदायिक अध्ययन

(च) वर्णभेद तथा जातिभेद का परस्पर सम्बन्ध

उद्धृत अथवा उल्लिखित

ग्रन्थों की सूची

[निम्ननिर्दिष्ट सूची में तारा-चिह्नांकित ग्रन्थों का उद्धरण या उल्लेख केवल परिशिष्ट-भाग में हुआ है।]

अथर्व-परिशिष्ट
अथर्ववेद-संहिता (शौनक-शाखा)
अमरकोष
अर्थशास्त्र (कौटिल्यकृत)
अष्टाध्यायी (पाणिनिमुनिकृत; अथवा पाणिनिसूत्र)
आपस्तम्बधर्मसूत्र (माइसोर, १८९८ ई०)
*आपस्तम्बधर्मसूत्र-टीका (माइसोर, १८९८ ई०)
आपस्तम्बयज्ञपरिभाषासूत्र
आर्यविद्यासुधाकर (डा० मङ्गलदेव शास्त्री द्वारा संपादित)
आर्योद्देश्यरत्नमाला (स्वामीदयानन्द-कृत)
आश्वलायनगृह्यसूत्र
आश्वलायनश्रौतसूत्र
उत्तररामचरित
उपवेद (आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, अर्थशास्त्र)
ऋक्सर्वानुक्रमणी
ऋग्वेद-खिल
*ऋग्वेदप्रातिशाख्य
*ऋग्वेदप्रातिशाख्यटीका (विष्णुमित्रकृत)
ऋग्वेदसंहिता (शाकलशाखा)

ऋग्वेद (सायण) भाष्योपक्रमणिका
*ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (स्वामीदयानन्द-कृत)
ऐतरेयब्राह्मण
ऐतरेयब्राह्मणपर्यालोचन (ग्रन्थकर्ता, डा० मङ्गलदेव शास्त्री, १९५०)
ऐतरेयारण्यक
ऐतरेयारण्यकपर्यालोचन (ग्रन्थकर्ता, डा० मङ्गलदेव शास्त्री, १९५३)
कठोपनिषद्
*'कल्पना' पत्रिका (हैदराबाद)
'कल्याण' पत्रिका (संस्कृति-विशेषांक)
काठकसंहिता (कृष्णयजुर्वेदीय)
काण्वसंहितासायणभाष्योपक्रमणिका
कात्यायन-श्रौतसूत्र (अच्युतग्रन्थमाला, बनारस, संवत् १९८७)
काशिका
कौषीतकि-ब्राह्मण
गीता (अथवा भगवद्गीता)
गोपथब्राह्मण (जीवानन्द विद्यासागर का संस्करण)
*गोभिलगृह्यसूत्र
*गोभिलगृह्यसूत्रभाष्य
गौतमधर्मसूत्र (पृ० १६६ पर माइसोर संस्करण, १९१७ ई०;
अन्यत्र आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला संस्करण, १९१० ई०)
चरकसंहिता
छन्दःसूत्र (पिङ्गलकृत)
छान्दोग्योपनिषद्
जैमिनीयन्यायमालाविस्तर
*तत्त्वबोधिनी (व्याकरणसिद्धान्तकौमुदी की टीका)
ताण्ड्यमहाब्राह्मण
तुलसीरामायण
तैत्तिरीयसंहिता
*तैत्तिरीयारण्यक
दुर्जनकरिपञ्चानन (रङ्गाचार्यकृत 'व्यामोहविद्रावण' का उत्तर)
धम्मपद
नाट्यशास्त्र (भरतमुनिकृत)
निघण्टु (वैदिक)

निरुक्त (यास्काचार्यकृत)
*निरुक्तटीका (दुर्गाचार्यकृत)
निर्णयसिन्धु
न्यायमञ्जरी (जयन्तभट्टकृत, बनारस, १९३६)
न्यायसूत्र (गौतमन्यायसूत्र)
न्यायसूत्रवात्स्यायनभाष्य
पाणिनिसूत्रवार्त्तिक
पाणिनीयशिक्षा
पारस्कर-गृह्यसूत्र
प्रबन्धप्रकाश, भाग २ (ग्रन्थकर्ता, डा० मङ्गलदेव शास्त्री)
प्रस्थानभेद
बृहदारण्यकोपनिषद्
बृहद्देवता ('हारवर्ड ओरिएन्टल सीरीज' १९०४)
बौधायनधर्मसूत्र (काशी संस्कृत सीरीज, १९३४ ई०)
*बौधायनधर्मसूत्रटीका (माइसोर)
भागवत (श्रीमद्भागवत)
भागवत-माहात्म्य
मध्वतन्त्रमुखमर्दन (अप्पय दीक्षित-कृत)
मध्वमतविध्वंसन ((अप्पय दीक्षित कृत)
मनुस्मृति (निर्णयसागर प्रेस का संस्करण)
मनुस्मृति पर कुल्लूकभट्ट की टीका
मन्त्र-ब्राह्मण
महाभारत (चित्रशाला प्रेस, पूना)
महाभाष्य (व्याकरणमहाभाष्य)
*महाभाष्यव्याख्या (कैयट कृत)
माध्वमुखभङ्ग (पृ० २३ पर 'चपेटिका' के स्थान में 'भङ्ग' होना चाहिए; पं० सूर्यनारायण-शुक्ल-कृत, बनारस)
माध्वमुखमर्दन (देखिए 'मध्व-तंत्र-मुखमर्दन')
मालतीमाधवटीका, जगद्धरकृत
मीमांसासूत्र (जैमिनिमुनिकृत)
(पूर्वमीमांसासूत्र, मीमांसादर्शन)
मुण्डकोपनिषद्
मैत्रायणीसंहिता (कृष्णयजुर्वेदीय)

यजुर्वेदसंहिता (शुक्ल तथा कृष्ण)
यजुर्वेदसंहिता (शुक्लयजुर्वेदीय माध्यंदिनी शाखा)
याजुषज्योतिष
योगसूत्र (पातञ्जलयोगसूत्र)
रघुवंशमहाकाव्य
रश्मिमाला, अथवा 'जीवनसंदेश-गीताञ्जलि' (ग्रन्थकर्ता, डा० मंगलदेव शास्त्री, १९५४ ई०)
वायुपुराण (संस्करण, बिब्लिओथेका इंडिका सीरीज़, कलकत्ता, १८८० ई०)
वाल्मीकिरामायण (तिलकटीकासहित; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई)
विक्रमोर्वशीय त्रोटक (कालिदासकृत)
विष्णुपुराण (पृ० ९७ पर जीवानन्दविद्यासागर का संस्करण, कलकत्ता; अन्यत्र गीताप्रेस, गोरखपुर, का संस्करण, सं० १९९०)
विष्णुपुराण की श्रीधरी व्याख्या
*वृद्धमनुस्मृति
वेदाङ्गज्योतिष (लगधाचार्यकृत)
वेदान्तसूत्र
वेदान्तसूत्र-शांकरभाष्य
वैशेषिकसूत्र
शंकरदिग्विजय (माधवाचार्य-कृत)
*शङ्ख-स्मृति
शतपथब्राह्मण
शाकुन्तलनाटक (अभिज्ञानशाकुन्तल)
श्रीगुरुग्रन्थसाहिब
*श्रीवेंकटेश्वरसमाचार, बंबई
षड्दर्शनसमुच्चय (राजशेखरसूरिकृत)
षड्दर्शनसमुच्चय (हरिभद्रसूरिकृत)
सप्तम आल् इण्डिया ओरिएण्टल कान्फ्रेंस का विवरण (Proceedings)
*संपूर्णानन्द अभिनन्दन-ग्रन्थ (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी)
Sarasvati Bhavana Studies, Vol. X, 1938
सांख्यतत्त्वकौमुदी
सांख्यसूत्र (=कापिलसांख्यसूत्र)
सामवेदसंहिता (राणायनीय शाखा)
सुश्रुतसंहिता

सूतसंहिता
स्मृतिचन्द्रिका, संस्कारकाण्ड (माइसोर, १९१८ ई०)
हरिवंशपुराण
*हिरण्यकेशि-भाष्य, महादेवकृत
*The Social History of Kāmarūpa, Vol. I, by N. N. Vasu.

:o:

संक्षिप्त संकेत

उद्धृत अथवा उल्लिखित ग्रन्थों के नाम, प्रकृत ग्रन्थ में, प्रायेण पूरे दिये हैं। कहीं-कहीं दिये गये संक्षिप्त संकेत पास में आये हुए पूरे नाम से स्वतः स्पष्ट हो जाते हैं। फिर भी निम्न-निर्दिष्ट संकेतों को यहाँ स्पष्ट कर देना उपयुक्त होगा—

अथर्व० =अथर्ववेद-संहिता (शौनक-शाखा)

ऋग्० =ऋग्वेदसंहिता (शाकल-शाखा)

यजु० =यजुर्वेदसंहिता (शुक्लयजुर्वेदीय माध्यन्दिन-शाखा)

साम० =सामवेदसंहिता (राणायनीय शाखा)

—:०:—

मातृभूमेरभिनन्दनम्

सा नो माता भारती भूर्विभासताम्

येयं देवी मधुना तर्पयन्ती
तिस्रो भूमीरुद्‌वृता द्योरुरस्थात् ।
कामान् दुग्धे विप्रकर्पत्यलक्ष्मी
मेधां श्रेष्ठां सा सदास्मासु दध्यात् ॥१॥

सर्वे वेदा उपनिषदश्च सर्वा
धर्मग्रन्थाश्चापरे निधयो यस्याः ।
मृत्योर्मर्त्यानमृतं ये दिशन्ति वै
सा नो माता भारती भूर्विभासताम् ॥२॥

यां प्रच्युतामनु यज्ञाः प्रच्यवन्ते
उत्तिष्ठन्ते ते भूय उत्तिष्ठमानाम् ।
यस्या व्रते प्रसवे धर्म एजते
सा नो माता भारती भूर्विभासताम् ॥३॥

या रक्षन्त्यनिशं प्रतिबुध्यमाना
देवा ऋषयो मुनयो ह्यप्रमादम् ।
राजर्षयोऽपि ह्यनघाः साधुवर्याः
सा नो माता भारती भूर्विभासताम् ॥४॥

महान्तोऽस्यां महिमानो निविष्टा
देवा गातुं यां क्षमन्ते न सद्यः ।
सा नो वन्द्या भ्राजसा भ्राजमाना
माता भूमिः प्रणुदतां सपत्नान् ॥५॥

अभिनन्दनमिदं पुण्यं
दिव्यभावैः समाहितम् ।
मातृभूमेः पठन्नित्य-
मात्मकल्याणमश्नुते ॥६॥

भारतीय संस्कृति की दृष्टि से मातृभूमि का अभिनन्दन

विश्वप्रसिद्ध हमारी मातृभूमि भारत देदीप्यमान हो !

१. द्युलोक से मानो अवतीर्ण,
तीनों लोकों को दिव्य माधुर्य से आपूर्ण करनेवाली,
अभिलषित कामनाओं को देनेवाली
तथा दुःख-दारिद्रय (अलक्ष्मी) को हटानेवाली,
देवीस्वरूपिणी भारत-माता
सद्विचारों की साधना में हमारी सहायक हो !

२. मनुष्यों को मृत्यु से हटाकर
अमृतत्व की प्राप्ति का उपदेश देनेवाले
समस्त वेद, उपनिषद् तथा अन्य (बौद्ध, जैन आदि) धर्म-ग्रन्थ
जिस के निधि-स्वरूप हैं,
वह विश्वप्रसिद्ध हमारी मातृभूमि भारत देदीप्यमान हो !

३. जिसका अपकर्ष संसार में
धर्माचरण के अपकर्ष का कारण होता है,
जिसके उत्कर्ष में धर्माचरण का उत्कर्ष निहित है,
जिससे धर्म की प्रेरणा प्राप्त होती है,
वह विश्वप्रसिद्ध हमारी मातृभूमि भारत देदीप्यमान हो !

४. देवगण, ऋषि, मुनि, राजर्षि
और पवित्रात्मा सन्त-महात्मागण
सावधानता तथा तत्परता से
जिसके कल्याणमय स्वरूप की निरन्तर रक्षा करते आये हैं,
वह विश्वप्रसिद्ध हमारी मातृभूमि भारत देदीप्यमान हो !

५. जिसकी महिमा महान् है,
देवगण भी जिसके स्वरूप का गान नहीं कर पाते,
समुज्ज्वल तेज से देदीप्यमान
वह सर्व-लोक-वन्दनीय हमारी मातृभूमि
विरोधी शत्रुओं को शमन (निराकरण) करनेवाली हो !

माहात्म्य

६. मातृभूमि भारत के दिव्य भावों से युक्त इस पवित्र अभिनन्दन का नित्य पाठ करने वाला मनुष्य आत्मकल्याण को प्राप्त होगा ।

---:०:---

भारतवर्ष-महिमा

सितासिते सरिते यत्र संगथे
तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति ।
ये वै तन्वं वि सृजन्ति धीरा-
स्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते ॥

(ऋग्० खिल)

अर्थात्, वैदिक और वैदिकेतर दोनों धाराएँ जिसमें समन्वित होती हैं उस भारतीय संस्कृति की धारा में स्नान करनेवाले दिव्य प्रकाश को प्राप्त होते हैं । भारतवर्ष में रहनेवाले ज्ञानी मनुष्य शरीर छोड़ने पर अमृतत्व का सेवन करते हैं ।

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

(विष्णुपुराण २।३।२४)

अर्थात्, देवगण गीतों में गान करते हैं कि जिन्होंने स्वर्ग और निःश्रेयस के मार्ग को दिखानेवाले भारतवर्ष में जन्म लिया है वे मनुष्य हम देवताओं की अपेक्षा अधिक धन्य हैं ।

अहो भुवः सप्तसमुद्रवत्या
द्वीपेषु वर्षेष्वधिपुण्यमेतत् ।

(भागवत ५।६।१३)

अर्थात्, अहो ! सात समुद्रों वाली इस पृथ्वी के समस्त द्वीपों और वर्षों में भारतवर्ष अत्यन्त पवित्र स्थान है ।

——:o:——

शुद्धाशुद्धसूची

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३	३२	तस्प	तस्य
२३	१७	-मर्दन	-भङ्ग
५४	३०	रघ्रु-	रघु-
६३	३०	मैया-	मैत्रा-
७१	२९	-मलका:	-मूलका:
९३	६	की	का
९८	२६	१।८	८
१४६	३०	प्रशन	प्रश्न
२४१	२१	बौ०	बो०
,,	२१	बौ०	बो०
,,	,,	ग्रन्थ-	ग्रन्थस्य

(ऊपर के २ शोधन माइसोर संस्करण के अनुसार हैं)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६०	१	तेनैवं	तेनैव
२६२	२९	द्वाया	द्वया
,,	,,	शुशु-	शुश्रु-
२६८	९	इमां मे	इमां

——:o:——

भूमिका-खण्ड

[परिच्छेद १–४]

पहला परिच्छेद

भारतीय संस्कृति के आधार

जिस रूप में भारतीय संस्कृति का प्रश्न आज देश के सामने है, उस रूप में उसका इतिहास अधिक प्राचीन नहीं है। तो भी यह कहा जा सकता है कि भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के अनन्तर इस पर विशेष ध्यान गया है।

वर्तमान भारत में यह प्रश्न क्यों उठा? यह विषय रुचिकर होने के साथ-साथ मनन करने के योग्य भी है। हमारे मत में तो इसका उत्तर यही है कि, विदेशीय संघटित विचारधारा तथा राजनीतिक शक्ति के आक्रमण का प्रतिरोध करने की दृष्टि से, हमारे मनीषियों ने अनुभव किया कि सहस्रों वर्षों की क्षुद्र तथा संकीर्ण साम्प्रदायिक विचार-धाराओं और भावनाओं के विघटनकारी दुष्प्रभाव को देश से दूर करने के लिए आवश्यक है कि जनता के सामने विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में एकसूत्र-रूप से व्यापक, मौलिक तथा समन्वयात्मक विचार-धारा रखी जाए। भारतीय संस्कृति की भावना को उन्होंने ऐसा ही समझा। वर्तमान भारत में भारतीय संस्कृति के प्रश्न के उठने का यही कारण हमारी समझ में आता है।

संस्कृति शब्द का अर्थ

'संस्कृति' शब्द का क्या अर्थ है? इस प्रश्न के झगड़े में हम इस समय पड़ना नहीं चाहते। सब लोग इसका कुछ-न-कुछ अर्थ समझ कर ही प्रयोग करते हैं। तो भी प्रायः निर्विवाद रूप से इतना कहा जा सकता है कि

"कस्यापि देशस्य समाजस्य वा विभिन्नजीवनव्यापारेषु सामाजिकसम्बन्धेषु वा मानवीयत्वदृष्ट्या प्रेरणाप्रदानां तत्तदादर्शानां समष्टिरेव संस्कृतिः। वस्तुतस्तस्यामेव सर्वस्यापि सामाजिकजीवनस्योत्कर्षः पर्यवस्यति। तयैव तुलया विभिन्नसभ्यतानामुत्कर्षापकर्षौ मीयेते। किं बहुना, संस्कृतिरेव वस्तुतः 'सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय" (छान्दोग्योपनिषद् ८।४।१) इत्येवं वर्णयितुं शक्यते। अत एव च

सर्वेषां धर्माणां संप्रदायानामाचाराणां च परस्परं समन्वयः संस्कृतेरेवाधारेण कर्तुं शक्यते।" (प्रबन्धप्रकाश, भाग २, पृ० ३)।

इसका अभिप्राय यही है कि किसी देश या समाज के विभिन्न जीवन-व्यापारों में या सामाजिक सम्बन्धों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले उन-उन आदर्शों की समष्टि को ही संस्कृति समझना चाहिए। समस्त सामाजिक जीवन की समाप्ति संस्कृति में ही होती है। विभिन्न सभ्यताओं का उत्कर्ष तथा अपकर्ष संस्कृति द्वारा ही नापा जाता है। उसके द्वारा ही लोगों को संघटित किया जाता है। इसीलिए संस्कृति के आधार पर ही विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों और आचारों का समन्वय किया जा सकता है।

विद्वानों का इस विषय में ऐकमत्य ही होगा कि ऊपर के अर्थ में 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग प्रायः बिलकुल नया ही है।

भारतीय संस्कृति के विषय में विभिन्न दृष्टियाँ

संस्कृति के विषय में सामान्य रूप से उपर्युक्त विचार के होने पर भी, **भारतीय संस्कृति की भावना के विषय में** बड़ी गड़बड़ दिखायी देती है। इस विषय में देश के विचारकों की प्रायः परस्पर विरुद्ध या विभिन्न दृष्टियाँ दिखायी देती हैं।

इस विषय में **अत्यन्त संकीर्ण दृष्टि** उन लोगों की है, जो परम्परागत **अपने-अपने धर्म या सम्प्रदाय को** ही 'भारतीय संस्कृति' समझते हैं। संस्कृति के जिस व्यापक या समन्वयात्मक रूप की हमने ऊपर व्याख्या की है, उसकी ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता है। 'कल्याण' पत्रिका ने कुछ वर्ष पहले एक **'संस्कृति-विशेषांक'** निकाला था। उसमें लेख लिखने वाले अधिकतर ऐसे ही सज्जन थे, जिनको कदाचित् यह भी स्पष्ट नहीं था कि प्राचीन 'धर्म', 'सम्प्रदाय', 'सदाचार' आदि शब्दों के रहने पर भी देश में 'संस्कृति' शब्द के इस समय प्रचलन का मुख्य लक्ष्य क्या है?

दूसरी दृष्टि उन लोगों की है, जो भारतीय संस्कृति को, भारतान्तर्गत समस्त सम्प्रदायों में व्यापक न मान कर, कुछ विशिष्ट सम्प्रदायों से ही संबद्ध मानते हैं। इस दृष्टि वाले लोग यद्यपि उपर्युक्त पहली दृष्टि वालों से काफ़ी अधिक उदार हैं, तो भी देखना तो यह है कि उपर्युक्त विचार-धारा से प्रभावित भारतीय संस्कृति में वर्तमान भारत की कठिन सांप्रदायिक समस्याओं के समाधान की, तथा साथ ही संसार की सतत प्रगतिशील विचार-धारा के साथ भारतवर्ष को आगे बढ़ाने की कहाँ तक क्षमता है। यदि नहीं, तब तो यही प्रश्न उठता है कि कहीं भारतीय संस्कृति के इस नवीन आन्दोलन से देश को लाभ के स्थान में हानि ही न उठानी पड़े? हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ ही दिनों पहले तक सबसे सम्मानित 'भारतीय संस्कृति' शब्द उपर्युक्त विचार-धारा के कारण ही अब अपने पद से नीचे गिरने लगा है।

तीसरी दृष्टि उन लोगों की है जो भारतीय संस्कृति को, देश के किसी विशिष्ट एक या अनेक संप्रदायों से परिमित या बद्ध न मान कर, समस्त संप्रदायों में एकसूत्र-रूप से व्यापक, अतएव सब के अभिमान की वस्तु, काफ़ी लचीली, और सहस्रों वर्षों से भारतीय परम्परा से प्राप्त संकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाओं और विषमताओं के विष को दूर करके राष्ट्र में एकात्मता की भावना को फैलाने का एकमात्र साधन समझते हैं। स्पष्टतः इसी दृष्टि से भारतीय संस्कृति की भावना देश की अनेक विषम समस्याओं के समाधान का एकमात्र साधन हो सकती है।

दूसरी ओर, **लक्ष्य या उद्देश्य की दृष्टि से भी**, भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में लोगों में विभिन्न धारणाएँ फैली हुई हैं। कोई तो इसको **प्रतिक्रियावादिता** या **पश्चाद्गामिता** का ही पोषक या समर्थक समझते हैं। संस्कृति-रूपी नदी की धारा सदा आगे को ही बहती है, इस मौलिक सिद्धान्त को भूल कर वे प्रायः यही स्वप्न देखते हैं कि भारतीय संस्कृति के आन्दोलन के सहारे हम भारतवर्ष की सहस्रों वर्षों की प्राचीन परिस्थिति को फिर से वापिस ला सकेंगे। पश्चाद्गामिता की इसी विचार-धारा के कारण देश का एक बड़ा प्रभाव-संपन्न वर्ग भारतीय संस्कृति की भावना का घोर विरोधी हो उठा है, या कम-से-कम उसको सन्देह की दृष्टि से देखने लगा है।

दूसरे वे लोग हैं, जो भारतीय संस्कृति को देश के परस्पर-विरोधी तत्त्वों को मिलाने वाली, गंगा की सतत अग्रगामिनी तथा विभिन्न धाराओं को आत्मसात् करने वाली धारा के समान ही सतत प्रगति-शील, और स्वभावतः समन्वयात्मक समझते हैं। प्राचीन परम्परा से जीवित सम्बन्ध रखते हुए वह सदा आगे ही बढ़ेगी। इसीलिए उसे संसार के किसी भी वस्तुतः प्रगतिशील वाद से न तो कोई विद्वेष हो सकता है, न भय।

उपर्युक्त विभिन्न विचार-धाराओं के प्रभाव के कारण ही **भारतीय संस्कृति के आधार के विषय में भी** विभिन्न मत प्रचलित हो रहे हैं।

साम्प्रदायिक दृष्टिकोण

इस सम्बन्ध में जनता में सबसे अधिक प्रचलित मत विभिन्न संप्रदायवादियों के हैं। लगभग दो-ढाई सहस्र वर्षों से इन्हीं संप्रदायवादियों का बोलबाला भारत में रहा है। इन संप्रदायों के मूल में जो आर्थिक, जातिगत, समाजगत या राज-नीतिक कारण थे, उनका विचार यहाँ हम नहीं करेंगे। तो भी इतना कहना अप्रासंगिक न होगा कि इस दो-ढाई सहस्र वर्षों के काल में भी भारतवर्ष की राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों में इन संप्रदायवादियों का काफ़ी हाथ रहा है।

अपने-अपने संप्रदाय तथा परम्परा को ही प्रायः सृष्टि के प्रारम्भ से ब्रह्मा, शिव आदि द्वारा प्रवर्तित कहने वाले, तथा अपने से भिन्न संप्रदायों को

अपने से हीन कहने वाले, इन लोगों के मन में तो 'विशुद्ध' भारतीय संस्कृति का आधार उनके ही संप्रदाय के प्रारम्भिक रूप में ढूंढना चाहिए।

ये लोग अपने-अपने संप्रदाय से अनन्तर-भावी या भिन्न संप्रदायों को प्रायः अपने मौलिक धर्म का विकृत या बिगड़ा हुआ रूप ही समझते हैं।

उदाहरणार्थ, **मनुस्मृति** के—

> **चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।**
> **भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।।** (१२।९७)
> **या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।**
> **सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः।।**
> **उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।**
> **तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च।।** (१२।९५-९६)

(अर्थात्, चातुर्वर्ण्य और चारों आश्रमों के साथ-साथ भूत, वर्तमान और भविष्य तथा तीनों लोकों का परिज्ञान वेद से ही होता है। वेद-बाह्य जो भी स्मृतियाँ या संप्रदाय हैं, वे तमोनिष्ठ तथा नवीन होने के कारण निष्फल और मिथ्या हैं।) इत्यादि वचन, युगों के क्रम से धर्म के ह्रास की कल्पना[1], **मनुस्मृति** जसे ग्रन्थों में शूद्रराज्य की बिभीषिका, पुराणों में "**नन्दान्तं क्षत्रियकुलम्**" (अर्थात् नन्दों के अनन्तर वैदिक संप्रदाय के पोषक 'क्षत्रिय' राजाओं का अन्त), धर्मशास्त्रों में चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त के साथ-साथ संकरज जातियों की स्थिति की कल्पना, इत्यादि समस्त विचार-धारा उन्हीं संप्रदायवादियों का प्रतीक है, जो भारतीय संस्कृति को प्रगतिशील और समन्वयात्मक न मान कर केवल अपने-अपने संप्रदाय में ही अपनी विचारधारा को बद्ध रखते रहे हैं।

एकमात्र शब्द-प्रमाण की प्रधानता, असहिष्णुता की भावना और भारत के वर्तमान या ऐतिहासिक स्वरूप के समझने में वैज्ञानिक समष्टि-दृष्टि का अभाव—इन बातों में ही इन लोगों का मुख्य वैशिष्टय दीख पड़ता है।

यह विचित्र-सी बात है कि हमारे कुछ आधुनिक इतिहास-लेखक तथा विचारक भी इस (बुद्धि-पूर्वक या अबुद्धि-पूर्वक) पूर्वग्रह से शून्य नहीं हैं। सांप्रदायिक या जातिगत पूर्वग्रह के कारण वे भारतीय संस्कृति के इतिहास के अध्ययन में समष्टि-दृष्टि न रख कर, प्रायः एकांगी दृष्टि से ही काम लेते रहे हैं। केवल बौद्धों आदि पर भारत के अधःपतन का दोष मढ़ना, ऐसे ही लोगों का काम है।

---

१. तु० "**चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।... इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः। चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः।।**" (मनु० १।८१—८२)

ऐतिहासिक गवेषणा में हमारी एकांगी दृष्टि का एक मुख्य कारण यह होता है कि हम प्रायः अपनी दृष्टि को संस्कृत साहित्य में ही परिमित कर देते हैं। पर **संस्कृत साहित्य में** कितनी अधिक **एकांगिता** है, इसका ज्वलन्त प्रमाण इसी से मिल जाता है कि बौद्धकालीन उस इतिहास का भी, जिसको हम भारत का स्वर्ण-युग कह सकते हैं, संस्कृत साहित्य में प्रायः उल्लेख ही नहीं है। **'व्याकरण-महाभाष्य'** में **पाणिनि आचार्य** के **"येषां च विरोधः शाश्वतिकः"** (अष्टाध्यायी २।४।९) (अर्थात्, जिनमें परस्पर शाश्वतिक विरोध होता है, उनके वाचक शब्दों का द्वन्द्व समास एकवचन में रहता है) इस सूत्र का एक उदाहरण **'श्रमण-ब्राह्मणम्'** दिया है। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि कम से कम ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व से ही श्रमणों (अर्थात् बौद्धों) और ब्राह्मणों में सर्प और नकुल जैसी शत्रुता रहने लगी थी। संस्कृत साहित्य की उपर्युक्त एकांगिता के मूल में ऐसे ही कारण हो सकते हैं।

यही बात संस्कृतेतर भारतीय साहित्यों के विषय में भी कही जा सकती है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

भारतीय संस्कृति के आधार के विषय में **उपर्युक्त सांप्रदायिक तथा एकांगी दृष्टि के मुक़ाबले में आधुनिक विज्ञान-मूलक ऐतिहासिक दृष्टि है।** इसके अनुसार भारतीय संस्कृति को उसके उपर्युक्त अत्यन्त व्यापक अर्थ में लेकर, उसको स्वभावतः प्रगतिशील तथा समन्वयात्मक मानते हुए, वैदिक परम्परा के संस्कृत साहित्य के साथ बौद्ध-जैन साहित्य तथा सन्तों के साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन, मूक जनता के अनंकित विश्वासों और आचार-विचारों के परीक्षण[1], और भाषा के साथ-साथ पुरातत्त्व-सम्बन्धी ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक साक्ष्य के अनुशीलन द्वारा, समष्टि-दृष्टि से, भारतीय संस्कृति के आधारों का अनुसन्धान किया जाता है।

उपर्युक्त दोनों दृष्टियों में किसका कितना मूल्य है, यह कहने की बात नहीं है। स्पष्टतः उपर्युक्त वैज्ञानिक दृष्टि से ही हम भारतीय संस्कृति के उस समन्वयात्मक तथा प्रगतिशील स्वरूप को समझ सकते हैं, जिसको हम वर्तमान

---

१. यहाँ आपस्तम्ब-धर्मसूत्र के निम्न-लिखित सूत्रों को देखिए—**"सा निष्ठा या विद्या स्त्रीषु शूद्रेषु च।"** (निष्ठा=विद्यासमाप्तिः—टीका)। **"स्त्रीभ्यः सर्ववर्णेभ्यश्च धर्मशेषान् प्रतीयादित्येके।"** (२।२९।११, १५)। इनसे स्पष्ट है कि धर्म के समान ही संस्कृति के भी वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए हमारी दृष्टि का क्षेत्र पर्याप्त रूप से विस्तृत होना चाहिए।

भारत के सामने रख सकते है और **जिससे भारत के विभिन्न संप्रदायों और वर्गों को समत्व की भावना हो सकती है।** यहाँ हम इसी दृष्टि से, संक्षेप में ही, भारतीय संस्कृति के आधारों की विवेचना करना चाहते हैं।

भारतीय संस्कृति के मौलिक आधार

भारतीय संस्कृति के आधार के विषय में उपर्युक्त **समन्वय-मूलक दृष्टि** का क्षेत्र यद्यपि आज के वैज्ञानिक युग में अत्यधिक व्यापक और विस्तृत हो गया है, तो भी यह दृष्टि नितरां नवीन-कल्पना-मूलक है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। भारतवर्ष के ही विद्वानों की परम्परागत प्राचीन मान्यताओं में इस दृष्टि की पुष्टि में हमें पर्याप्त आधार मिल जाता है। उदाहरणार्थ, संस्कृत के विद्वानों से छिपा नहीं है कि वर्तमान पौराणिक हिन्दू धर्म के लिए **निगमागम-धर्म** नाम पंडितों में प्रसिद्ध है। अनेक सुप्रसिद्ध ग्रन्थकारों के लिए, उनकी प्रशंसा के रूप में, 'निगमागमपारावारपारदृश्वा' कहा गया है। इसका अर्थ स्पष्टतः यही है कि परम्परागत पौराणिक हिन्दू धर्म का आधार केवल 'निगम' (या वेद) न होकर, '**आगम**' भी है। दूसरे शब्दों में, वह निगम-आगम-धर्मों का समन्वित रूप है। यहाँ 'निगम' का **मौलिक** अभिप्राय, हमारी सम्मति में, निश्चित या व्यवस्थित वैदिक परम्परा से है; और 'आगम' का **मौलिक** अभिप्राय प्राचीनतर प्राग्वैदिक काल [illegible] या सांस्कृतिक परम्परा से है। 'निगमागम-धर्म [illegible]। यहाँ तो हमें केवल यही दिखाना है कि प्राचीन भारतीय विद्वानों की भी अस्पष्ट रूप से यह भावना थी कि भारतीय संस्कृति का रूप समन्वयात्मक है।

इसके अतिरिक्त, साहित्य आदि के स्वतन्त्र साक्ष्य से भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं। सबसे पहले हम वैदिक संस्कृति से भी प्राचीनतर प्राग्वैदिक जातियों और उनकी संस्कृति के विषय में ही कुछ साक्ष्य उपस्थित करना चाहते हैं।

वैदिक साहित्य को ही लीजिए। **ऋग्वेद** में वैदिक देवताओं के प्रति विरोधी भावना रखने वाले दासों या दस्युओं के लिए स्पष्टतः 'अयज्यवः'[1] या 'अयज्ञाः'[1] (=वैदिक यज्ञ-प्रथा को न मानने वाले), 'अनिन्द्राः'[2] (=इन्द्र को न मानने वाले) कहा गया है। इन्द्र को इन दस्युओं की सैकड़ों 'आयसीः पुरः'[3] (=लोहमय या लोहवत् दृढ़ पुरियों) को नाश करने वाला कहा गया है।

---

१. देखिए—"न्यक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणीँरश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्। प्रप्र तान् दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून्॥" (ऋग्० ७।६।३)

२. देखिए—"किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः" (ऋग्० १०।४८।७)

३. देखिए—"हत्वी दस्यून् पुर आयसीर्नि तारीत्" (ऋग्० २।२०।८)

अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त के "यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्" (१२।१।५) (अर्थात्, जिस पृथ्वी पर पुराने लोगों ने विभिन्न प्रकार के कार्य किये थे और जिस पर देवताओं ने 'असुरों' पर आक्रमण किये थे) इस मन्त्र में स्पष्टतः प्राग्वैदिक जाति का उल्लेख है।[1]

भारतीय सभ्यता की परम्परा में 'देवों' की अपेक्षा 'असुरों' का पूर्ववर्ती होना और प्रमाणों से भी सिद्ध किया जा सकता है। संस्कृत भाषा के कोषों[2] में असुरवाची 'पूर्वदेवाः' शब्द से भी यही सिद्ध होता है।

बौधायन-धर्मसूत्र में ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के विषय में विचार करते हुए स्पष्टतः कहा है—

"ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः....तत्रोदाहरन्ति।
प्राह्लादिर्ह वै कपिलो नामासुर आस।
स एतान् भेदांश्चकार...तान् मनीषी नाद्रियेत।"
(बौधायन-धर्मसूत्र २।११।२९-३०)

अर्थात्, आश्रमों का भेद प्रह्लाद के पुत्र कपिल नामक असुर ने किया था।

पुराणों तथा वाल्मीकिरामायण आदि में भारतवर्ष में ही रहने वाली यक्ष, राक्षस, विद्याधर, नाग आदि अनेक अवैदिक जातियों का उल्लेख मिलता है। जिस प्रकार इन जातियों की स्मृति और स्वरूप साहित्य में क्रमशः अस्पष्ट और मन्द पड़ते गये हैं, यहाँ तक कि अन्त में इनको 'देवयोनि-विशेष' [तु० "विद्याधराप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः। पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः॥" (अमरकोष १।१।११)] मान लिया गया, इससे यही सिद्ध होता है कि ये प्रागैतिहासिक जातियाँ थीं, जिनको क्रमशः हमारी जातीय स्मृति ने भुला दिया। अग्रवालों आदि की अनुश्रुति में भी 'नाग' आदि प्रागैतिहासिक जातियों का उल्लेख मिलता है।

पुराणों में शिव का जैसा वर्णन है, वह ऋग्वेदीय रुद्र के वर्णन से बहुत-कुछ भिन्न है। ऋग्वेद का रुद्र केवल एक अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता है। उसका यक्ष, राक्षस आदि के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है। परन्तु पौराणिक शिव की तो एक विशेषता यही है कि उसके गण भूत, पिशाच आदि ही माने गये हैं। वह राक्षस और असुरों का खास तौर पर उपास्य देव है। इससे यही सिद्ध होता

---

१. और भी देखिए—"येन देवा असुरान् प्राणुदन्त" (अथर्व० ९।२।१७)।, "सासुरानागच्छत्......। तस्या विरोचनः प्राह्लादिर्वत्स आसीत्......" (अथर्व० ८।१३।१-२)

२. तु० "असुरा दैत्यदैतेयदनुजेन्द्रारिदानवाः। शुक्रशिष्या दितिसुताः पूर्वदेवाः सुरद्विषः॥ (अमरकोष १।१।१२)

है कि शिव अपने मूल रूप में एक प्राग्वैदिक देवता था, जिसका पीछे से शनैः-शनैः वैदिक रुद्र के साथ एकीभाव हो गया।

वैदिक तथा प्रचलित **पौराणिक उपास्य देवों और कर्मकाण्डों** की पारस्परिक तुलना करने से भी हम बरबस इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्रचलित हिन्दू देवताओं और कर्मकाण्ड पर एक वैदिकेतर, और बहुत अंशों में प्रागैतिहासिक, परम्परा की छाप है।

प्राचीन वैदिक धर्म की अपेक्षा पौराणिक धर्म में **उपास्यदेवों** की संख्या बहुत बढ़ गयी है। **वैदिक धर्म** के अनेक देवता (जैसे ब्रह्मणस्पति, पूषा, भग, मित्र, वरुण, इन्द्र) या तो **पौराणिक धर्म** में प्रायः विलुप्त ही हो गये है या अत्यंत गौण हो गये हैं। पौराणिक धर्म के गणेश, शिव, शक्ति और विष्णु ये मुख्य देवता हैं। वेद में इनका स्थान या तो गौण है या है ही नही। अनेक वैदिक देवताओं (जैसे विष्णु, वरुण, शिव) का पौराणिक धर्म में रूपान्तर ही हो गया है। भैरव आदि ऐसे भी पौराणिक धर्म के अनेकानेक देवता हैं, जिनका वैदिक धर्म में कोई स्थान ही नहीं है।

पौराणिक देव-पूजा-पद्धति भी **वैदिक पूजा-पद्धति** से नितरां भिन्न है। पौराणिक कर्मकाण्ड में धूप, दीप, पुष्प, फल, पान, सुपारी आदि की पदे-पदे आवश्यकता होती है। वैदिक कर्मकाण्ड में इनका अभाव ही है।

वैदिक धर्म से प्रचलित पौराणिक धर्म के इस महान् परिवर्तन को हम वैदिक तथा वैदिकेतर (या प्राग्वैदिक) परम्पराओं के एक प्रकार के समन्वय से ही समझ सकते हैं।

इसी प्रकार हमारी संस्कृति की परम्परा में विचारधाराओं के कुछ ऐसे **परस्पर-विरोधी द्वन्द्व** हैं, जिनको हम वैदिक और वैदिकेतर धाराओं के साहाय्य के बिना प्रायः नहीं समझ सकते। ऐसे ही कुछ द्वन्द्वों का संकेत हम नीचे करते हैं :—

१. कर्म और संन्यास।

२. संसार और जीवन का उद्देश्य हमारा उत्तरोत्तर विकास है। उत्तरोत्तर विकास का ही नाम अमृतत्व है।[1] यही निःश्रेयस है।

इसके स्थान में—

संसार और जीवन दुःखमय हैं। अतएव हेय हैं। इनसे मोक्ष या छुटकारा पाना ही हमारा ध्येय होना चाहिए।

---

१. तुलना कीजिए:—"उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।" (यजु० २०।२१), "तमसो मा ज्योतिर्गमय" (बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।२८), "जीवा ज्योतिरशीमहि" (ऋग्० ७।३२।२६), "यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।....तत्र माममृतं कृधि॥" (ऋग्० ९।११३।११) इत्यादि।

३. ज्योतिर्मय लोकों की प्रार्थना और नरकों[1] का निरन्तर भय।

इन द्वन्द्वों में **पहला पक्ष** स्पष्टतया वैदिक संस्कृति के आधार पर है। **दूसरे पक्ष** का आधार, हमारी समझ में, वैदिकेतर ही होना चाहिए।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारतवर्ष की प्राचीनतर वैदिकेतर संस्कृति या संस्कृतियों में ही दूसरे पक्षों की जड़ होनी चाहिए। ऊपर संन्यासादि आश्रमों की उत्पत्ति के विषय में जो **बौधायन-धर्मसूत्र** का उद्धरण हमने दिया है, उससे भी यही सिद्ध होता है। ऐसा होने पर भी, हमारे देश के सारे अध्यात्म-शास्त्र तथा दर्शन-शास्त्र का आधार ये ही द्वितीय पक्ष की धारणाएँ हैं। ये धारणाएँ अवैदिक हैं, यह सुन कर हमारे अनेक भाई चौंक उठेंगे। पर हमारे मत में तो वस्तु-स्थिति यही दीखती है। आगे चलकर (परिच्छेद ६ और ९ में) इन विषयों पर हम विशेष विचार करेंगे।

इन्हीं दो प्रकार की विचार-धाराओं को, बहुत अंशों में, हम क्रमशः **ऋषि-संप्रदाय** और **मुनि-संप्रदाय** भी कह सकते हैं। 'ऋषि' तथा 'मुनि' शब्दों के **मौलिक** प्रयोगों के आधार पर हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं। 'मुनि' शब्द का प्रयोग भी वैदिक-संहिताओं में बहुत ही कम हुआ है। होने पर भी उसका 'ऋषि' शब्द से कोई संबंध नहीं है।[2]

ऋषि-संप्रदाय और मुनि-संप्रदाय के संबंध में, संक्षेप में, हम इतना ही यहाँ कहना चाहते हैं कि दोनों की दृष्टियों में हमें महान् भेद प्रतीत होता है। जहाँ एक का झुकाव (आगे चलकर) हिंसा-मूलक मांसाहार और तन्मूलक असहिष्णुता

---

१. 'नरक' शब्द ऋग्वेद-संहिता, शुक्लयजुर्वेद-वाजसनेयि-माध्यन्दिन-संहिता, तथा सामवेद-संहिता में एक बार भी नहीं आया है। अथर्ववेद-संहिता में 'नारक' शब्द केवल एक बार प्रयुक्त हुआ है।

२. 'ऋषि' शब्द का मौलिक अर्थ मन्त्र-द्रष्टा है। तु० **"ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः"** (निरुक्त २।११)। वैदिक वाङ्मय में 'ऋषि' शब्द का यही अर्थ है। 'मुनि' शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नहीं होता। **"दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतराग-भयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥"** (गीता २।५६) इत्यादि प्रमाणों के अनुसार 'मुनि' शब्द के साथ ज्ञान, तप, योग, वैराग्य जैसी भावनाओं का गहरा संबंध है। जैन साहित्य में 'मुनि' शब्द का ही अधिक प्रयोग हुआ है। हाँ, पुराण आदि में, जिनका आधार वैदिक तथा वैदिकेतर धाराओं के समन्वय पर है, उक्त दोनों शब्दों का प्रयोग मिले-जुले अर्थ में पीछे से होने लगा था, जो स्वाभाविक ही था।

की ओर रहा है; वहाँ दूसरी का अहिंसा तथा तन्मूलक निरामिषता[1] तथा विचार-सहिष्णुता (अथवा अनेकान्तवाद) की ओर रहा है। जहाँ एक की परम्परा में वेदों को सुनने के कारण ही शूद्रों के कान में राँगा पिलाने का विधान है[2]; वहाँ दूसरी परंपरा ने संसार भर के, शूद्रातिशूद्र के भी, हित की दृष्टि से बौद्ध, जैन, तथा सन्त सम्प्रदायों को जन्म दिया है। इनमें एक मूल में **वैदिक**, और दूसरी मूल में **प्राग्वैदिक** प्रतीत होती है।

४. इसी प्रकार हमारे समाज में **वर्ण** और **जाति** के आधार पर सामाजिक भेदों का जो द्वैविध्य दीखता है, वह भी एक ऐसा ही द्वन्द्व प्रतीत होता है।

५. **पुरुषविध** देवताओं के साथ-साथ **स्त्रीविध** देवताओं की पूजा, उपासना भी इसी प्रकार के द्वन्द्वों में से एक है।

६. हम एक और द्वन्द्व का उल्लेख करके अपने उपसंहार की ओर आते हैं। वह द्वन्द्व ग्राम और नगर का है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि जहाँ '**ग्राम**' शब्द वैदिक संहिताओं में अनेकत्र आया है, वहाँ '**नगर**' का प्रयोग हमें एक बार भी नहीं मिला। वैदिक साहित्य और धर्मसूत्रों में भी वैदिक सभ्यता ग्राम-प्रधान दीखती है। दूसरी ओर, नगरों के निर्माण में **मय** जैसे असुरों का उल्लेख पुराणों आदि में मिलता है। नगरों के साथ ही नागरिक शिल्प और कला-कौशल का विचार संबद्ध है। यह विचारणीय बात है कि वैदिक संस्कृति के वाहक ऊपरी तीनों वर्णों में कलाकौशल और शिल्प का कोई स्थान नहीं है। इन कामों को करने वालों की तो ये लोग '**शूद्रों**' में गणना करते हैं।[3] इस प्रवृत्ति की व्याख्या हमारी समझ में उपर्युक्त ग्राम तथा नगर के द्वन्द्व में, जो कि वैदिक और प्राग्वैदिक परिस्थितियों की ओर संकेत करता है, मिल सकती है।

उपसंहार

ऊपर के अनुसन्धान से यह स्पष्टतया प्रतीत हो जाता है कि भारतीय संस्कृति के **मौलिक आधारों** के विचार में हम उसकी प्रधान प्रवृत्तियों को, जिनमें अनेक परस्पर-विरोधिनी द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तियाँ भी हैं, कभी नहीं समझ सकते, जब तक हम यह न मान लें कि उनके निर्माण और विकास में वैदिक धारा के साथ-साथ वैदिकेतर या प्राग्वैदिक धारा या धाराओं का भी बड़ा भारी हाथ रहा है। उन धाराओं के समन्वय में ही हमें उन **मौलिक आधारों** को ढूँढ़ना होगा।

---

१. तु० **"चतुर्दश हि वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने। कन्द-मूलफलैर्जीवन् हित्वा मुनिवदामिषम्॥"** (वाल्मीकिरामायण २।२०।२९)।

२. देखिए—**"अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः"** (गौतमधर्मसूत्र २।३।४)।

३. तु० **"शिल्पाजीवं भृतिं चैव शूद्राणां व्यदधात्प्रभुः"** (वायुपुराण ८।१६३)।

वैदिक संस्कृति के समान ही वह प्राग्वैदिक संस्कृति भी हमारे अभिमान और गर्व का विषय होनी चाहिए। 'आर्यत्व' के अभिमान के पूर्वग्रह से युक्त, और भारत में अपने साथ सहानुभूति का वातावरण उत्पन्न करने की इच्छा से प्रवृत्त यूरोपीय ऐतिहासिकों के प्रभाव से उत्पन्न हुई यह धारणा, कि भारतीय संस्कृति या सभ्यता का इतिहास केवल वैदिक काल से प्रारम्भ होता है, हमें बरबस छोड़नी पड़ेगी। भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिकता, त्याग की भावना, पारलौकिक भावना, अहिंसावाद जैसी प्रवृत्तियों की जड़, जिनके वास्तविक और संयत रूप का हमको गर्व हो सकता है, हमको वैदिक संस्कृति की तह से नीचे तक जाती हुई मिलेगी।

वैदिक संस्कृति का बहुत ही बड़ा महत्त्व है (जैसा कि आगे चलकर हम दिखलाएँगे), तो भी भारतीय जनता के समुद्र में उसका स्थान सदा से एक द्वीप जैसा रहा है। मूक जनता की अवस्था के अध्ययन से तथा महाराष्ट्र आदि प्रदेशों में जनता के साथ वैदिकों की गहरी पृथक्ता की नीति से यही सिद्धान्त निकलता है।

वैदिक और प्राग्वैदिक संस्कृतियों का समन्वय

वैदिक और प्राग्वैदिक संस्कृतियों का उक्त समन्वय अदृष्टविधया बहुत प्राचीन काल से ही प्रारम्भ हो गया था। परस्पर आदान-प्रदान से दोनों धाराएँ आगे बढ़ती हुई अन्त में पौराणिक हिन्दू धर्म के रूप में समन्वित होकर आपाततः एक धारा में ही विकसित हुईं। इस समन्वय का प्रभाव धर्म, आचार-विचार, भाषा, और रक्त तक पर पड़ा। इसके प्रमाणों की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

इसी समन्वय को दृष्टि में रख कर, जैसा हमने ऊपर कहा है, **निगमागम धर्म** नाम की प्रवृत्ति हुई। इसी के आधार पर सनातनी विद्वान् बहुत ही ठीक कहते हैं कि हमारे धर्म का आधार केवल 'श्रुति' न होकर **श्रुति-स्मृति-पुराण** हैं।

पौराणिक अनुश्रुति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस समन्वय में बहुत बड़ा काम **भगवान् व्यास** का था। अपने समय में पुराणों के **'संग्रह'** या **'संपादन'** में उनका बड़ा हाथ था—यही पौराणिक प्रसिद्धि है। 'पुराण' शब्द का अर्थ ही उपर्युक्त प्राग्वैदिक संस्कृति की ओर निर्देश करता है[1]। उनका सहयोग

---

१. अथर्ववेद (१५।६।११-१२) में 'पुराण' शब्द का प्रयोग 'इतिहास' शब्द के साथ में हुआ है। जैसे—**"तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यच-लन् ॥११॥ इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥१२॥** यहाँ स्पष्टतया 'पुराण' शब्द प्राग्वैदिक धारा की ओर ही संकेत करता है। इसी प्रसङ्ग में वायुपुराण (१।५४) को भी देखिए—**"प्रथमं सर्वशास्त्राणां पुराणं ब्रह्मणा स्मृतम्। अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः॥"** यहाँ स्पष्टतया कहा गया है कि ब्रह्मा से पहले पुराण (विषय की दृष्टि से) की सृष्टि हुई, और तत्पश्चात् वेदों की।

उस समय के अनेकानेक 'ऋषि-मुनियों' ने किया होगा, जिनमें से अनेकों की धमनियों में व्याम के सदृश ही दोनों संस्कृतियों का रक्त बह रहा था और प्रायः इसीलिए उनका विश्वास दोनों संस्कृतियों के समन्वय में था।

यह समन्वित पौराणिक संस्कृति, जो कि बहुत अंशों में वर्तमान भारतीय संस्कृति के मेरुदण्ड के समान है, न तो केवल वैदिकेतर ही कही जा सकती है; न उसको हम यूरोपीय विद्वानों के अभिप्राय से **'आर्य-संस्कृति'** या **'अनार्य-संस्कृति'** ही कह सकते हैं। उसकी तो समान रूप से उपर्युक्त दोनों धाराओं में सम्मान की दृष्टि होनी चाहिए। यही सनातन धर्म की दृष्टि है। इसलिए यूरोपीय प्रभाव से हमारे देश के कुछ लोगों में आर्य, अनार्य, वैदिक, अवैदिक शब्दों को लेकर जो एक प्रकार का क्षोभ उत्पन्न होता है, वह वास्तव में निराधार और अहेतुक है।

समन्वित धारा की प्रगति और विकास

गंगा-यमुना-रूपी वैदिक तथा वैदिकेतर धाराओं के संगम से बनी हुई भारतीय संस्कृति की यह धारा अपने 'ऐतिहासिक' काल में भी स्वभावतः स्थिर तथा एक ही रूप में नहीं रह सकती थी। इस काल में भी वह तत्कालीन विशिष्ट परिस्थितियों और आवश्यकताओं से उत्पन्न होने वाली नवीन धाराओं से प्रभावित होती हुई और क्रमशः उन धाराओं को **आत्मसात्** करती हुई, नवीनतर गम्भीरता, विस्तार और प्रवाह के साथ, आगे बढ़ती रही है।

वैदिक और वैदिकेतर संस्कृतियों का प्रारम्भिक समन्वय केवल नाममात्र में ही था। उन दोनों के अनेकानेक स्वार्थों और बद्धमूल परम्पराओं के कारण अनेक प्रकार के वैषम्य, गंगा की धारा में प्रारम्भ में बहते हुए परस्पर टकराने वाले टेढ़े-मेढ़े शिलाखण्डों के समान, चिरकाल तक संयुक्त धारा में भी वर्तमान रहे। परस्पर संघर्ष के द्वारा ही उन्होंने अपनी विषमता के रूप को धीरे-धीरे दूर किया है और भारतीय संस्कृति की धारा की महिमा को बढ़ाया है। यह क्रिया अब भी जारी है और जारी रहेगी। इसी में भारतीय संस्कृति की प्रगतिशीलता है।

उपर्युक्त वैषम्यों में एक बड़ा भारी वैषम्य उस बड़ी भारी मानवता के कारण था, जिसको उस समय की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों ने सब प्रकार से दलित कर रखा था। भारतवर्ष के आगे के इतिहास में पारस्परिक घात-प्रतिघातों द्वारा उत्पन्न होनेवाले जैन, बौद्ध, वैष्णव और सन्त आदि आन्दोलनों की उत्पत्ति और प्रसार में उपर्युक्त विषमताओं का बड़ा भारी हाथ था। समाजगत विषमताओं ने ही भगवान् कृष्ण, बुद्ध, महावीर, कबीर, चैतन्य आदि महापुरुषों को जन्म दिया और उन्होंने उन विषमताओं के दूर करने में अपने-अपने महान् कार्य द्वारा भारतीय संस्कृति की धारा की ही महत्ता को बढ़ाया।

इसलाम और ईसाइयत

भारतवर्ष के इतिहास में आने वाले इसलाम और ईसाइयत के आन्दोलनों को भी हम भारतीय संस्कृति की धारा के प्रवाह से बिलकुल अलग नहीं समझते । **प्रथम तो,** इन दोनों की आध्यात्मिकता और नैतिकता का आधार 'एशियाटिक' संस्कृति के इतिहास की परम्परा द्वारा भारतीय संस्कृति की मौलिक धारा तक पहुँच जाता है । **दूसरे,** इतिहास-काल में भी, उनका भारतीय बौद्ध संस्कृति का ऋणी होना कोई अस्वीकार नहीं कर सकता । **तीसरे,** उन दोनों में कम से कम ९५ प्रतिशत संख्या उन्हीं की है, जो प्राचीन भारतीय संस्कृति के ही उत्तराधिकारी हैं; और आज भी उनमें विद्यमान सांस्कृतिक मूल्य की वस्तुओं पर भारतीयता की काफ़ी छाप है । हमारा तो विश्वास है कि हम, सहिष्णुता से काम लेते हुए, उनकी वास्तविक धार्मिक भावनाओं को ठेस न पहुँचाते हुए, उनमें सुप्त भारतीयता को जगा सकते हैं, और वे भी भारतीय संस्कृति की धारा से पृथक् नहीं रह सकते ।

हमारे मत में, बौद्ध, जैन आदि धर्मों की तरह ही, भारतवर्ष की पूर्वोक्त विषमताओं से ही इन संप्रदायों के प्रसार में काफ़ी सहायता मिली है और इनके द्वारा भारतीय संस्कृति भी प्रभावित हुई है, और उसको कई प्रकार के साक्षात् या असाक्षात् रूप से लाभ भी हुए हैं ।

हम उपर्युक्त आन्दोलनों को भी एक प्रकार से भारतीय संस्कृति का उपकारक और आधार कह सकते हैं ।

समष्टि-दृष्टि की आवश्यकता

आवश्यकता है कि हम भारतीय संस्कृति के विकास को समझने के लिए उपर्युक्त **समष्टि-दृष्टि** से काम लें । प्रत्येक भारतीय, सांप्रदायिक एकांगी दृष्टि को छोड़कर, भारतीय संस्कृति के समस्त क्षेत्र के साथ अपने ममत्व को स्थापित करे और अपने को उसका उत्तराधिकारी समझे ।

> **यह भारतीय संस्कृति स्वभावतः सदा से प्रगतिशील रही है और रहेगी । इसमें अपने जीवन की जो अबाध धारा बह रही है, उसके द्वारा ही यह, भविष्य के देशीय या आन्तराष्ट्रिक मानवता के हित के आन्दोलनों का स्वागत करते हुए, अपनी प्राचीन परम्परा की रक्षा करते हुए ही आगे बढ़ती जाएगी । इसी भारतीय संस्कृति में हमारी आस्था है ।**

समष्टि-दृष्टि-मूलक उपर्युक्त भारतीय संस्कृति की प्रगति और विकास को दिखाना ही प्रकृत ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है । इसके लिए हम क्रमशः उसकी विभिन्न धाराओं (जैसे—**वैदिक, औपनिषद, जैन, बौद्ध, पौराणिक, सन्त, इसलाम और ईसाइयत**) पर विवेचनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे । अन्त में, उसके भावी विकास पर भी दृष्टि डालने का हमारा विचार है ।

दूसरा परिच्छेद

भारतीय संस्कृति का दृष्टिकोण

भारतीय संस्कृति के विषय में जो विचार-विभ्रम फैला हुआ है, उसको दूर करने के लिए, तथा आगे इस ग्रन्थ में उसकी प्रगति और विकास के विषय में जो विचार हम प्रस्तुत करना चाहते हैं, उनको ठीक-ठीक समझने के लिए, अपने मत में भारतीय संस्कृति के दृष्टिकोण को प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर देना आवश्यक है। इसके बिना अगली विचार-पद्धति के प्रति बौद्धिक सहानुभूति के स्थान में पग-पग पर भ्रम और संदेह उपस्थित होने की संभावना रहेगी।

यहाँ हम भारतीय संस्कृति के विषय में दो-चार मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए उसके दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। सबसे पहले हम **भारतीय संस्कृति स्वभावतः प्रगतिशील है**, इस सिद्धान्त को लेते हैं—

(१)

भारतीय संस्कृति की प्रगति-शीलता

प्राचीन जातियों में अपनी प्रथाओं, अपने आचार-विचारों और अपनी संस्कृति को अत्यन्त प्राचीन काल से आनेवाली अविच्छिन्न परम्परा के रूप में मानने की प्रवृत्ति प्रायः सर्वत्र देखी जाती है। अनेक धार्मिक या राजनीतिक प्रभाव वाले वंशों की, यहाँ तक कि धार्मिक मान्यताओं से सम्बद्ध अनेक नदियों आदि की भी, दैवी या लोकोत्तर उत्पत्ति की भावना के मूल में यही प्रवृत्ति काम करती हुई दीख पड़ती है।

भारतवर्ष में भी यह प्रवृत्ति अपने पूर्ण विस्तृत और व्यापक रूप में चिरकाल से चली आ रही है। हमारे शास्त्रों में वर्णित विविध विद्याओं और कलाओं की ब्रह्मा आदि से उत्पत्ति की भावना अथवा अनेक वंशों की दैवी उत्पत्ति की भावना उक्त प्रवृत्ति के ही स्पष्ट निदर्शन हैं।

इधर अंग्रेजी शासन के दिनों में विदेशी विचार-धारा के आक्रमण के कारण हमारे धार्मिक तथा सांस्कृतिक विचारों में जो उथल-पुथल दिखायी देने लगी थी, उसकी प्रतिक्रिया के रूप में उपर्युक्त प्रवृत्ति को और भी समर्थन और प्रोत्साहन दिया गया है। इसमें सबसे बड़ा हाथ प्रायेण उन रूढ़िवादी लोगों का रहा है, जो अपने संकीर्ण स्वार्थों या अन्धविश्वासों के कारण साम्प्रदायिक वातावरण की परिधि से बाहर स्वच्छन्द खुले प्राणप्रद वायु में रह कर विचार ही नहीं कर सकते।

इसके परिणामस्वरूप देश की साधारण जनता में प्रायः ऐसी भावना बद्धमूल हो गयी है कि उसकी धार्मिक और सांस्कृतिक रूढ़ियाँ सदा से एक ही रूप में चली आयी हैं। दूसरे शब्दों में, साम्प्रदायिक दृष्टि के लोग स्वाभिमत भारतीय संस्कृति को, **प्रगतिशील** या **परिवर्तनशील** न मान कर, सदा से एक ही रूप में रहने वाली **स्थितिशील** मानने लगे हैं।

'सनातन धर्म' या 'शाश्वत धर्म' जैसे शब्दों के प्रायः दुरुपयोग द्वारा उक्त भावना में और भी दृढ़ता लायी गयी है।

परन्तु **विज्ञान-मूलक आधुनिक ऐतिहासिक दृष्टि** से, जिसका उल्लेख हम पिछले परिच्छेद में कर चुके हैं, देखने पर तत्काल यह स्पष्ट हो जाता है कि, यद्यपि भारतीय संस्कृति की सूत्रात्मा चिरन्तन से चली आ रही है, वह अपने बाह्य रूप की दृष्टि से बराबर परिवर्तन-शील और प्रगतिशील रही है।

पिछले परिच्छेद में दिखायी गयी **वैदिक तथा पौराणिक** उपास्य देवों की पारस्परिक तुलना से हमारी देवता-विषयक मान्यताओं में समय-भेद से होने वाला महान् परिवर्तन स्पष्ट हो जाता है।

समय-भेद से ब्रह्मा आदि की पूजा की प्रवृत्ति और उसके विलोप से भी यही बात स्पष्टतया सिद्ध होती है।

इसी प्रकार के परिवर्तन का एक ज्वलन्त उदाहरण हमको किसी समय में शिव के अर्थ में रूढ़ 'ईश्वर' शब्द के सामान्य असाम्प्रदायिक **देवाधिदेव ईश्वर** के अर्थ में प्रयोग से मिलता है।[1] दक्षिण भारत में 'ईश्वर' शब्द अब भी केवल साम्प्रदायिक शिव के लिए प्रयुक्त होता है।

इसी प्रकार के दो-चार अन्य निदर्शनों को भी यहाँ देना अनुपयुक्त न होगा।

'यज्ञ' शब्द को लीजिए। वैदिक काल में इसका प्रयोग प्रायेण देवताओं के यजनार्थ किये जाने वाले कर्म-कलाप के लिए ही होता था। पर कालान्तर में

---

१. इस विषय में हमारा "History of the Word 'Īśvara' and its Idea" शीर्षक लेख सप्तम ओरियंटल कांफ्रेंस की proceedings में देखिए। उसी का विस्तृत रूप 'Sarasvatī Bhavana Studies', Vol X में प्रकाशित हुआ था।

अनेक कारणों से वैदिक कर्म-काण्ड के शिथिल हो जाने पर यही शब्द अधिक व्यापक अर्थों में प्रयुक्त होने लगा। इसी परिवर्तित दृष्टि के कारण भगवद्गीता[1], वैदिक यज्ञों के साथ-साथ (जिनको वह द्रव्य-यज्ञ कहती है), **तपोयज्ञ, योगयज्ञ, ज्ञानयज्ञ** आदि का भी उल्लेख करती है। स्वामी दयानन्द के अनुसार तो "शिल्प-व्यवहार और पदार्थ-विज्ञान जो कि जगत् के उपकार के लिए किया जाता है उसको (भी) यज्ञ कहते हैं[2]।" आचार्य विनोबा भावे का **भूदान-यज्ञ** तो आज सब की जिह्वा पर है।

इसी प्रकार 'ऋग्वेद', 'यजुर्वेद', 'आयुर्वेद' 'धनुर्वेद' आदि शब्दों में प्रयुक्त **'वेद'** शब्द स्पष्टतया किसी समय सामान्येन विद्या या ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होता था। कालान्तर में यह अनेकानेक शाखाओं में विस्तृत मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वैदिक साहित्य के लिए ही प्रयुक्त होने लगा। उन शाखाओं में से अनेकों का तो अब नाममात्र भी शेष नहीं है। यही **'वेद'** शब्द अब प्रायेण उपलब्ध वैदिक संहिताओं के लिए ही प्रयुक्त होने लगा है।

इसी प्रकार **'वर्ण'** शब्द के भी विभिन्न प्रयोगों में समय-भेद से परिवर्तित होने वाली वर्ण-विषयक दृष्टियों का प्रभाव दिखाया जा सकता है।

'यज्ञ' आदि जैसे महत्त्व के शब्दों का समय-भेद से होने वाला भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग स्पष्टतया विचारों के घात-प्रतिघात तथा सामयिक आवश्यकताओं के फलस्वरूप होने वाली भारतीय संस्कृति की प्रगति की ओर ही संकेत करता है।

आचार-विचार की दृष्टि से भी अनेकानेक स्पष्ट उदाहरणों से भारतीय संस्कृति कभी स्थितिशील न होकर सदा प्रगतिशील या परिवर्तनशील रही है, इस सिद्धांत की पुष्टि की जा सकती है।

शूद्र, अतिशूद्र कहलाने वाली भारतीय 'जातियों' के प्रति हमारी कठोर दृष्टि और व्यवहार में सामयिक परिस्थितियों और सन्त-महात्माओं के आन्दोलनों के कारण शनैः-शनैः होने वाला विकासोन्मुख परिवर्तन भारतीय संस्कृति की प्रगति-शीलता का एक उज्ज्वल उदाहरण है। **"न शूद्राय मतिं दद्यात्"**[3] (=शूद्र को किसी प्रकार का उपदेश न दे), तथा **"पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्"**[3] (=शूद्र तो मानो चलता-फिरता श्मशान है। इसलिए उसके समीप में वेदादि नहीं पढ़ना चाहिए) शूद्र के प्रति इस कठोर और अशोभन दृष्टि से चल कर उसको हरि-जन मानने की दृष्टि में स्पष्टतया आकाश-पाताल का अन्तर है[4]।

---

१. देखिए भगवद्गीता ४।२५-३०, ३२ तथा २।४२-४३। २. स्वामी दयानन्द-कृत 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' से। ३. देखिए—'वेदान्तसूत्र-शांकरभाष्य' १।३।३८। ४. इस दृष्टि-भेद के विस्तृत इतिहास में एक प्रकार से भारतीय संस्कृति का सारा इतिहास प्रतिबिम्बित रूपमें दिखाया जा सकता है। हम इस पर स्वतन्त्ररूप से फिर कभी विचार करना चाहते हैं।

इसी प्रकार विभिन्न विदेशी जातियों को आत्मसात् (हम इसको 'शुद्धि' नहीं मानते) करने में, विदेशों में भारतीय संस्कृति के संदेश को पहुँचाने में, और वेद और शास्त्रों की दुरधिगम्य कोठरियों में बन्द उस सन्देश को जनता की भाषा में, प्राय: जनता के ही सच्चे प्रतिनिधि सन्त-महात्माओं द्वारा, सर्वसाधारण के लिए सुलभ किये जाने में, हमें उपर्युक्त प्रगतिशीलता का सिद्धान्त ही काम करता हुआ दीखता है।

भारतीय संस्कृति के इतिहास के लम्बे काल में ऐसे स्थल भी अवश्य आते हैं जब कि उसके रूप में होने वाले परिवर्तन आपातत: विकासोन्मुख प्रगति को नहीं दिखलाते। तो भी वे उसकी स्थिति-शीलता के स्थान में परिवर्तन-शीलता को तो सिद्ध करते ही हैं। साथ ही, जैसे स्वास्थ्य-विज्ञान की दृष्टि से रोगावस्था अरुचिकर होने पर भी हमारे स्वास्थ्य-विरोधी तत्त्वों को उभार कर उनको नाश करके हमारे स्वास्थ्य में सहायक होती है, उसी प्रकार उन आपातत: अवांछनीय परिवर्तनों को समझना चाहिए। कभी-कभी उन परिवर्तनों के मूल में हमारी जातीय आत्मरक्षा की स्वाभाविक प्रवृत्ति या अन्य सामयिक आवश्यकता भी काम करती हुई दीखती है। इसलिए उन परिवर्तनों के कारण भारतीय संस्कृति की प्रगतिशीलता के हमारे उपर्युक्त सामान्य सिद्धांत में कोई क्षति नहीं आती।

यह प्रगतिशीलता या परिवर्तनशीलता का सिद्धान्त केवल हमारी कल्पना नहीं है। हमारे धर्मशास्त्रों ने भी इसको मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है।

धर्मशास्त्रों का **कलि-वर्ज्य प्रकरण**[1] प्रसिद्ध है। इसमें प्राचीन काल में किसी समय प्रचलित गोमेध, अश्वमेध, नियोग-प्रथा आदि का कलियुग में निषेध किया गया है। विभिन्न परिस्थितियों के कारण भारतीय संस्कृति के स्वरूप में प्रगति या परिवर्तन होते रहे हैं, इस बात का, हमारे धर्मशास्त्रों के ही शब्दों में, इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण मिलना कठिन होगा।

इसके अतिरिक्त, प्रत्येक युग में उसकी आवश्यकता के अनुसार 'धर्म' का परिवर्तन होता रहता है, इस सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन भी धर्मशास्त्रों में स्पष्टत: मिलता है। उदाहरणार्थ,

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे युगे ।
अन्ये कलियुगे नृणां युगरूपानुसारत: ॥

---

१. देखिए—"अथ कलिवर्ज्यानि। बृहन्नारदीये—समुद्रयातु: स्वीकार: कमण्डलुविधारणम्।....देवराच्च सुतोत्पत्तिर्मधुपर्के च गोर्वध:। मांसदानं तथा श्राद्धे वानप्रस्थाश्रमस्तथा॥ ....नरमेधाश्वमेधकौ॥....गोमेधश्च तथा मख:। इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिण:॥" इत्यादि.... (निर्णयसिन्धु, कलिवर्ज्यप्रकरण)

युगेष्वावर्तमानेषु धर्मोऽप्यावर्तते पुनः ।
धर्मेष्वावर्तमानेषु लोकोऽप्यावर्तते पुनः ।।
श्रुतिश्च शौचमाचारः प्रतिकालं विभिद्यते ।
नानाधर्माः प्रवर्तन्ते मानवानां युगे युगे ।।

अर्थात्, सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग में युग के रूप या परिस्थिति के अनुसार 'धर्म' का परिवर्तन होता रहता है। युग-युग में मनुष्यों की श्रुति (=धार्मिक मान्यता की पुस्तक या साहित्य), शौच (=स्वच्छता का स्वरूप और प्रकार), और आचार (=आचार-विचार या व्यवहार) सामयिक आवश्यकताओं के अनुसार बदलते रहते हैं।

धर्मशास्त्रों की ऐसी स्पष्ट घोषणा के होने पर भी, यह आश्चर्य की बात है कि हमारे प्राचीन धर्मशास्त्री विद्वानों के भी मन में 'भारतीय संस्कृति स्थिति-शील है' यह धारणा बैठी हुई है। गाँधी-युग से पहले के सांप्रदायिक विद्वानों के शास्त्रार्थ अब भी लोगों को स्मरण होंगे। उनमें यही निरर्थक तथा उपहासास्पद झगड़ा रहता था कि हमारा सिद्धान्त सनातन है या तुम्हारा। अब भी यह धारणा हमारे देश में काफ़ी घर किये हुए है। इसी के कारण सांप्रदायिक कटु भावना तथा संकीर्ण विचार-धारा अब भी हमारे देश में सिर उठाने को और हमारे सामाजिक जीवन को विषाक्त करने को सदा तैयार रहती है।

इसलिए भारतीय संस्कृति की सबसे पहली मौलिक आवश्यकता यह है कि उसको हम स्वभावतः प्रगतिशील घोषित करें। उसी दशा में भारतीय संस्कृति अपनी प्राचीन परम्परा, प्राचीन साहित्य और इतिहास का उचित सम्मान तथा गर्व करते हुए अपने अन्तरात्मा की संदेश-रूप मानव-कल्याण की सच्ची भावना से आगे बढ़ती हुई, वर्तमान प्रबुद्ध भारत के ही लिए नहीं, किन्तु संसार भर के लिए उन्नति और शांति के मार्ग को दिखाने में सहायक हो सकती है।

यह कार्य 'हमारा आदर्श या लक्ष्य भविष्य में है, पश्चाद्दर्शिता में नहीं', यही मानने से हो सकता है। भारतीय संस्कृति रूपी गंगा की धारा सदा आगे ही बढ़ती जाएगी, पीछे नहीं लौटेगी। प्राचीन युग जैसा भी रहा हो, पुनः उसी रूप में लौट कर नहीं आ सकता; हमारा कल्याण हमारे भविष्य के निर्माण में निहित है; हम उसके निर्माण में अपनी प्राचीन जातीय संपत्ति के साथ-साथ नवीन जगत् में प्राप्य संपत्ति का भी उपयोग करेंगे, यही भारतीय संस्कृति की प्रगतिशीलता के सिद्धान्त का रहस्य और हृदय है।

भारतीय संस्कृति का दूसरा सिद्धांत उसका असाम्प्रदायिक होना है। नीचे हम उसी की व्याख्या करेंगे—

(२)

भारतीय संस्कृति की असांप्रदायिकता

संस्कृत में प्राचीन काल से एक कहावत चली आ रही है कि—

श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना
नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।।

अर्थात्, श्रुतियों और स्मृतियों में परस्पर विभिन्न मत पाये जाते हैं। यही बात मुनियों के विषय में भी ठीक है।

इसका अभिप्राय यही है कि किसी भी सभ्य समाज में मतभेद और तन्मूलक सम्प्रदायों का भेद या बाहुल्य स्वाभाविक होता है। इसका मूल कारण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति और रुचि में भेद का होना ही है। कोई व्यक्ति स्वभाव से ही ज्ञान-प्रधान, कोई कर्म-प्रधान और कोई भक्ति-या भावना-प्रधान होता है। फिर समय-भेद तथा देश-भेद से भी मनुष्यों की प्रवृत्तियों में भेद देखा जाता है। रेगिस्तान के शुष्क प्रदेश में रहने वालों के और बंगाल जैसे नमी-प्रधान प्रदेश में रहने वालों के स्वभावों में अन्तर होना स्वाभाविक ही है।

ऐसे ही कारणों से भारतवर्ष जैसे विशाल और प्राचीन परम्परा वाले देश में अनेकानेक सम्प्रदायों का होना बिलकुल स्वाभाविक है।

एक सीमा तक यह सम्प्रदाय-भेद स्वाभाविक होने के कारण व्यक्तियों की सत्प्रवृत्तियों के विकास का साधक होता है। यह तभी होता है जब कि उन विभिन्न सम्प्रदायों के लोगों के सामने कोई ऐसा उच्चतर आदर्श होता है जो उन सब को परस्पर संघटित और सम्मिलित रहने की प्रेरणा दे सकता हो। परन्तु प्रायः ऐसा देखा जाता है कि सांप्रदायिक नेताओं की स्वार्थबुद्धि और धर्मान्धता या असहिष्णुता के कारण सम्प्रदायों का वातावरण दूषित, संघर्षमय और विषाक्त हो जाता है। उस दशा में सम्प्रदाय-भेद अपने अनुयायियों के तथा देश के लिए भी अत्यन्त हानिकर और घातक सिद्ध होता है।

भारतीय संस्कृति की आन्तरिक धारा में चिरन्तन से सहिष्णुता की भावना का प्रवाह चला आया है। तो भी, भारतवर्ष में सम्प्रदायों का इतिहास बहुत कुछ उपर्युक्त दोषों से युक्त ही रहा है। आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थों के कारण और कुछ अंशों में धर्मान्धता के कारण भी अपने-अपने नेताओं द्वारा सम्प्रदायों का और स्वभावतः शान्ति-प्रधान, पर भोली-भाली और मूर्ख, जनता का पर्याप्त दुरुपयोग किया गया है।

साम्प्रदायिक वैमनस्य और अत्याचार का उल्लेख करने पर आजकल तत्काल हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य या पिछली शताब्दियों में दक्षिण भारत में ईसाइयों द्वारा

हिन्दू जनता पर किये गये अत्याचार सामने आ जाते हैं। यह सब तो निस्सन्देह ठीक है ही। पर साम्प्रदायिक असहिष्णुता और अत्याचार का विशुद्ध भारतीय सम्प्रदायों में अभाव रहा है, यह न समझ लेना चाहिए।

पौराणिक तथा धर्मशास्त्रीय संस्कृत साहित्य में वर्णित उन व्यक्तिगत तथा सामूहिक अत्याचारों[1] के आख्यानों या विधानों को, जो वास्तव में साम्प्रदायिक असहिष्णुता-मूलक या उसके व्याज से राजनीति-मूलक थे, जाने दीजिए। हम उनका उल्लेख यहाँ नहीं करेंगे। यहाँ कुछ अन्य निदर्शनों को देना पर्याप्त होगा। उदाहरणार्थ--

'श्रमण--ब्राह्मणम्' (व्याकरण-महाभाष्य २।४।९) पद के आधार पर श्रमणों (अर्थात् बौद्धों) और ब्राह्मणों में सर्प और नकुल जैसी शत्रुता का उल्लेख हम पिछले परिच्छेद में कर चुके हैं। ईसवी शतियों के प्रारम्भिक काल के आस-पास इस शत्रुता ने भारतवर्ष के राजनीतिक तथा धार्मिक वातावरण में जो हल-चल मचा रखी थी, वह ऐतिहासिकों से छिपी नहीं है। आज की असाम्प्रदायिक भारत सरकार के विरुद्ध सम्प्रदाय-वादियों का आन्दोलन उसके सामने कुछ भी नहीं है।

भगवान् मनु ने अपनी मनुस्मृति में बौद्ध जैसे सम्प्रदायों को नास्तिक ही नहीं कहा है, उनके धर्मग्रन्थों को भी **'कुदृष्टि'**, **'तमोनिष्ठ'** (=अज्ञानमूलक) और **'निष्फल'** कहा है[2]।

हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्।

(अर्थात्, मदमत्त हाथी से पीछा किये जाने पर भी, जैन-मन्दिर में न जाए) ऐसे वचनों से और दक्षिण भारत में पूर्वमध्य काल में अनेकानेक जैन-बौद्ध मन्दिरों को जबर्दस्ती छीन कर पौराणिक मन्दिरों का रूप देने से भी सांप्रदायिक विद्वेष और अत्याचार के ही निदर्शन हमारे सामने आते हैं।

इसके अतिरिक्त, नीचे लिखे उद्धरणों को भी देखिए--

त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः।

(=तीनों वेदों के बनाने वाले भाँड़, धूर्त और निशाचर थे);

---

१. उदाहरणार्थ, स्कन्द-पुराणान्तर्गत सूतसंहिता में शैव संप्रदाय के विरोधियों के बाधन और शिरश्छेदन का स्पष्टतया विधान किया है; जैसे **"शिवयात्रापराणां तु बाधकानां तु बाधनम्। शिवभक्तिरिति प्रोक्ता.... ।। भस्मसाधननिष्ठानां दूषकस्य.... छेदनं शिरसः.... ।।** (सूतसंहिता ४।२६।२६--३२)। रामायण में भगवान् रामचन्द्र द्वारा शम्बूक (शूद्र) का वध प्रसिद्ध है। वेद सुनने मात्र के अपराध के लिए शूद्र के कानों में राँगा पिलाने की चर्चा हम प्रथम परिच्छेद में कर चुके हैं।

२. देखिए, **"या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः। सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ।।"** (मनुस्मृति १२।९५)

धिग् धिक् कपालं भस्मरुद्राक्षविहीनम् ।
तं त्यजेदन्त्यजं यथा ।

(=भस्म और रुद्राक्ष से जिसका कपाल विहीन है उसका अन्त्यज के समान दूर से ही परित्याग कर दे);

भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः ।।
पाखण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः ।।

(भागवत ४।२।२८)

(अर्थात्, शैवधर्म के अनुयायी वास्तव में पाखण्डी और सच्छास्त्र के विरोधी होते हैं);

यथा श्मशानजं काष्ठं सर्वकर्मसु गर्हितम् ।
तथा चक्राङ्कितो विप्रः सर्वकर्मसु गर्हितः ।।

(अर्थात्, श्मशान के काष्ठ के समान ही चक्रांकित वैष्णव का सब कर्मों से बहिष्कार करना चाहिए।)

इसी प्रकार हमारे अनेक धार्मिक ग्रन्थ शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध आदि संप्रदायों के परस्पर विद्वेष के भावों से भरे पड़े हैं।

इस साम्प्रदायिक विद्वेष-भावना ने हमारे दार्शनिक ग्रन्थों पर भी कहाँ तक अवांछनीय प्रभाव डाला है, इसका अच्छा नमूना हमको **'माध्वमुखमर्दन'**, **'माध्वमुखचपेटिका'**, **'दुर्जन-करि-पञ्चानन'** जैसे ग्रन्थों के नामों से ही मिल जाता है। इन नामों में विद्वज्जन-सुलभ शालीनता का कितना अभाव है, यह कहने की बात नहीं है।

दर्शन-शास्त्र का विषय ऐसा है जिसका प्रारम्भ ही वास्तव में साम्प्रदायिकता की संकीर्ण भावना की सीमा की समाप्ति पर होना चाहिए। इसलिए दार्शनिक क्षेत्र में विभिन्न सम्प्रदायों के लोग, सांप्रदायिक संकीर्णता से ऊपर उठ कर, सद्भावना और सौहार्द के स्वच्छ वातावरण में एकत्र सम्मिलित हो सकते हैं।

परन्तु भारतवर्ष में दार्शनिक साहित्य का विकास प्रायेण सांप्रदायिक संघर्ष के वातावरण में ही हुआ था। इसलिए उन-उन सम्प्रदायों से संपृक्त विभिन्न दर्शनों के साहित्य से भी प्रायः सांप्रदायिकता को प्रोत्साहन मिलता रहा है।

हमने अपने ईश्वर-विषयक लेख में (जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है) दिखलाया है कि न्याय-वैशेषिक दर्शनों का विकास शैव सम्प्रदाय से हुआ है[1]। योग की परम्परा का भी झुकाव शैव सम्प्रदाय की ओर अधिक है। रहे पूर्व-मीमांसा, वेदान्त, बौद्ध और जैन दर्शन—इनका तो स्पष्टतया घनिष्ठ सम्बन्ध वैदिक, वैष्णव, बौद्ध और जैन सम्प्रदायों से ही रहा है। एक सांख्य-दर्शन ऐसा

१. इस विषय में राजशेखरसूरि-कृत **षड्दर्शन-समुच्चय**, तथा हरिभद्रसूरि-कृत **षड्दर्शन-समुच्चय** को भी देखिए।

है जिसकी दृष्टि प्रारम्भ से ही विशुद्ध दार्शनिक रही है। पर इसीलिए उसे **वेदान्तसूत्र-शांकरभाष्य**[२] आदि में अवैदिक कह कर तिरस्कृत किया गया है।

साम्प्रदायिक भावना की तरह ही जाति-पाँति का अनन्त भेद भी भारतीय समाज में वैषम्य का कारण रहा है। अब भी नाना रूपों में हमारे समाज में फैला हुआ इसका विष हमारे अनेक कार्यकर्ताओं को '**अन्तःशाक्ता बहिःशैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः**' इस उक्ति का लक्ष्य बनाता रहता है।

इस प्रकार चिरकाल से प्रायेण विचार-संकीर्णता और परस्पर संघर्ष की भावना से परिपूर्ण संप्रदायवाद, तदभिभूत दार्शनिक साहित्य और जाति-पाँति के भेद-भाव से जर्जरित भारतीय जनता में एकजातीयता के नवीन जीवन का संचार करने के लिए, मानो एक उपास्य देव के रूप में, एकमात्र प्रगतिशील तथा असांप्रदायिक भारतीय संस्कृति के आदर्श का ही आश्रय लिया जा सकता है।

भारतीय संस्कृति असाम्प्रदायिक है, इसका अभिप्राय यह नहीं है कि भारतीय संस्कृति का सम्प्रदायों या सम्प्रदाय-विशेष से कोई विरोध या झगड़ा है। प्रत्युत नैतिकता तथा मानव-हित की भावना की सीमा के अन्दर वह सम्प्रदायों का सम्मान करती है और, किसी मुख्य धारा की सहायक नदियों के समान, उनको अपना उपकारक और पूरक मानती है। नैयायिकों की जाति जैसे व्यक्तियों से पृथक् होते हुए भी उन से पृथक् नहीं रहती, इसी प्रकार भारतीय संस्कृति संप्रदायों से पृथक् अर्थात् स्वयं असाम्प्रदायिक होते हुए भी उनसे पृथक् नहीं है। इसी कारण, भारतीय संस्कृति के नाते से, सम्प्रदायों का परस्पर सम्बन्ध आदरयुक्त और सौहार्द-पूर्ण होना चाहिए। उनमें होड़ या स्पर्धा भी हो तो वह मानव-हित और भारतीय संस्कृति के महत्त्व को बढ़ाने वाली बातों में होनी चाहिए।

इस प्रकार असाम्प्रदायिक भारतीय संस्कृति की भावना ही सम्प्रदायों में पारस्परिक संघर्ष की भावना को नष्ट कर उनको अपने विशुद्ध कर्तव्य-पालन के लिए प्रेरणा दे सकती है।

भारतीय संस्कृति का **तीसरा सिद्धान्त** है—

(३)

भारतीय संस्कृति की भारत के समस्त इतिहास में ममत्व-भावना

भारतीय संस्कृति की सतत-प्रवहण-शील धारा की तुलना हम भगवती गंगा की धारा से कर चुके हैं। जैसे गंगा की धारा मूल में किसी अज्ञात स्थान से

२. देखिए—"**न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यम्**" (वेदान्तसूत्र-शांकरभाष्य २।१।१)।

निकल कर, अनेकानेक दुरधिगम तथा दुर्गम ऊँचे-नीचे पर्वतों और प्रदेशों में होती हुई, अनेक विभिन्न धाराओं के जलप्रवाहों को आत्मसात् करती हुई, अन्त में सुन्दर रमणीक समतल प्रदेशों में प्रवेश कर नवीनतर गम्भीरता, विस्तार और प्रवाह के साथ आगे की ओर ही बहती है; ठीक उसी तरह भारतीय संस्कृति की धारा किसी प्रागैतिहासिक अज्ञात युग से प्रारम्भ होकर, अनुकूल तथा प्रतिकूल विभिन्न परिस्थितियों में से गुज़रती हुई तथा विभिन्न प्रकार की विचार-धाराओं को आत्मसात् करती हुई शनैः-शनैः अपने विशालतर और गम्भीरतर रूप में आगे बढ़ती हुई ही दिखायी देती है। विशिष्ट स्थानों के विशिष्ट माहात्म्य के होने पर भी, जैसे गंगा की समस्त धारा में हमारी मान्यता है, इसी प्रकार भारतीय संस्कृति की दृष्टि से उसकी पूरी धारा में, दूसरे शब्दों में, भारत के समस्त इतिहास में हमारी ममत्व की भावना होनी चाहिए। ऐसा किये बिना न तो 'भारतीय संस्कृति' शब्द की ही कोई सार्थकता रहेगी और न देशव्यापी भारतीयत्व की भावना को ही हम जीवित रख सकेंगे।

परन्तु दुर्भाग्य से अब तक हमारी स्थिति प्रायः उक्त सिद्धान्त के प्रतिकूल ही रही है।

सांप्रदायिकता, निराशावाद और तज्जनित पश्चाद्दृष्टि की भावना, विभिन्न संकीर्ण स्वार्थों की क्षति और उनके प्राचीन काल के, कुछ कल्पित और कुछ वास्तविक, अभ्युदय की निराशाप्रद स्मृति, इत्यादि अनेक कारणों से हम उक्त आवश्यक सिद्धान्त की प्रायः अवहेलना करते रहे हैं; और यह प्रवृत्ति अब तक हममें विद्यमान है।

हमारे धर्मशास्त्रों में **युगों के क्रम से धर्म के ह्रास** का **सिद्धान्त**, पुराणों में "**नन्दान्तं क्षत्रियकुलम्**" (अर्थात् नन्दों के वंश के साथ वैदिक परम्परा के पोषक जो 'क्षत्रिय' राजा थे उनका अन्त हो गया) यह कथन, अथवा कलियुग के दुष्प्रभाव का वर्णन, यह सब उसी प्रवृत्ति के उदाहरण हैं।

वैदिक परम्परा के उस अन्तिम युग के दिनों में, जब कि **जन्मना जातिवाद** खूब बढ़ गया था और हमारे यज्ञों ने भी केवल **यान्त्रिक द्रव्य-यज्ञों** का रूप धारण कर लिया था, साधारण जनता के हित की आवाज़ उठाने वाले बौद्ध-जैन धर्मों के अभ्युदय से तथा प्रायः उसी के फल-स्वरूप राजनीतिक प्राधान्य के दूसरों के हाथों में चले जाने से, वैदिक सम्प्रदाय के नेताओं में स्वभावतः उत्पन्न होने वाली निराशा ने ही उपर्युक्त विचारों को जन्म दिया था।

इसी सांप्रदायिक (तथा राजनीतिक) प्रतिक्रिया के कारण हम देखते हैं कि उन शताब्दियों के तथा तदुत्तरकालीन संस्कृत साहित्य में विश्व को चमत्कृत करने वाले बौद्ध-धर्म-सम्बन्धी राजनीतिक तथा धार्मिक अभ्युदय की कुछ भी चर्चा नहीं है। यदि आधुनिक ऐतिहासिक अनुसन्धान इसके उद्धार को अपने हाथ में न

लेता, तो भारतवर्ष के गौरव और गर्व के इस स्वर्ण-युग के इतिहास को हम सदा के लिए खो बैठते।

अब भी, इस विद्या और ज्ञान के युग में भी, हममें ऐसे संकीर्ण-दृष्टि सांप्रदायिकों की कमी नहीं है जो समझते हैं कि महाभारत-काल के पश्चात् भारत का जो भी महत्त्व का इतिहास है, वह, उनके लिए अरुचिकर न हो तो भी, उनके गर्व और गौरव की वस्तु नहीं है। यहाँ तक कि कालिदास के संसार को मुग्ध करने वाले शाकुन्तल नाटक से, भक्तिसुधा के प्रवाह-रूप भागवत से, या भारत की कोटिशः जनता की धार्मिक पिपासा को शान्त करने वाली तुलसीरामायण से भी उनको कोई वास्तविक उल्लास या प्रसन्नता प्राप्त नहीं होती!

इस प्रकार की एकांगी या पक्षपात की दृष्टि से न तो हम भारतीय संस्कृति के प्रवाह और परम्परा को ही समझ सकते हैं, न हम उसके साथ न्याय करते हैं।

वास्तव में भारतीय संस्कृति के प्रवाह और स्वरूप को समझने के लिए हमें जनता के विकास की दृष्टि से ही उसका अध्ययन करना होगा। भारतीय इतिहास के विभिन्न कालों का महत्त्व भी हमें, किसी सम्प्रदाय या राजवंश की दृष्टि से नहीं, किन्तु जनता की दृष्टि से ही मानना पड़ेगा। इस प्रकार के अध्ययन से ही हमें प्रतीत होगा कि भारतीय संस्कृति की प्रगति में वैदिक युग के समान ही बौद्ध युग या सन्त-युग का भी महत्त्व रहा है।

राजवंशों के इतिहास से ही किसी देश की संस्कृति का इतिहास समाप्त नहीं हो जाता। राजवंश तो किसी नगर के बाह्य प्राकार के ही स्थानीय होते हैं। प्राकार के अन्दर प्रवेश करने पर ही प्रजा या जनता के वास्तविक जीवन का पता लग सकता है।

इसलिए **जनता के जीवन के अविच्छिन्न प्रवाह** को या **लोक-संस्कृति की प्रगति** को समझने के लिए किसी देश के **समस्त इतिहास** से सम्बन्ध और संपर्क स्थापित करना आवश्यक होता है। इसी को हमने ऊपर ममत्व-भावना शब्द से कहा है।

इस ममत्व-भावना के होने पर ही हम अपनी-अपनी संकीर्ण सांप्रदायिक भावनाओं को पृथक् रखके, भारत के समस्त महान् व्यक्तियों को, चाहे वे किसी सम्प्रदाय के या जाति के कहे जाते हों, ममत्व का, समादर का, श्रद्धा का और गर्व का अनुभव करेंगे। आजकल इन महान् व्यक्तियों को साम्प्रदायिकों ने अपने संप्रदायों की तंग कोठरियों में क़ैद कर रखा है। हमारा कर्तव्य है कि हम उनको उस क़ैद से निकाल कर खुले असांप्रदायिक वातावरण में लावें, जिससे उनके उपदेशामृत का लाभ समस्त देश को ही क्यों, सारे संसार को हो।

असांप्रदायिक भारतीय संस्कृति की भावना से ही यह हो सकता है।

भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में अन्तिम सिद्धान्त है—

(४)

भारतीय संस्कृति की अखिल-भारतीय भावना

भारत के समस्त इतिहास में ममत्व-भावना की व्याख्या करते हुए हमने भारतीय संस्कृति के ऐतिहासिक विस्तार की ओर संकेत किया है; उसी प्रकार भारतीय संस्कृति की अखिल भारतीय भावना का संकेत उसके देशकृत विस्तार की ओर है। ऐतिहासिक विस्तार के समान ही उसके अखिल दैशिक विस्तार के साथ भी ममत्व-भावना की आवश्यकता है।

इसको हमारे देश के प्राचीन नेताओं ने अच्छी तरह अनुभव किया था। इसीलिए हमारे धार्मिक तीर्थस्थान देश के कोने-कोने में, प्रत्येक प्रान्त में, नियत किये गये थे। हमारे कुम्भ जैसे धार्मिक मेले भी देश के विभिन्न प्रान्तों में बारी-बारी से होते हैं। इसीलिए प्रान्तों में किसी का भी राज्य हो, सब प्रान्तों के वासी धार्मिक यात्राओं में समस्त देश में जाते थे। सांस्कृतिक दृष्टि से वे समस्त भारत को अपना देश समझते थे। भारतीय संस्कृति की अखिल-भारतीय भावना ही प्रान्तीय संघर्षों को बहुत-कुछ नियन्त्रण में रख सकती है।

परन्तु इस सम्बन्ध में हमारा कर्तव्य प्रान्तीय संघर्षों के प्रतिकार से ही समाप्त नहीं हो जाता। हमारा उत्तरदायित्व इससे बहुत अधिक है। आज के भारतवर्ष की एक बड़ी समस्या उसका सांप्रदायिक संघर्ष तथा पिछड़ी जातियों का प्रश्न है। भारतीय संस्कृति की अखिल भारतीय भावना का अभिप्राय यही है कि हम उक्त समस्या का वास्तविक समाधान भारतीय संस्कृति की दृष्टि से कर सकें। भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में ऊपर दिखलाये हुए सिद्धान्तों को दृष्टि में रख कर बड़े उदार हृदय से साम्प्रदायिक तथा पिछड़ी जातियों की समस्या को हाथ में लेने से ही उसका समाधान हम कर सकेंगे। सम्प्रदायों में परस्पर समादर और सम्मान की भावना स्थापित करने से, ऐसे जातीय तथा ऋतु-सम्बन्धी पर्वों और विभिन्न संप्रदायों के मान्य महापुरुषों की जयन्तियों की स्थापना से जिनमें सब प्रेमपूर्वक भाग ले सकें, तथा अधिक-से-अधिक सद्भावना के साथ बौद्धिक, नैतिक, साहित्यिक और कला-सम्बन्धी संपर्क स्थापित करने से ही सांप्रदायिक समस्या का समाधान हो सकता है।

इस प्रश्न का विशेष विचार हम इस ग्रन्थ की अन्तिम अवस्था में करेंगे। यहाँ तो हम केवल यह दिखलाना चाहते हैं कि भारतीय संस्कृति के स्वरूप के निर्धारण में हमारी दृष्टि का पूर्णतया प्रगतिशील, असाम्प्रदायिक और उदार होना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। तभी सारा देश उसको अपना सकेगा। तभी वह देश के लिए कल्याणप्रद सिद्ध हो सकेगी।

तीसरा परिच्छेद

भारतीय संस्कृति की वैज्ञानिक विचार-पद्धति

भारतीय संस्कृति के आधार और भारतीय संस्कृति के **दृष्टिकोण** के सम्बन्ध में पिछले दो परिच्छेदों में जो विचार किया गया है, उससे स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति की **समष्टि-दृष्टि-मूलक** तथा **सद्भावनापूर्ण** विचार-धारा के आधार पर ही भारतीय समाज की परम्परागत संकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाओं में ऐसी क्रान्ति लायी जा सकती है, जिससे विग्रह, विघटन, सांप्रदायिकता, विचार-संकीर्णता, पश्चाद्दर्शिता तथा अन्धरूढ़िवाद के स्थान में क्रमशः संग्रह, संघटन, असांप्रदायिकता, विचार-औदार्य, आदर्श-वादिता तथा प्रगतिवाद की भावनाओं को देश में स्थापित किया जा सकता है।

इस परिच्छेद में हम मुख्य रूप से उस **वैज्ञानिक प्रक्रिया** के स्वरूप को दिखाना चाहते हैं, जिसके द्वारा ही भारतीय परम्परा से प्राप्त और विभिन्न संप्रदायों तथा वर्गों से संबद्ध विस्तृत साहित्य और लम्बे इतिहास का एक **धारा-वाहिक जीवित परम्परा** के रूप में अध्ययन किया जा सकता है।

उक्त वैज्ञानिक प्रक्रिया के स्वरूप और महत्त्व को स्पष्टतया समझने के लिए आवश्यक है कि पहले हम उस **परम्परागत सांप्रदायिक विचार-पद्धति** को समझ लें, जो चिरकाल से भारतवर्ष के विद्वानों में प्रायेण चली आ रही है, और जिसके प्रभाव के कारण ही अब भी हमको देश और राष्ट्र की गम्भीर समस्याओं के विषय में खुले हृदय से विचार करने में कठिनता प्रतीत होती है।

सांप्रदायिक विचार-पद्धति

सांप्रदायिक विचार-पद्धति का मौलिक आधार **एकमात्र शब्द-प्रमाण की प्रधानता** ही है, जिसका उल्लेख हम प्रथम परिच्छेद में कर चुके हैं।

शब्द-प्रमाण अपनी उचित सीमा के अन्दर सब को मानना पड़ता है। हमारे प्रतिदिन के जीवन में शब्द-प्रमाण का, अपने-अपने विषयों के विशेषज्ञ वैद्य, डाक्टर आदि की बात का, कितना महत्त्व है, यह किससे छिपा है? अनुभवी विशिष्ट विद्वानों या लेखकों की बातों या शब्दों में अपने विचारों की पुष्टि या समर्थन पाकर हम कितने प्रसन्न होते हैं? ऐसे ही विशेषज्ञों को, जिन्होंने अपने अनुभव और परीक्षण से किसी तत्त्व को साक्षात् किया है, प्राचीन शास्त्रों की परिभाषा में **आप्त**[1] कहा जाता था, और उनके ही कथन को **वास्तव में शब्द-प्रमाण**[2] कहना और मानना चाहिए।

परन्तु, ज्योंही शब्द-प्रमाण अपनी सीमा के बाहर चला जाता है, प्रत्यक्ष अनुभव और परीक्षण के मौलिक आधार से विच्युत होकर जब केवल मान्यता और अन्ध-विश्वास पर स्थित हो जाता है, वह ऐसी विचार-पद्धति का जनक होता है, जो प्रायेण न केवल अपने को ही धोखा देती है, किन्तु संसार को भी व्यामोह में डालने वाली होती है।

धार्मिक क्षेत्र में एक बार बुद्धिवाद, प्रत्यक्षानुभव तथा अन्य प्रमाणों से निरपेक्ष शब्द-प्रमाण के मान लेने पर, लोगों में सांप्रदायिकता के संकीर्ण भावों का आ जाना अनिवार्य हो जाता है। भारतवर्ष की सांप्रदायिक परम्परा में इसी दृष्टि का, **शब्दैकप्रमाण-वादिता** का, चिरकाल से साम्राज्य रहा है। **"शब्दप्रमाणका वयम्। यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्"** (अर्थात्, हम तो केवल शब्द को प्रमाण मानने वाले हैं। हमारे लिए तो जो शास्त्र में लिखा है वही प्रमाण है) **महाभाष्य-पस्पशाह्निक** के इन शब्दों के अनुसार ही प्रायः हमारे सांप्रदायिकों के **विचार** चिरकाल से चले आ रहे हैं।

> **"मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्**
> **को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एतं**
> **तर्कमृषिं प्रायच्छन्।"** (निरुक्त, परिशिष्ट)

(अर्थात्, सत्य या धर्म को बतलाने वाले ऋषियों के काल के समाप्त होने पर, मनुष्यों ने देवों से पूछा कि अब हमारा ऋषि या मार्गदर्शक कौन होगा। तब देवों ने मनुष्यों को **तर्क-रूपी ऋषि** को दिया।) इस प्रकार **निरुक्त** जैसे वेद-विषयक महत्व के ग्रन्थ द्वारा तर्क या परीक्षण को सत्यान्वेषण में प्रमुख स्थान देने पर भी, **वेदान्तसूत्र**[3] का यही कहना है कि तर्क का कोई ठिकाना नहीं है,

---

१. तु०—**"अनुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कार्त्स्न्येन याथार्थ्यज्ञानवान् आप्तः।"**
२. देखिए—**"आप्तोपदेशः शब्दः"** (न्यायसूत्र १।१।७)।
३. **"तर्काप्रतिष्ठानात्"** (वेदान्तसूत्र २।१।११)।

शब्द-प्रमाण के पीछे-पीछे ही तर्क को चलना चाहिए। धर्मशास्त्रों[1] में भी इस बात पर बल दिया गया है कि अपनी मान्यता के शास्त्रों के अविरोध से ही तर्क द्वारा अनुसन्धान करना चाहिए।

अपने वैयक्तिक तर्क को कुतर्कणा के मार्ग से बचाने के लिए ऊपर के सिद्धान्त के मानने में वास्तव में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। परन्तु जब कुछ लोग स्वार्थ या अन्ध-विश्वास के कारण अपने सम्प्रदाय की मान्य पुस्तकों के **मानव-कल्याण की दृष्टि से मौलिक अभिप्राय** को न समझ कर उनके शब्दों को ही पकड़ने लगते हैं, उसी समय से सांप्रदायिक सहिष्णुता के स्थान में साम्प्रदायिक असहिष्णुता, संकीर्णता और दुराग्रह का दुष्प्रभाव जनता में फैलने लगता है।

ऐसे ही कारणों से संकीर्ण सांप्रदायिक भावनाओं का प्रसार देश में चिरकाल से चला आ रहा है। सहस्रों ग्रन्थ इसी दृष्टि से लिखे गये हैं। हमारे धर्म-शास्त्र, पुराण, यहाँ तक कि दार्शनिक ग्रन्थ भी, संकीर्ण सांप्रदायिक भावनाओं से अस्पृष्ट नहीं रहे हैं। सांप्रदायिक विचार-पद्धति का तात्पर्य वास्तविक सत्य के अन्वेषण से इतना नहीं होता, जितना कि अपनी मान्यताओं की (अथवा मान्य पुस्तकों की) पुष्टि में या दूसरे सम्प्रदायों के खण्डन में होता है। यही इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष है।

शब्दैकप्रमाण-वादिता-मूलक सांप्रदायिक विचार-पद्धति, मूल में बहुत कुछ निर्दोष होते हुए भी, शनैः-शनैः सत्य-पक्षपातिता और सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति से हटते-हटते, प्रायेण अबुद्धिपूर्वक, कितनी दूर चली जाती है, यही हम नीचे दिखाना चाहते हैं।

भारतवर्ष में उपर्युक्त सांप्रदायिक विचार-पद्धति के इतिहास और विकास पर ध्यान देने से प्रतीत होगा कि उससे उत्पन्न विचार-प्रवृत्तियों को स्थूल रूप से हम तीन रूपों में दिखा सकते हैं—

(१) एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति,

(२) अर्थान्तर या व्याख्या-भेद की प्रवृत्ति और

(३) प्रक्षिप्तवाद की प्रवृत्ति।

इनको क्रमशः हम नीचे स्पष्ट करेंगे—

(१)

एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति

सिद्धान्त-रूप से सत्य की रक्षा करते हुए, परस्पर सहिष्णुता के आधार पर, विरोध में अविरोध की स्थापना के लिए प्रयुक्त एकवाक्यता या समन्वय की

---

१. तु०—"आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना। यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥ (मनुस्मृति १२।१०६)

प्रवृत्ति की उपयोगिता या उपादेयता को कौन स्वीकार नहीं करेगा ? भारतीय संस्कृति की विचारधारा स्वयं इसी प्रवृत्ति का एक उत्कृष्ट निदर्शन है। इस ग्रन्थ में हम क्रमशः इसी बात का प्रतिपादन करना चाहते हैं।

परन्तु **सांप्रदायिक विचार-पद्धति से समुद्भूत** जिस एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति से यहाँ हमारा अभिप्राय है वह उक्त प्रकार की प्रवृत्ति से बहुत-कुछ भिन्न है। यहाँ हमारा अभिप्राय प्रायेण **मीमांसा-पद्धति-मूलक** उस एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति से है, जिसका उपयोग भारतवर्ष में अपने-अपने सांप्रदायिक या संप्रदाय-संबद्ध साहित्य में पाये जाने वाले परस्पर-विरुद्ध या विरुद्ध रूप में प्रतीत होने वाले मतों में, किसी प्रकार के संकोच या विस्तार के द्वारा, अविरोध, एकवाक्यता या समन्वय को स्थापित करने के लिए किया जाता रहा है।

प्रायेण सांप्रदायिक संघर्ष के वातावरण में ही इस प्रवृत्ति का उदय नहीं, तो विस्तार तो अवश्य ही हुआ था।

सांप्रदायिक संघर्ष के दिनों में विरोधियों के आक्षेपों के कारण प्रायः इसका प्रयत्न किया जाता है कि अपने-अपने संप्रदाय में ही जो अवान्तर विरुद्ध मत पाये जाते हैं, उनमें **किसी प्रकार** अविरोध स्थापित किया जाए।

अपनी सीमा के अन्दर यह प्रवृत्ति सर्वथा समुचित हो सकती है। किसी भी बुद्धिमान् व्यक्ति के लेखों या कथनों में जो विरोध दिखायी देता है, वह प्रायेण आपाततः ही होता है और उसमें अविरोध स्थापित करना समुचित माना जा सकता है।

परन्तु काल के भेद से या व्यक्तियों के भेद से पाये जाने वाले विचारों के भेद में **आवश्यक रूप से आग्रहपूर्वक** एकवाक्यता या समन्वय के स्थापित करने का प्रयत्न करना स्पष्टतः उपर्युक्त प्रवृत्ति की उचित सीमा का अतिक्रमण माना जाएगा।

भारतवर्ष में इस प्रकार औचित्य के अतिक्रमण की कहाँ तक चेष्टा की जाती रही है, इसको हम दो-चार निदर्शनों द्वारा दिखाना चाहते हैं।

विभिन्न कालों में और विभिन्न विचारकों द्वारा प्रतिपादित मतों के संग्रह-रूप उपनिषदों में यह स्वभावतः संभव है कि विश्व के मूल-तत्त्व के विषय में मुनियों के विचारों में परस्पर थोड़ी-बहुत विभिन्नता पायी जाए। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि एक जगह उस मूलतत्त्व को ब्रह्म के रूप में, अन्यत्र प्राण या आकाशादि के रूप में वर्णन किया गया है। इस प्रकार का दार्शनिक मतभेद संसार में सब जगह और सब कालों में पाया जाता है। ऐसा होने पर भी, **वेदान्त-सूत्र** (**=उत्तर-मीमांसा**) की रचना का मुख्य उद्देश्य यही है कि किसी प्रकार उपनिषदों के अन्तर्गत विभिन्न मतों में एकवाक्यता दिखायी जा सके।

इसी प्रकार धर्मशास्त्रों और कर्मकाण्डों में पाये जाने वाले परस्पर विरोधों या विभिन्नताओं का समाधान, काल-भेद से होने वाली स्वाभाविक परिवर्तन-शीलता के आधार पर न मान कर, प्रायेण उक्त प्रवृत्ति द्वारा ही दिखाने का प्रयत्न किया जाता रहा है।

तथाकथित **आस्तिक** दर्शनों में जो परस्पर विरोध पाया जाता है, उसका समाधान भी प्रायेण उक्त प्रवृत्ति के द्वारा ही किया जाता है।

अपने-अपने सम्प्रदायों में शब्द-प्रमाण के रूप में अभ्युपगत सिद्धान्तों की दृष्टि से प्राचीन साहित्य में पायी जाने वाली तद्विरुद्ध बातों के समाधान के लिए सांप्रदायिकों का यही सबसे पहला उपाय है। इतिहास में उनके अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध घटनाएँ हुई हैं, इसको तो यथासम्भव वे मानेंगे ही नहीं। कालभेद से विचारों में परिवर्तन होता रहता है, इसको भी वे प्रायः नहीं मान सकते। इन्हीं कारणों से विदेशी जातियों के, लाखों की संख्या में, इतिहास-प्रसिद्ध भारतीय-करण को, अथवा इतिहास से सिद्ध दूर-देशान्तरों के लिए भारतीयों की समुद्र-यात्रा को हमारे सांप्रदायिक धर्मशास्त्री कोई महत्त्व नहीं देते। प्रचलित धर्म-शास्त्रीय सिद्धान्तों के विरुद्ध विधवा-विवाह, क्षत्रिय का संन्यास-ग्रहण, ब्रह्मविद्योप-देश, या वर्ण-परिवर्तन जैसी कोई बात यदि प्राचीन ग्रन्थों में उल्लिखित मिल जाती है तो उसका समाधान भी ये सांप्रदायिक विद्वान् किसी प्रकार उपर्युक्त समन्वय-वाद की प्रवृत्ति के द्वारा ही करते हैं।

ऐतिहासिक बुद्धि के अभाव और विचार-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त को न मानने के साथ-साथ, उक्त एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति का एक बड़ा दोष यह भी है कि वह प्रायः अपने-अपने सम्प्रदाय में ही सीमित रहती रही है। यदि सांप्रदायिक भावना से रहित होकर इस प्रवृत्ति का उपयोग विभिन्न सम्प्रदायों के परस्पर समन्वय के लिए किया गया होता, तो यह कहीं अधिक उपयोगी सिद्ध होती और समष्टि-दृष्टि-मूलक भारतीय संस्कृति के सिद्धान्त के पास तक हमें ला सकती। परन्तु संकुचित उपयोग के कारण इससे साम्प्रदायिकता को ही बल मिलता रहा है।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, भारतीय संस्कृति की विचारधारा भी एक-वाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति को मानती है। परन्तु उसका दृष्टिकोण, संकुचित न होकर परम उदार है। इसका कारण उसकी वैज्ञानिक विचार-पद्धति ही है, जिसका निर्देश हम आगे चल कर करेंगे।

एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति से सांप्रदायिकों का सब जगह काम नहीं चलता। इसलिए विवश होकर उन्हें **अर्थान्तर या व्याख्या-भेद की प्रवृत्ति** का आश्रय लेना पड़ता है। उसी के स्वरूप को हम नीचे दिखाते हैं—

(२)

अर्थान्तर या व्याख्या-भेद की प्रवृत्ति

उपर्युक्त एकवाक्यता या समन्वय की प्रवृत्ति के साथ-साथ, सांप्रदायिक विचार-पद्धति की दूसरी प्रवृत्ति शब्दों, वाक्यों, या संपूर्ण ग्रन्थों के ही अर्थान्तर या व्याख्यान्तर करने की है। भारतवर्ष में यह प्रवृत्ति भी पराकाष्ठा तक पहुँची हुई मिलती है।

इस प्रवृत्ति का प्रारम्भ हमें ब्राह्मण-ग्रन्थों के काल से ही मिलता है। उपनिषदों में भी यह प्रवृत्ति दिखायी देती है। किसी भी मन्त्र या ऋचा की व्याख्या कई प्रकार से की जा सकती है और इस प्रकार उससे अपने अभिप्राय या मत की पुष्टि की जा सकती है, प्रायः ऐसा मान कर ही वैदिक मन्त्रों या ऋचाओं के उद्धरण इन ग्रन्थों में दिये गये हैं।

यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढ़ती गयी। अन्त में तो पूरे-पूरे ग्रन्थों की अपने-अपने मत के अनुसार व्याख्या करने का रिवाज-सा हो गया। इसका सबसे अधिक प्रसिद्ध निदर्शन **प्रस्थान-त्रयी** (=उपनिषद्, वेदान्तसूत्र, और भगवद्गीता) की विभिन्न सांप्रदायिक व्याख्याएँ हैं। शंकर, रामानुज, मध्व आदि सांप्रदायिक आचार्यों की इन ग्रन्थों पर व्याख्याएँ तो प्रसिद्ध ही हैं; इधर नवीन सांप्रदायिक विद्वानों ने भी अपनी-अपनी व्याख्याएँ लिखी हैं।

अपने-अपने सिद्धान्तों को शब्द-प्रमाण-मूलक सिद्ध करने के लिए सांप्रदायिक विद्वानों का बराबर यही प्रयत्न रहा है कि किसी न किसी प्रकार अपने पाण्डित्य के बल पर प्रामाणिक ग्रन्थों की अपने अनुसार व्याख्या करके अपने सिद्धान्त की पुष्टि की जाए।

आजकल तो यह प्रवृत्ति उपहास की सीमा तक पहुँच गयी है। वेद के मन्त्रों को कामदुघ मान कर, उनमें से अपने-अपने अभीष्ट अर्थ को निकालने की चेष्टा की जाती है। आधुनिक जगत् का कोई विज्ञान या आविष्कार ऐसा न होगा, जिसको वेद से सिद्ध करने का प्रयत्न न किया जाता हो। रेल और तार का तो वेद से निकालना साधारण-सी बात है। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि दूसरों द्वारा आविष्कृत विज्ञानादि की पुष्टि में ही ऐसा किया जाता है। ये वैदिक विद्वान् स्वोपज्ञ-रूप से कोई नया विज्ञान या आविष्कार वेद से नहीं निकाल पाते।

इन साम्प्रदायिक विद्वानों की कृपा से वेद 'भानमती का पिटारा' बन गया है। हाथ डालते ही मनचाही वस्तु उसमें से निकाली जा सकती है। वेद के अनेक स्थलों से जहाँ एक पक्ष मृतकश्राद्ध, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, यज्ञों में पशु-बलि, वेद में इतिहास आदि की पुष्टि करता है, वहाँ दूसरा पक्ष उन्हीं स्थलों से

तद्विपरीत अर्थ निकालने का प्रयत्न करता है। एक पक्ष से स्वीकृत 'देवों' को, जिनके मानने पर सारा वैदिक कर्मकाण्ड निर्भर है, दूसरा पक्ष 'विद्वानों' के अर्थ में लेता है। इस दृष्टि से वेद और वैदिक साहित्य में 'देव', 'पितृ' (पितरः), 'मांस' जैसे शब्दों का भी अर्थ अनिश्चित ही रह जाता है! यदि वास्तव में ऐसा ही है, तब तो प्रश्न किया जा सकता है कि वेदों का महत्त्व ही क्या रह जाता है?

एक बार १९४० के लगभग वेदों के एक प्रसिद्ध विद्वान् ने हमारे सभापतित्व में दिये गये अपने भाषण में 'मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिफार्म' के अनुसार जो धारासभाएँ आदि भारतवर्ष में चलायी गयी थीं उनके स्वरूप को वेदों के प्रमाणों से सिद्ध करके दिखला दिया था! हमारा विश्वास है कि वही विद्वान् वर्तमान भारतीय संविधान को अथवा किसी अन्य संविधान को भी उसी सरलता से वेदों के आधार पर सिद्ध कर सकेंगे!

हम नहीं कह सकते कि इस प्रकार, वर्तमान को प्राचीन काल में आरोपित करने की प्रवृत्ति (anachronism) पर निर्भर, मनमाने अर्थ मान्य ग्रन्थों पर लादने से हम उनका मान बढ़ाते हैं या उनको उपहासास्पद बनाते हैं?

कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि सांप्रदायिकों की अर्थान्तर करने की उपर्युक्त उपहासास्पद प्रवृत्ति का मूल न तो इतना शब्द-प्रमाणवादिता में या सत्यान्वेषण की भावना में होता है, जितना कि **"घटं भित्त्वा पटं छित्त्वा"** के अनुसार सत्यार्थ की बलि भी देकर अपने पक्ष की पुष्टि करने की इच्छा में होता है।

परन्तु अर्थान्तर करने की भी सीमा है। अनेक स्थलों में अर्थान्तर करने से भी सांप्रदायिकों का काम नहीं चलता। वहाँ उन्हें **प्रक्षिप्तवाद** का आश्रय लेना पड़ता। उसी का स्पष्टीकरण हम नीचे देते हैं :—

(३)

प्रक्षिप्तवाद की प्रवृत्ति

मुख्य रूप से शब्द-प्रमाण को ही मान कर चलने वाले सांप्रदायिक लोग जब अपनी मान्यता की कोटि के ग्रन्थों में ऐसे स्थल पाते हैं, जिनकी न तो अपने सिद्धान्तों से एकवाक्यता दिखायी जा सकती है, और न व्याख्यान्तर ही किया जा सकता है, उस दशा में वे उन स्थलों को बिना किसी संकोच के, आसानी से, **प्रक्षिप्त** (=पीछे से मिलाया गया) कह देते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि ग्रन्थों में, विशेषतः प्राचीन ग्रन्थों में, वास्तविक रूप में भी प्रक्षेपों का होना संभव है। परन्तु इनका क्षेत्र तथा प्रकार भी परिमित ही होता है। वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर अनेक प्रकार के साक्ष्य से ही ऐसे वास्तविक प्रक्षेपों का निर्णय किया जा सकता है। केवल अपने सिद्धान्त के विरोध

के कारण ही किसी स्थल को प्रक्षिप्त कह देना, सत्य की हत्या के साथ-साथ, दुःसाहस भी है।

प्रक्षिप्तवाद की प्रवृत्ति के विशेष उदाहरणों को देने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी दो-चार उदाहरण देना यहाँ अनुचित न होगा।

मृतक-श्राद्ध, अवतार-वाद, देवमंदिरों में मूर्ति-पूजा, वैदिक कर्म-काण्ड में पशु-बलि आदि को न माननेवाले सांप्रदायिक लोग जब मनुस्मृति जैसे ग्रन्थों में मृतक-श्राद्ध, भगवद्गीता में अवतार-वाद, वाल्मीकिरामायण में देवमन्दिरों में मूर्तिपूजा या इसी प्रकार की अन्य पौराणिक धर्म की बातें, तथा श्रौतसूत्रों और ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ में पशु-बलि के प्रतिपादक स्पष्ट स्थलों को पाते हैं, तब उनको प्रक्षिप्त कह कर ही किसी प्रकार विरोधियों से अपने प्राणों की रक्षा करते हैं। ये लोग कभी-कभी ऐसे ग्रन्थों के, तथाकथित प्रक्षिप्तांशों से रहित, 'विशुद्ध' (?) संस्करणों के प्रकाशन का भी साहस करते हैं।

उपर्युक्त प्रक्षिप्तवाद से मिलती-जुलती ही सांप्रदायिक विचार-पद्धति की कुछ अन्य प्रवृत्तियाँ भी हैं, जिनका संक्षेप से निर्देश करना यहाँ अनुचित न होगा।

(४)

सांप्रदायिक विचार-पद्धति की अन्य प्रवृत्तियाँ

सांप्रदायिक विचार-धारा शब्द-प्रमाण के प्राधान्य-वाद पर निर्भर है, यह हम ऊपर बता चुके हैं। इसी कारण सांप्रदायिक लोग देश में परम्परा से प्राप्त धार्मिक साहित्य में या तो प्रामाणिकता की दृष्टि से तर-तम-भाव की कल्पना करते हैं या उसके अंश या अंशों को अप्रामाणिक ही कहते हैं।

उदाहरणार्थ, पुराणों-उपपुराणों का बड़ा विस्तृत साहित्य भारतीय परम्परा से चला आया है। वर्तमान पौराणिक हिन्दू-धर्म के स्वरूप और विकास को समझने के लिए उनको एक अर्थ में हम **धार्मिक विश्व-कोश** कह सकते हैं। ऐतिहासिक सामग्री की दृष्टि से भी उनका अद्वितीय महत्त्व है। देश और विदेश के विद्वान् अब उनके महत्त्व को मुक्त-कण्ठ से स्वीकार करने लगे हैं।

ऐसा होने पर भी कुछ सांप्रदायिक दृष्टि के लोग उनकी निन्दा करते हुए नहीं थकते, उनको सर्वथा हेय तथा अप्रामाणिक ही समझते हैं।

इसी प्रकार धार्मिक साहित्य में ही **स्वतःप्रमाण** और **परतःप्रमाण** की कल्पना[1] भी शब्द-प्रमाण-वादी सांप्रदायिकों की अनैतिहासिक मनोवृत्ति का ही परिणाम है।

---

१. तु०—"**धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्ष्यं स्यात्। विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्।**" (मीमांसासूत्र १।३।१, ३)। इसी प्रसंग में **मनुस्मृति** (२।१३) पर कुल्लूक भट्ट की टीका देखिए—"अत एव जाबालः—**श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी।**"

सच्ची निर्दोष सांप्रदायिक निष्ठा के आधार पर किसी ग्रन्थ-विशेष में पवित्रता और श्रद्धा की भावना दूसरी बात है। वह क्षम्य ही नहीं, प्रशंसनीय भी हो सकती है। परन्तु वसी ही श्रद्धा के आवेग के कारण परम्परा से प्राप्त किसी विस्तृत साहित्य के प्रति विरोध और असहिष्णुता की भावना किसी प्रकार क्षम्य नहीं कही जा सकती।

संकीर्ण सांप्रदायिक मनोवृत्ति की एक दूसरी असहिष्णुता की प्रवृत्ति और भी अधिक अक्षम्य होती है। इसका निदर्शन हमको नवीन वैज्ञानिक पद्धति और उससे प्रवर्तित विज्ञानों और आविष्कारों के प्रति उसकी स्पष्ट या अस्पष्ट असहानुभूति में मिलता है।

जहाँ तक भौतिक विज्ञानों या आविष्कारों का सम्बन्ध है, यह प्रवृत्ति दो रूपों में प्रकट होती है। यदि उनके विषय में गुण-पक्ष और दोष-पक्ष दोनों हो सकते हैं, तब तो उनके दोष-पक्ष पर ही बल दिया जाता है। केवल गुण-पक्ष के होने पर, गुण-पक्ष को लेकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि उन विज्ञानों या आविष्कारों का उल्लेख हमारे प्राचीन ग्रन्थों में भी पाया जाता है।

परन्तु जो नूतन विज्ञान और आविष्कार भौतिक नहीं हैं, उनके विषय में तो संप्रदायवादियों का प्रायः यही कहना होता है कि वे वैज्ञानिकता के आधार से ही रहित हैं। १९वीं और २०वीं शताब्दियों ने **भाषाविज्ञान, मानवजातिविज्ञान, पुरातत्त्वविज्ञान, पुराणविज्ञान, मतविज्ञान** आदि अनेक नवीन विज्ञानों को जन्म दिया है। इन विज्ञानों से अनेक प्राचीन धारणाओं को धक्का लगा है। प्रायः इसीलिए इनके प्रति सांप्रदायिकों में तीव्र विरोध-भावना पायी जाती है। ऐसे सांप्रदायिक विद्वानों की कमी नहीं है, जो सांप्रदायिक मंचों पर, जहाँ धर्म-सदाचार का ही उपदेश होना चाहिए, इन नवीन विज्ञानों की हँसी उड़ाते हुए उनका खण्डन करते हैं। कभी-कभी वे यह भी कहते सुने जाते हैं कि इन 'तथाकथित' विज्ञानों के चलाने में पाश्चात्य विद्वानों का एक भयानक षड्यन्त्र है, जिसका अन्तरभिप्राय अपने देश के पारम्परिक विश्वासों और धारणाओं को केवल धक्का पहुँचाना है!

वास्तव में संकीर्ण सांप्रदायिक मनोवृत्ति के साथ, चाहे वह पश्चिम की हो या पूर्व की, ऐसी अनुदार भावना स्वभावतः ही रहती है।

ऊपर के प्रतिपादन से स्पष्ट हो गया होगा कि मुख्यतः ऐतिहासिक दृष्टि के न होने से, और अनुभव तथा परीक्षण आदि से निरपेक्ष शब्द-प्रमाण को ही प्रधान पद देने से, सांप्रदायिक विचार-पद्धति, सत्यान्वेषण के स्थान में, उलटे अनर्थ की संपादिका बन जाती है। उससे एक ओर सत्य की हत्या का, और दूसरी ओर विचार-स्वातंत्र्य के सर्वथा प्रतिषेध का भय उपस्थित हो जाता है।

उसका एक बड़ा दोष यह भी है कि वह अपनी दृष्टि सदा अपने ही संप्रदाय के ग्रन्थों में परिमित या बद्ध रखती हुई, न केवल अपने से भिन्न संप्रदाय के ग्रन्थों के विषय में, किन्तु देश की लम्बी परम्परा के विभिन्न स्तरों से संबद्ध विशाल साहित्य आदि के विषय में भी प्रायः उपेक्षा ही दिखाती है।

ऐसे ही कारणों से भारतीय संस्कृति की विचार-धारा के लिए, जिसका सम्बन्ध भारत के समस्त वाङ्मय और इतिहास से है, संकुचित **सांप्रदायिक विचार-पद्धति** को छोड़ कर, **वैज्ञानिक विचार-पद्धति** का ही अवलम्बन आवश्यक हो जाता है। उसी के स्वरूप और महत्त्व को हम संक्षेप में नीचे दिखाना चाहते हैं।

वैज्ञानिक विचार-पद्धति

वैज्ञानिक विचार-पद्धति का मुख्य आधार उसकी **तुलनात्मक और ऐतिहासिक प्रक्रिया** है। किसी विषय के स्वरूप को उपपत्ति और युक्ति के सहित समझने के लिए हमें उसके **इतिहास और विकास** के साथ-साथ उसकी **वर्तमान आपेक्षिक परिस्थिति** को भी ठीक-ठीक जानना आवश्यक होता है।

इसलिए व्यापक दृष्टि से भारतीय संस्कृति के स्वरूप, स्वभाव और विकास को, उसकी अत्यंत प्राचीन काल से आने वाली धारावाहिक जीवित परम्परा को, ठीक-ठीक समझने के लिए उसके इतिहास को जानने की अत्यन्त आवश्यकता है। इसके लिए सत्य के अन्वेषण में तत्पर, किसी प्रकार के पूर्वग्रह तथा पक्षपात से रहित, विवेचनात्मक व्यापक **ऐतिहासिक बुद्धि** की आवश्यकता है। इस ऐतिहासिक बुद्धि के परिपाक के लिए अन्य प्राचीन-परम्परागत संस्कृतियों के परिज्ञान के साथ-साथ भाषा-विज्ञान, मानव-जाति-विज्ञान, पुराण-विज्ञान आदि नवीन विज्ञानों के सिद्धान्तों को भी जानने की अपेक्षा होती है।

भारतीय संस्कृति की कोई ऐतिहासिक विकासात्मक परम्परा है, यह दिखाने के लिए हमें अनिवार्य रूप से उसकी प्रगतिशीलता के सिद्धान्त को मानना आवश्यक हो जाता है। प्रगतिशीलता के सिद्धान्त को मान लेने पर ऐतिहासिक शोध में सांप्रदायिक विचार-पद्धति और उसकी पूर्वोक्त प्रवृत्तियों के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता। सत्यान्वेषण की भावना से प्रवृत्त ऐतिहासिक का कर्तव्य है कि वह सब प्रकार के पूर्वग्रह और पक्षपात से रहित होकर भारतीय संस्कृति के विभिन्न कालों की **वस्तु-स्थिति** का निरूपण करे। इसलिए उसको प्रयत्न करना पड़ता है कि उसकी विवेचना पर किसी सांप्रदायिक झुकाव का किसी प्रकार का अनुचित प्रभाव न पड़े और वह प्रत्येक काल के साथ न्याय कर सके। ऐसी अवस्था में न तो उसे बलात् कृत्रिम एकवाक्यता या समन्वय की, न अर्थान्तर की, और न प्रक्षिप्तवाद के आश्रय की अपेक्षा होती है। वह किसी भी वस्तु-स्थिति को अच्छे या बुरे रूपान्तर में दिखाना अपनी न्याय्य-बुद्धि के विपरीत ही समझता है।

एक काल को दूसरे काल में अध्ययन या आरोप करने की प्रवृत्ति (anachronism) अबुद्धि-पूर्वक सांप्रदायिकों के अतिरिक्त अन्य लोगों में भी देखी जाती है। उदाहरणार्थ, वेदमन्त्रों की व्याख्या में आजकल यह प्रवृत्ति प्रायः पायी जाती है। सच्चे ऐतिहासिक को इस प्रवृत्ति की ओर से अपने को सदा सचेत रखना पड़ता है।

भारतवर्ष में हम लोगों की प्रायेण यही प्रवृत्ति रही है कि हम बड़े-बड़े धार्मिक आन्दोलनों को, अवतारी महापुरुषों को और बड़ी-बड़ी ऐतिहासिक घटनाओं को पूर्वापर परिस्थितियों से असंबद्ध तथा असंपृक्त अथवा आकस्मिक घटना के रूप में ही देखते हैं। उदाहरणार्थ, भगवान् कृष्ण के अवतार के विषय में हमें इतने से ही सन्तोष हो जाता है कि कंस आदि पापियों के संहार के लिए ही वह अवतार हुआ था। देश की धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि पूर्ववर्ती परिस्थिति में उस अवतार की आवश्यकता को हम नहीं ढूँढ़ते; न यह जानना चाहते हैं कि देश की परवर्ती परिस्थितियों पर उसका चिरस्थायी अथवा अचिरस्थायी क्या प्रभाव पड़ा। परन्तु वैज्ञानिक पद्धति के अनुसरण में हमें इन सब बातों का उत्तर देना आवश्यक हो जाता है।

जैसे भौतिक जगत् में आँधी के आने से पहले वायुमण्डल की एक विशेष अवस्था होती है और आँधी भी उसी अवस्था के कारण आती है। साथ ही, आँधी, स्वयं समाप्त हो जाने पर, वायु-मण्डल में अपने विशेष प्रभाव को छोड़ जाती है। इसी प्रकार महान् आन्दोलनों और अवतारी महापुरुषों की पूर्ववर्ती और परवर्ती परिस्थितियों में कार्यकारणभाव की परम्परा रहती है। वैज्ञानिक पद्धति का कर्तव्य है कि वह इसका पता लगाए और इसका निरूपण करे।

वास्तव में, किसी भी इतिहास के समान ही, भारतीय संस्कृति का इतिहास भी इसी प्रकार की कार्यकारण-भाव की परम्पराओं से निर्मित है। हमारा कर्तव्य है कि हम वैज्ञानिक पद्धति के अवलम्बन से उन परम्पराओं का अध्ययन करें।

> **भारतीय संस्कृति के लम्बे इतिहास में काल-भेद से जो विभिन्न स्तर पाये जाते हैं, हमारा कर्तव्य है कि हम , न केवल उनके परस्पर सम्बन्ध का ही, किन्तु प्रत्येक स्तर की पूर्वावस्था और अनन्तरावस्था का भी, उन-उन त्रुटियों का भी, जिनके कारण एक स्तर के पश्चात् अगले स्तर का आना आवश्यक होता गया, पता लगावें; जिससे एक धारावाहिक जीवित परम्परा के रूप में भारतीय संस्कृति को हम समझ सकें।**
>
> **उपर्युक्त प्रकार के अध्ययन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति के विभिन्न कालों के साथ हमारी, न केवल ममत्व की या तादात्म्य की ही भावना हो, किन्तु बुद्धि-युक्त सहानुभूति भी हो।**

उपर्युक्त वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करते हुए ही हम भारतीय संस्कृति की धारा के अपने इस विशेष अध्ययन को करना चाहते हैं।

चौथा परिच्छेद

भारतीय संस्कृति की विचारधारा का लक्ष्य

भारतीय संस्कृति के संबंध में हमने अब तक जो कुछ कहा है उससे यह स्पष्ट है कि भारतीय परम्परा की सूत्रात्मा की ओर संकेत करने वाला **'भारतीय संस्कृति'** शब्द-समुदाय या अभिधान एक ऐसी समन्वयात्मक भावना को अभिव्यक्त करता है, जो एक प्रकार से भारतीय विचारधारा में नयी वस्तु है। इसीलिए उसका एक नया सन्देश है, उसका अपना विशेष लक्ष्य है। इस परिच्छेद में हम उसीको व्यक्त करना चाहते हैं। साथ ही, भारतीय संस्कृति के विभिन्न स्तरों के संबंध में आगे जो कुछ हमें कहना है उसके विशिष्ट दृष्टिकोण पर भी कुछ प्रकाश डालना चाहते हैं।

भारतीय राजनीतिक इतिहास में 'लोकतन्त्रात्मक गणराज्य' की स्थापना एक अनोखी घटना है। इसके द्वारा, भारत के किसी विशिष्ट वर्ग को नहीं, अपितु भारतीय जनता को विदेशीय परतन्त्रता से और कोटि-कोटि व्यक्तियों के समुचित विकास में बाधक अपने देश की रूढ़ियों से भी मुक्ति प्राप्त हुई है।

भारतीय संस्कृति की नवीन विचारधारा भी सांस्कृतिक क्षेत्र में ऐसी ही क्रान्तिमयी भावना को लेकर प्रवृत्त हुई है। राष्ट्र में **सांस्कृतिक एकता की चेतना का उद्बोधन** उस का मुख्य उद्देश्य है। इसकी प्राप्ति में अनेकानेक बाधक प्रवृत्तियाँ सहस्रों वर्षों से भारतवर्ष के इतिहास में काम करती रही हैं। अब भी उनका बहुत-कुछ अस्तित्व है। उन को स्पष्ट करते हुए, उनके उन्मूलन के प्रकारों को दिखाना अत्यावश्यक है।

भारतीय अन्तरात्मा ने राजनीतिक क्षेत्र में विभिन्न परम्परागत राज्यों के विलयन का जो चमत्कारी दृश्य उपस्थित किया है, वह हमारे लिए एक अभिमान की वस्तु है। कौन नहीं जानता कि हमारे प्राचीन इतिहास में ऐसे ही राज्यों

के कारण भारत प्रायः छिन्न-भिन्न रहा है; और उसकी विदेशी परतन्त्रता का मुख्य कारण ऐसे ही राज्यों की स्थिति थी।

हमें पूरी आशा है कि अब सांस्कृतिक क्षेत्र में भी अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता या पृथक् संस्कृति का अभिनिवेश या दुरभिमान रखने वाले, हमारे विभिन्न संप्रदाय अपने को एक ही व्यापक समन्वयात्मक भारतीय संस्कृति का अंग समझने लगेंगे। सांस्कृतिक एकता की चेतना के उद्बोधन से हमारा यही अभिप्राय है।

उत्तररामचरित में महाकवि भवभूति ने कहा है :—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥

अर्थात्, जैसे एक ही जल भँवर, बुलबुले और तरङ्गों के रूपों में देखा जाता है, इसी तरह मूल में एक ही करुण रस निमित्तभेद से विभिन्न रूपों में देखा जाता है।

व्यापक भारतीय संस्कृति के साथ विभिन्न संप्रदायों का वास्तव में ऐसा ही संबंध है। इसी भावना की वास्तविक अभिव्यक्ति और स्पष्ट अनुभति ही भारतीय संस्कृति की विचारधारा का अभिप्राय है।

भारतीय संस्कृति का संकुचित अर्थ

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि हम बराबर 'भारतीय संस्कृति' को उसके अत्यन्त व्यापक अर्थों में लेते हैं। भारतान्तर्गत सब संप्रदाय उसकी परिधि के अन्दर आ जाते हैं। परन्तु दुर्भाग्यवश 'भारतीय संस्कृति' शब्द-समुदाय का संकुचित अर्थों में भी प्रयोग हमारे देश में हो रहा है। प्रथम परिच्छेद में हम इस ओर संकेत कर चुके हैं। मन में अनेक प्रकार के दुराव या बचाव रख कर लोग इसका प्रयोग करते हैं। ऐसे ही लोग भारतीय राष्ट्र की **संप्रदाय-निरपेक्षता या सांप्रदायिक-समभाव** की आदरणीय नीति के विरोध में, संकुचित भारतीय संस्कृति की आड़ में एक राजनीतिक पक्ष स्थापित करने का विफल प्रयत्न करते रहते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि हमारे अभिप्राय से भारतीय संस्कृति की विचारधारा राष्ट्र की उपर्युक्त असांप्रदायिक नीति की ही समर्थक और पोषक है।

भारतीय संस्कृति और विभिन्न संप्रदाय

जैसा ऊपर कह चुके हैं, किसी भी सभ्य समाज में विभिन्न संप्रदायों का पाया जाना स्वाभाविक होता है; विशेषतः भारतवर्ष जैसे विशाल और प्राचीन देश में। ऐसा होने पर भी, उनमें पारस्परिक सच्ची सद्भावना हो सकती है। संस्कृत साहित्य में "इति संप्रदायः" जैसे स्थलों में 'संप्रदाय' शब्द का बिलकुल

निर्दोष प्रयोग पाया भी जाता है। विभिन्न विश्व-विद्यालयों में विद्या और ज्ञान के क्षेत्र में जैसी स्पर्धा पायी जाती है, वैसी ही स्पर्धा किसी स्पृहणीय आदर्श को लेकर संप्रदायों में भी होनी चाहिए। किसी भी अवस्था में उनमें विद्वेष की भावना अक्षम्य होनी चाहिए। इसलिए सच्चे अर्थों में चिरस्थायी भारतीय एकराष्ट्रीयता की पुष्टि के लिए यह परम आवश्यक है कि हमारे विभिन्न संप्रदायों में, समष्टि-दृष्टि-मूलक व्यापक भारतीय संस्कृति के आधार पर, पारस्परिक सच्ची सद्भावना और सामञ्जस्य की प्रवृत्ति बढ़ायी जाए। इसके लिए आवश्यक है कि

प्रथम तो, हमारे विभिन्न संप्रदायों में एक-दूसरे के प्रति समादर और सहिष्णुता की भावना हो, और

दूसरे, हम उन संप्रदायों को भगवती गङ्गा की तरह प्रगति-शील समन्वयात्मक भारतीय संस्कृति का **पूरक** ही समझें।

दूसरे शब्दों में, अब तक संप्रदायों में जो **असमानान्तरता या प्रतिद्वन्द्विता** की भावना चली आ रही है, उसके स्थान में, वे सब समय, स्थिति और स्थान के भेद से एक ही भारतीय संस्कृति की प्रगति के पोषक हैं, इस भावना को स्थापित करने की आवश्यकता है।

भारतवर्ष में सांप्रदायिक नेताओं की स्वार्थ या संकीर्णता की दृष्टि के कारण संप्रदायों का जो इतिहास रहा है, वह ऊपर के आदर्शों के बहुत कुछ विरुद्ध ही रहा है। अभी हाल के हिन्दू-मुसलमानों के सांप्रदायिक घोर रक्त-पात को जाने दीजिए; उस समय से पहले के उस सांप्रदायिक असहिष्णुता के वातावरण को स्मरण कीजिए, जब, विदेशी राजनीतिक परतन्त्रता के रहने पर भी, हमारे सभा-मंचों से हमारे धुरंधर सांप्रदायिक महारथी दूसरे संप्रदायों के, उनके प्रवर्तकों के और उनकी धर्म-पुस्तकों के खण्डन में, उनकी धज्जियाँ उड़ाने में, लगे थे, और 'शास्त्रार्थों' तथा उनके लिए 'आह्वानों' से आकाश गुंजायमान रहता था। सौभाग्य से वह स्थिति अब प्रायः नाम-मात्र को शेष है।

पवित्र कुंभ के मेलों पर विभिन्न संप्रदाय के महन्तों और अखाड़ों की सवारियों के निकलने पर संसार से 'विरक्तों' के रक्तपात तक की कहानियाँ किसने न सुनी होंगी!

धर्म के नाम पर सांप्रदायिक प्रतिद्वन्द्विता, पृथक्ता की भावना, धार्मिक नेताओं द्वारा समर्थन-प्राप्त जाति-भेद और वर्ण-भेद की भावना किस विषैले रूप में हमारे वर्तमान सामाजिक जीवन में व्याप्त हैं, इसके दो-चार और निदर्शनों को भी हम नीचे देते हैं।

सांप्रदायिक तथा जातिगत और वर्णगत संकुचित भेद-भावना के वातावरण में लिखे गये साहित्य को ही दिन-रात पढ़ने वाले लोगों के लिए यह स्वाभाविक है कि वे उस भेदभावना को अपने जीवन का चरम लक्ष्य समझें। इसीलिए

उनके द्वारा संचालित विद्यालयों में अब भी अध्यापकों की नियुक्ति और छात्रों के प्रवेश में उक्त संकीर्ण भेद-भावना पूर्णतया उग्र रूप में पायी जाती है। प्रसिद्ध राजकीय संस्कृत महाविद्यालय भी इस महारोग से प्रायः अछूते नहीं रहे हैं। शूद्र या अहिन्दू के प्रवेश की तो बात ही क्या, उनमें जैन, बौद्ध, आर्यसमाजी आदि छात्रों के प्रवेश पर भी, **मनुस्मृति** आदि धर्मशास्त्रों के नाम पर, घोर आपत्ति की जाती रही है!

एक राजकीय संस्कृत महाविद्यालय में तो एक बार माध्व संप्रदाय की गद्दी की स्थापना पर भी विद्वन्मण्डली ने असन्तोष प्रकट किया था!

बड़े खेद की बात है कि हमारी आधुनिक शिक्षा-संस्थाओं में भी यह रोग पाया जाता है। एक बार एक प्रसिद्ध कालेज को हमें दिखाते हुए उसके प्रिंसिपल ने, बड़े गर्व के साथ, निजी तौर पर, हमसे कहा था कि किसी न किसी तरह वे ऐसा प्रयत्न करते हैं कि जाति-विशेष के ही बालक अधिक से अधिक उस कालेज में प्रविष्ट हों। हमारे विश्वविद्यालयों तक में इन संकीर्ण भेद-भावनाओं ने प्रवेश कर लिया है, यह भी हम से छिपा नहीं है। विश्वविद्यालयों के नाम के साथ 'हिन्दू', 'मुसलिम' शब्दों को तो हम गर्व के साथ स्मरण करते ही हैं!

इंग्लैंड के स्कूलों और विश्वविद्यालयों में किसी भी देश और जाति के छात्र पढ़ सकते हैं; पर 'सार्वभौम वैदिक धर्म' के आदर्श पर स्थापित हमारे गुरुकुलों में अभी तक, अभारतीय तो क्या, सब भारतीय संप्रदायों के छात्र भी प्रविष्ट नहीं हो सकते!

अपने नवीन राजनीतिक जीवन के चुनाव और 'ग्राम-पंचायत' जैसे प्रयोगों में भी उक्त विषैले प्रभाव को देख कर कभी-कभी बड़ी निराशा और आत्मग्लानि का अनुभव होता है।

उपर्युक्त संकीर्ण भावनाओं का उत्तरदायित्व बहुत कुछ हमारे प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य पर है। इसलिए उस साहित्य की भी थोड़ी-सी चर्चा यहाँ अप्रासङ्गिक न होगी।

प्राचीन साहित्य में सांप्रदायिक भावना

महाभाष्य में एक सूत्र के उदाहरण के रूप में दिये गये **'श्रमण-ब्राह्मणम्'** का निर्देश हम प्रथम परिच्छेद में कर चुके हैं।

"अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः" (पाणिनि-सूत्र ४।४।६०) सूत्र से **'आस्तिक'**, **'नास्तिक'**, और **'दैष्टिक'** शब्द सिद्ध होते हैं। टीकाकारों[1] के अनुसार इन

---

१. तु० **"परलोकोऽस्तीति यस्य मतिरस्ति स आस्तिकः। तद्विपरीतो नास्तिकः"** (काशिका ४।४।६०)।

विशुद्ध दार्शनिक शब्दों का मूल में सांप्रदायिकता से कोई संबंध नहीं था। पर पीछे से सांप्रदायिक संघर्ष के दिनों से, **मनुस्मृति** के "नास्तिको वेदनिन्दकः" (२।११) इस कथन के अनुसार, **'नास्तिक'** शब्द बौद्ध, जैन आदि के लिए निन्दा के रूप में रूढ़-सा हो गया है, और इस शब्द द्वारा हमारे दार्शनिक क्षेत्र में भी सांप्रदायिकता ने चिरकाल से प्रवेश पा लिया है।

मीमांसादर्शन का महत्त्व वैदिकों की दृष्टि में निर्विवाद है। उसीके एक प्रकरण की (**मीमांसासूत्र** १।३।५-७) व्याख्या करते हुए **माधवाचार्य** ने अपने **जैमिनीयन्यायमालाविस्तर** में कहा है :—

शाक्योक्ताहिंसनं धर्मो न वा, धर्मः श्रुतत्वतः।
न धर्मो नहि पूतं स्याद् गोक्षीरं श्वदृतौ धृतम्॥

अर्थात्, जैसे कुत्ते के चमड़े की थैली या कुप्पी में रखा हुआ गौ का दुग्ध ग्राह्य नहीं होता है, इसी तरह महात्मा बुद्ध आदि अवैदिकों द्वारा प्रतिपादित अहिंसा, अपरिग्रह आदि का उपदेश भी प्रामाणिक या आदरणीय नहीं माना जा सकता!

सुप्रसिद्ध **न्यायमञ्जरी** ग्रन्थ का कर्ता **जयन्तभट्ट** बौद्ध आदि अवैदिक संप्रदायों के लिए 'पापकाचारोपदेशी', 'वेदबाह्य,' 'मोहप्रवृत्त' आदि विशेषणों का प्रयोग करके, अन्त में कहता है[1] कि उनके अनुयायियों का **'नरके पतनम्'** (=नरक-वास) ही होता है।

इसी प्रकार, **वाचस्पतिमिश्र** जैसे परमविद्वान् ने, **सांख्यतत्त्वकौमुदी** में बौद्ध, जैन आदि संप्रदायों के मान्य ग्रन्थों को 'आगमाभास' कहते हुए, उनके लिए 'म्लेच्छ', 'पुरुषापसद', 'पशुप्राय' जैसे अपशब्दों का प्रयोग किया है[2]।

दार्शनिक क्षेत्र में यह सांप्रदायिक असहिष्णुता की प्रवृत्ति बढ़ते-बढ़ते स्वयं 'आस्तिक' कहलाने वाले दर्शनों में भी प्रविष्ट हो गयी। सुप्रसिद्ध विद्वान् **अप्पय दीक्षित** का **मध्वतन्त्रमुखमर्दन** और उस पर उनकी अपनी टीका **मध्वमतविध्वंसन** इसी प्रवृत्ति के निदर्शन हैं।

चौदहवीं ईसवी शताब्दी के परम-प्रसिद्ध विद्वान् **माधवाचार्य** द्वारा निर्मित **शंकरदिग्विजय**-जैसे ग्रन्थ में **श्री शंकराचार्य** और **मण्डन मिश्र** के परस्पर शास्त्रार्थ के वर्णन में सांप्रदायिक असहिष्णुता के साथ-साथ अशोभन भावों का

---

१. देखो न्यायमञ्जरी का प्रमाण-प्रकरण (पृ० २४२—३, बनारस का १९३६ का संस्करण)।

२. देखिए—"...**शाक्यभिक्षुनिर्ग्रन्थकसंसारमोचकादीनामागमाभासाः परिहृता भवन्ति।...एतेषां....कैश्चिदेव म्लेच्छादिभिः पुरुषापसदैः पशुप्रायैः परिग्रहा-द्....।** (सांख्यतत्त्वकौमुदी ५)

जो प्रदर्शन किया गया है, वह अक्षम्यता की सीमा तक पहुँचा हुआ प्रतीत होता है।[४]

हमारे पुराणों–जैसे प्राचीन धार्मिक साहित्य में भी जब सांप्रदायिक असहिष्णुता की भावना यत्र-तत्र पायी जाती है, तब और साहित्य का तो कहना ही क्या! पुराणों में शैवों द्वारा वैष्णवों की और वैष्णवों द्वारा शैवों की निन्दा के उदाहरण हम पहले दिखा चुके हैं। एक ही महामुनि व्यास द्वारा संकलित कहे जानेवाले पुराणों में यह परस्पर विरोध की भावना क्यों और कैसे पायी जाती है, विद्वानों के लिए यह एक विवेचनीय विषय है।

जैन, बौद्ध आदि संप्रदायों का साहित्य भी इस सांप्रदायिक असहिष्णुता की भावना से खाली नहीं है।

चिर-परम्परा से प्राप्त इस सांप्रदायिक असहिष्णुता का प्रभाव भारतीय समाज में अब भी किसी-न-किसी रूप में पाया जाता है। इसी कारण से समन्वयात्मक भारतीयता की सजीव भावना से हम अभी बहुत दूर हैं।

भारतीय संस्कृति की अन्तरात्मा

भारतीय संस्कृति की अन्तरात्मा उक्त सांप्रदायिक विद्वेष की भावना से ऊपर ही रही है। वैदिक समय से लेकर अब तक उसने समय-समय पर समन्वय के लिए बराबर प्रयत्न किया है। जहाँ वैदिक मन्त्रों में हमें—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

(यजु० ३२।१)

(अर्थात्, अग्नि, आदित्य, वायु, प्रजापति आदि देवता वास्तव में एक ही मूलतत्त्व की विभूतियाँ हैं) ऐसे विचार मिलते हैं, वहाँ मनुस्मृति भी स्पष्टतया कहती है—

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥

(१२।१२३)

अर्थात्, अग्नि, प्रजापति, इन्द्र आदि नामों से वास्तव में एक ही मूलतत्त्व को कहा जाता है।

हमारे इतिहास के मध्यकाल में भी तत्त्व-विचारकों ने

एकस्य कस्यचिदशेषजगत्प्रसूति-
हेतोरनादिपुरुषस्य महाविभूतेः।

---

४. तु० "कन्थां वहसि दुर्बुद्धे गर्दभेनापि दुर्वहाम्। शिखायज्ञोपवीताभ्यां कस्ते भारो भविष्यति॥", "यासां स्तन्यं त्वया पीतं यासां जातोऽसि योनितः। तासु मूर्खतम स्त्रीषु पशुवद्रमसे कथम्॥" (८।२०, २५) इत्यादि।

सृष्टिस्थितिप्रलयकार्यविभागयोगाद्
ब्रह्मेति विष्णुरिति रुद्र इति प्रतीतिः ।।

(अर्थात्, एक ही अनादि पुरुष को सृष्टि, स्थिति और प्रलय के कार्यभेद के कारण ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र नाम से कहा जाता है), तथा

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः ।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ।।

(अर्थात्, शैव, वेदान्ती, बौद्ध, जैन आदि शिव, ब्रह्म, बुद्ध, अर्हन् आदि के रूप में एक ही तत्त्व की उपासना करते हैं) इत्यादि सुन्दर और हृदयाकर्षक शब्दों में जनता में समन्वयात्मक भावना को जगाने का प्रयत्न किया है। बुद्ध भगवान् की हमारे प्रमुख अवतारों में गणना भी इसी प्रवृत्ति का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है ।

हमारे इतिहास के पिछले काल में लोक-वन्दनीय महात्मा कबीर और नानक जैसे सन्तों ने मुसलमानों को भी सम्मिलित करके भारतीय संस्कृति में अत्यन्त व्यापक समन्वय-भावना की जो धारा बहायी थी, वह हमारी संस्कृति का सर्वोत्कृष्ट निदर्शन है ।

वर्तमान भारत को, न केवल अपने ही लिए, अपितु संसार के कल्याण के लिए भी, ऐसे ही सन्तों की आवश्यकता है ।

ऐसा होने पर भी, सांप्रदायिक नेताओं ने, स्वार्थ-निष्ठ आर्थिक और राजनीतिक कारणों के आधार पर, सांप्रदायिक विरोध और असहिष्णुता को प्रोत्साहन देने और बढ़ाने का सदा से ही काम किया है ।

इस कथन में जितनी सत्यता आज है, उतनी ही हमारे प्राचीन और मध्य-काल के इतिहास में भी रही है ।

हमारा विश्वास है कि समन्वयात्मक भारतीय संस्कृति की भावना के आधार पर ही हम अपनी परम्परागत सांप्रदायिक संकीर्ण भावनाओं को दूर करके संप्रदायों में परस्पर समादर, सहिष्णुता और 'पूरकता' की बुद्धि की स्थापना कर सकते हैं ।

भारतीय संस्कृति की भावना का मूर्त रूप

समन्वयात्मक भारतीय संस्कृति की भावना को जनता में बद्धमूल करने और मूर्त-रूप देने के लिए आवश्यक है कि हम

(१) विभिन्न संप्रदायों के उत्कृष्ट साहित्य को भारतीय संस्कृति की अवि-च्छिन्न धारा से संबद्ध मानते हुए, उसे अपनी राष्ट्रीय संपत्ति और अपना दाय समझें और उससे लाभ उठाएँ;

(२) उनके अपने-अपने महापुरुषों को सबका पूज्य और मान्य समझें; और

(३) अपने विचारों को सांप्रदायिक पारिभाषिकता से निकाल कर, उनके वास्तविक अभिप्राय को समझने का यत्न करें। दूसरे शब्दों में, प्राचीन ग्रन्थों के वचनों के शब्दानुवाद के स्थान में भावानुवाद की आवश्यकता है।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि उपर्युक्त उपायों के अवलम्बन से जहाँ एक ओर हमारी अपने-अपने संप्रदाय में श्रद्धा बढ़ेगी, वहाँ दूसरी ओर वर्तमान सांप्रदायिक संकीर्णता के हटने से संप्रदायों में परस्पर सहानुभूति, समादर और सहिष्णुता की भावना की वृद्धि भी होगी। इसी प्रकार हममें समष्टयात्मक भारतीय-संस्कृति की भावना बद्धमूल हो सकती है।

समष्टयात्मक भारतीय संस्कृति की भावना के उद्बोधन के लिए जो आवश्यक उपाय हमने ऊपर दिखाये हैं, उनकी कुछ व्याख्या की अपेक्षा होने से उसे हम संक्षेप में नीचे देते हैं—

१—विभिन्न संप्रदायों के उत्कृष्ट साहित्य का अध्ययन

विभिन्न संप्रदायों के उत्कृष्ट साहित्य को, भारतीय संस्कृति की अविच्छिन्न परम्परा से संबद्ध मान कर ही, पढ़ने से जहाँ एक ओर हम भारतीय संस्कृति की धारा के प्रवाह और स्वरूप को जान सकते हैं, वहाँ दूसरी ओर उन संप्रदायों की वास्तविक पृष्ठभूमि को और भारतीय संस्कृति में उनकी देन, स्थान और उपयोगिता को भी ठीक-ठीक समझ सकते हैं।

उदाहरणार्थ, बौद्ध और जैन संप्रदायों के प्रभाव को समझे बिना हम गृह्यसूत्रों, श्रौतसूत्रों आदि में वर्णित वैदिक धर्म के कालान्तर में होने वाले पौराणिक धर्म के रूप में महान् परिवर्तन को समझ ही नहीं सकते। सिद्धों और सन्तों के साहित्य के परिचय के बिना शूद्र कहलाने वाली जातियों के संबंध में होने वाले क्रमिक दृष्टि-परिवर्तन को नहीं समझा जा सकता। भारतवर्ष में इसलाम के प्रभाव को समझे बिना महात्मा कबीर और नानक के स्वरूप को और सिख संप्रदाय के उत्थान को हम नहीं समझ सकते। इसी तरह क्रिश्चियन धर्म के प्रभाव को समझे बिना हिन्दू-धर्म के आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज आदि नवीन आन्दोलनों को तथा रामकृष्ण-सेवाश्रम जैसी संस्था के उदय को कैसे समझा जा सकता है?

भारतीय संस्कृति की प्रगतिशील अविच्छिन्न परम्परा की दिव्य-दृष्टि से ही हमें भारतीय संस्कृति के विकास में व्यास, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, शंकर, कबीर आदि सन्त, दयानन्द और गाँधी आदि अवतारी महापुरुषों की देन और महत्ता का स्पष्ट अनुभव हो सकता है।

इसके अतिरिक्त, सबसे बड़ा लाभ तो, सांस्कृतिक दृष्टि से, यह होगा कि हम, अशोभन संकीर्णता और अनुदारता के वातावरण से अपने को पृथक् करके,

सच्चे सुसंस्कृत भारतीय के रूप में भारत के समस्त उत्कृष्ट तत्त्व-विचारकों और उदात्त-चरित अवतारी महापुरुषों से अपना साक्षात् नाता जोड़ते हुए, उनके उत्कृष्ट विचारों और कल्याण-प्रद उपदेशों से लाभ उठा सकेंगे। इस प्रकार भारत का प्रत्येक सुशिक्षित जन भारत के लम्बे इतिहास से, उसके समस्त उत्कृष्ट साहित्य से और महान् व्यक्तियों से अपने संबन्ध को जोड़ कर अभूतपूर्व गौरव और गर्व का अनुभव कर सकता है।

यूरोप के लोग क्रिश्चियन धर्म को मानते हुए भी, उत्कृष्ट ग्रीक और लैटिन साहित्य का, घनिष्ठ सांस्कृतिक संबन्ध के कारण, श्रद्धा और निष्ठा के साथ अध्ययन करते हैं।

हम लोग भी विदेशी उत्कृष्ट साहित्य के अध्ययन में गर्व का अनुभव करते हैं।

अनेक विदेशी विद्वानों ने आजीवन घोर परिश्रम और तपस्या करके हमारे विभिन्न संप्रदायों के साहित्य का सादर अध्ययन किया है।

इस पर भी हम भारतीय अपनी सांप्रदायिक संकीर्ण मनोवृत्ति के कारण अपने ही देश के महान् व्यक्तियों के उदात्त विचारों से अपने को वंचित रखते रहे हैं। हमारे पण्डित बौद्ध और सन्त साहित्य को महत्त्व नहीं देते। सुशिक्षित मुसलमान भी गीता और उपनिषदों को नहीं पढ़ते।

अन्य संप्रदायों के साहित्य का पढ़ना तो दूर रहा, इधर सांप्रदायिक संकीर्णता के कारण विभिन्न संप्रदायों के साहित्य की निन्दा और खण्डन में ही अधिक ध्यान दिया गया है!

२—विभिन्न सम्प्रदायों के महापुरुषों का समादर

जो कुछ ऊपर विभिन्न संप्रदायों के उत्कृष्ट साहित्य के विषय में कहा है, वह बहुत कुछ उनके महापुरुषों के विषय में भी ठीक है।

सांप्रदायिक संकीर्णता के कारण भारत की महान् विभूतियों के साथ हमने घोर अन्याय किया है; न केवल भिन्न संप्रदाय वालों ने ही, अपितु उनके अनुयायियों ने भी। भिन्न संप्रदायवालों की उनके प्रति उपेक्षा का एक मुख्य कारण यह रहा है कि सांप्रदायिकों ने अपने महान् व्यक्तियों को अपनी ही सीमा में 'क़ैद' कर रखा है। संसार में बड़े से बड़े पुरुषों का महत्त्व और ग्रन्थों की उपयोगिता प्रायः इसी लिये कम हो जाते हैं, क्योंकि उनको उनके ही मानने वालों ने तत्तत् संप्रदाय की चहारदीवारी के अन्दर बन्द कर दिया होता है।

इसलिए भारतीयता के नाते हम सबका कर्तव्य है कि हम भारत की महान् विभूतियों को सांप्रदायिकता के संकीर्ण वातावरण से निकाल कर, नवीन भारत के स्वच्छ जीवन-प्रद खुले असांप्रदायिक वातावरण में बिठा कर, उन सब में ममत्व का अनुभव करें। वास्तव में कृष्ण, बुद्ध, महावीर और गाँधी—जैसे महापुरुष, किसी संप्रदाय के क्या, किसी देश-विशेष के भी नहीं होते। वे तो

संसार भर के होते हैं। मानव-मात्र का कल्याण उनका ध्येय होता है। उनका सन्देश सार्वभौम होता है।

३—सांप्रदायिक पारिभाषिकता का दुष्प्रभाव

सांप्रदायिक पारिभाषिकता से हमारा अभिप्राय रूढ़िवाद की उस अन्धप्रवृत्ति से है, जिसके कारण मनुष्य अपने सांप्रदायिक ग्रन्थों के वचनों का और रूढ़ियों का, उनके मौलिक अभिप्राय को समझे बिना, केवल चेतनाहीन यांत्रिक दृष्टि से, अनुसरण करना चाहता है। किसी भी विधि-विधान की महत्ता उसके मौलिक अभिप्राय में रहती है, यह न समझ कर वह उसके विशुद्ध शाब्दिक अर्थ को ही महत्त्व देता है; भावार्थ को नहीं। इसीलिए मूल में एक ही अभिप्राय से प्रेरित होने पर भी, अनेक परिस्थितियों के कारण बाह्य स्वरूप में कुछ भी भिन्नता रखने वाले विधि-विधान का वह विरोधी बन जाता है। उदाहरणार्थ, किसी देवता की उपासना में और उपासना-गृह बनाने में मनुष्यों की प्रवृत्ति का एक ही मौलिक अभिप्राय हो सकता है। पर अनेकानेक कारणों से इनके प्रकार में भेद होना स्वाभाविक है। विचार-शील व्यक्ति के लिए प्रकार-भेद गौण है, मौलिक अभिप्राय ही मुख्य होता है। सांप्रदायिक मनोवृत्ति की अवस्था इसके प्रतिकूल ही होती है।

भारत-जैसे महान् देश में, जहाँ स्वभावतः अनेकानेक संप्रदाय हैं, उपर्युक्त सांप्रदायिक पारिभाषिकता से केवल हानि ही होती है। यहाँ तो विभिन्न संप्रदायों की रूढ़ियों को, नैतिकता और मानवहित की परिधि के अन्दर, सहानुभूति और सहिष्णुता से समझने की आवश्यकता है।

उपर्युक्त पारिभाषिकता को छोड़ने का अभिप्राय यह भी है कि भारतीय संस्कृति के वर्णाश्रमधर्म जैसे वैज्ञानिक विचारों का, या उपनयन, वेदारम्भ जैसे उपयोगी संस्कारों का महत्त्व हम तभी बता सकेंगे, जब हम इनके रूढ़ार्थ को छोड़ कर, इनके मौलिक अभिप्राय को संसार और राष्ट्र के सामने रखेंगे। दूसरे शब्दों में, हमको अपने सिद्धान्तों की, मानवहित की दृष्टि से, न कि अपने-अपने संप्रदाय की दृष्टि से, उदार व्याख्या करनी होगी।

उदाहरणार्थ, वानप्रस्थाश्रम आजकल एक लुप्त-प्राय आश्रम है। वनों के न रहने से वह अपने शाब्दिक अर्थ में पुनर्जीवित भी नहीं हो सकता। पर गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्व के पश्चात् मनुष्य को परार्थ जीवन व्यतीत करना चाहिए—इस भावार्थ को लेकर भारतीय राष्ट्र के पुनर्निर्माण में अनेक प्रकार की सेवा हमारे नवीन युग के वानप्रस्थी कर सकते हैं। प्रत्येक संप्रदाय और समाज इसका स्वागत करेगा।

ग्रन्थों और शास्त्रों की मान्यता अर्थदृष्टया ही होती है, न कि शब्द-दृष्टया, ऐसा मान लेने पर, संप्रदाय-भेद की तरह, शास्त्र-भेद भी समष्टि-दृष्टि-मूलक

भारतीय संस्कृति की भावना में बाधक न हो सकेगा, और भारत के विभिन्न संप्रदाय एक ही संस्कृति की सजीव भावना को अपना सकेंगे। कोई किसी को न तो नास्तिक कहेगा, न म्लेच्छ, और न काफ़िर।

इस ग्रन्थ की विशेषता

भूमिका के रूप में लिखित, पिछले परिच्छेदों से और इस परिच्छेद के ऊपर के लेख से स्पष्ट हो गया होगा कि प्रकृत ग्रन्थ की अपनी एक मुख्य विशेषता यह है कि भारतीय संस्कृति के विषय में हमारा दृष्टिकोण और लक्ष्य, दोनों ही दूसरे लेखकों से बहुत-कुछ भिन्न हैं।

भारतीय संस्कृति के विषय में अब तक के लेखकों को प्रायेण तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है--

प्रथम वर्ग तो संकीर्ण सांप्रदायिक दृष्टि रखने वाले उन लोगों का है, जिनके सामने प्रगतिशील समष्टयात्मक भारतीय संस्कृति-जैसी कोई वस्तु या भावना रह ही नहीं सकती। विभिन्न भारतीय संप्रदायों में भी वे पारस्परिक पूरकता के स्थान में समानान्तरता और प्रतिद्वन्द्विता की भावना को ही सामने रख कर कुछ लिखने में प्रवृत्त होते हैं। अपने ही संप्रदाय को सर्वोत्कृष्ट और सर्वांश में सत्य मानने के कारण, वे दूसरे संप्रदायों के विषय में न्याय्य दृष्टि से काम ले ही नहीं सकते।

दूसरे वर्ग के लेखक प्रायः वे विदेशी विद्वान् हैं, जिन्होंने बहुत-कुछ अपने राजनीतिक स्वार्थ या अभिनिवेश के कारण, जाने या अनजाने, भारतीय संप्रदायों की ऊपरी प्रतिद्वन्द्विता पर ही अधिक बल दिया है। ऐसे ही लेखकों के प्रभाव के कारण हमारे जातीय जीवन में आर्य-अनार्य, वैदिक-अवैदिक, ब्राह्मण-अब्राह्मण, वर्णाश्रमी-वर्णाश्रमेतर, हिन्दू-अहिन्दू, हिन्दू-मुसलमान, हिन्दू-सिख-जैसी प्रतिद्वन्द्वी भावनाओं ने जड़ पकड़ कर, नयी समस्याओं को खड़ा कर दिया है।

तीसरे वर्ग में उन भारतीय विद्वान् लेखकों का स्थान है, जो भारतीय चिर-परम्परा से प्राप्त जाति-वर्ण, या संप्रदाय-मूलक गहरे अभिनिवेश के कारण, जनता के वास्तविक जीवन के प्रवाह की उपेक्षा करके, बहुत कुछ 'शास्त्रीय दृष्टि' को ही सामने रख कर भारतीय संस्कृति की एकदेशी व्याख्या में प्रवृत्त होते हैं।

केवल शास्त्रों में प्रतिपादित, पर व्यावहारिक जीवन से असंयुक्त, संस्कृति को संस्कृति कहा भी जा सकता है या नहीं, इसमें हमें सन्देह है। व्यवहारपक्ष की उपेक्षा करके, विशुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से किसी भी संस्कृति का ऐसा मनोमोहक चित्र खींचा जा सकता है, जिसका अस्तित्व, किसी दिव्यलोक में भले ही हो, इस मर्त्यलोक में तो नहीं हो सकता। फिर, शास्त्रीय अभिनिवेश वाला लेखक विभिन्न संप्रदायों का कहाँ तक न्याय-पूर्ण विचार कर सकता है?

हम चाहते हैं कि प्रकृत ग्रन्थ में हम, अपने को संकीर्ण सांप्रदायिक भावना से पृथक् रखते हुए, प्रगतिशील भारतीय संस्कृति के अविच्छिन्न प्रवाह और विकास को इस प्रकार दिखा सकें, जिससे—

(१) एक समन्वयात्मक भारतीय संस्कृति के आधार पर हमारे भारतीय राष्ट्र को दृढ़ता और पुष्टि प्राप्त हो सके;

(२) भारतीय संस्कृति की प्रगति में, वास्तविकता के आधार पर, विभिन्न संप्रदायों की देन और साहाय्य को दिखलाते हुए हम उनमें प्रतिद्वन्द्विता के स्थान में पूरकता की भावना का विकास कर सकें;

(३) संप्रदायों में नैतिकता, नागरिकता और मानवता की दृष्टि से सहयोग के साथ-साथ, परस्पर समादर और सद्भावना की भी वृद्धि हो सके;

(४) संप्रदायों के स्वरूप और प्रभाव के निरूपण में हम पूर्ण सद्भावना और न्याय्य-बुद्धि से काम ले सकें। इस संबंध में जो कुछ हम लिखें, उसका आधार, केवल पुस्तकाध्ययन न होकर, यथासंभव उनके व्यावहारिक जीवन का आन्तरिक अवेक्षण भी हो। दूसरे शब्दों में, शास्त्रीय और व्यावहारिक, दोनों पक्षों को हम साथ लेकर ही चलना चाहते हैं।

प्रथम खण्ड

भारतीय संस्कृति की वैदिक धारा

[परिच्छेद ५—११]

तथा

परिशिष्ट १—२

पाँचवाँ परिच्छेद

वैदिक वाङ्मय की रूपरेखा

अवतरणिका

पिछले परिच्छेदों में हमने, भूमिका के रूप में, भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में कुछ मौलिक बातों की व्याख्या की है। यहाँ से हम अपने मुख्य विषय—**भारतीय संस्कृति की प्रगति और विकास** की चर्चा आरम्भ करना चाहते हैं। स्पष्टतः इसके लिए भारतीय संस्कृति की प्रगति में सहायक विभिन्न विचारधाराओं के, यथासंभव उनके कालक्रम के अनुसार, वर्णन और विवेचन की आवश्यकता है।

प्रत्येक धारा के वर्णन और विवेचन में हम यही क्रम रखना चाहते हैं कि उसकी साहित्यिक भूमिका की रूपरेखा को दिखलाते हुए, उसके प्रारम्भ, स्वरूप, गुणपक्ष, दोषपक्ष, भारतीय संस्कृति के लिए उसकी देन, कालान्तर में उसका शैथिल्य अथवा ह्रास, और अन्त में उसकी वर्तमान-कालीन आवश्यकताओं का विचार करें।

उन धाराओं में **परस्पर अपेक्षाकृत** किसका कितना महत्त्व है, इस विचार में यथासंभव हम नहीं पड़ना चाहते; क्योंकि, जैसा हम पहले कह चुके हैं, इस ग्रन्थ में हम, विभिन्न सांप्रदायिक विचारधाराओं के पारस्परिक तारतम्य या प्रतिद्वन्द्विता के स्थान में, मुख्यतः भारतीय संस्कृति की प्रगति में उनकी देन और साहाय्य को ही दिखलाना चाहते हैं। राष्ट्र में एक समष्ट्यात्मक भारतीय संस्कृति की भावना का विकास और पोषण इसी प्रकार हो सकता है।

सबसे पहले हम वैदिक धारा का विचार करेंगे।

वैदिक धारा का महत्त्व

भारतीय संस्कृति के विकास में अपनी प्राचीनता और अपने बहुमुखी तथा व्यापक प्रभाव के कारण वैदिक धारा का निर्विवाद रूप से अत्यधिक महत्त्व है।

न केवल अपने सुग्रथित, सुरक्षित और विस्तृत वाङमय की अतिप्राचीन परम्परा के कारण ही, न केवल अपनी भाषा और वाङमय के अत्यन्त व्यापक प्रभाव के कारण ही, अपितु भारत के धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में अपने शाश्वतिक प्रभाव के कारण भी, भारतीय संस्कृति में वैदिक धारा का सदा से अत्यधिक महत्त्व रहा है और बराबर रहेगा।

सितासिते सरिते यत्र संगथे
तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति[1]। (ऋग्वेद-खिल)

इस ऋचा के अनुसार अपने स्वच्छन्द प्रवाह से बहने वाली गंगा अपनी ही तरह स्वच्छन्द-प्रवाहिणी यमुना के संगम के अनन्तर भी गंगा ही कहलाती है, और आगे चल कर अन्य धाराओं को आत्मसात् करती हुई भी अपने नाम को नहीं छोड़ती। इसी तरह किसी प्राचीन काल में प्राग्वैदिक धारा या धाराओं से समन्वित होकर भी, और उत्तरकाल में अन्य नवीन धाराओं से प्रभावित होकर भी, वैदिक धारा अपने ही नाम से चली आ रही है। यही उसकी अद्वितीय महत्ता और विशेषता है। इसी अभिप्राय से कोई-कोई '**भारतीय संस्कृति**' के स्थान में '**वैदिक संस्कृति**' पद का प्रयोग करना पसन्द करते हैं। पर हम 'भारतीय संस्कृति' पद के ही क्यों पक्षपाती हैं, इसका संकेत हम पहले कर चुके हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस प्रसंग में हम वैदिक धारा का वर्णन यथासंभव उसके अपने विशुद्ध मौलिक रूप की दृष्टि से ही करना चाहते हैं।

प्रथम परिच्छेद में हमने वैदिक संस्कृति से प्राचीनतर या प्राग्वैदिक धारा के अस्तित्व की ओर संकेत किया है। ऐसी स्थिति में हमें भारतीय संस्कृति के विकास की चर्चा का आरम्भ प्राग्वैदिक धारा से ही करना चाहिए। ऐसा न करने का कारण यही है कि अभी तक प्राग्वैदिक धारा का स्वरूप उतना स्पष्ट और व्यक्त नहीं है, जितना कि वैदिक धारा या उसकी उत्तर-वर्ती धाराओं का है। इसी कारण से भारतीय संस्कृति के विकास की चर्चा का प्रारम्भ हम वैदिक धारा से ही कर रहे हैं। व्यक्त धाराओं के वर्णन के अनन्तर उस अव्यक्त धारा का वर्णन भी हम यथास्थान करेंगे।

---

१. अर्थात्, सित असित, श्वेत और कृष्ण, दोनों धाराएँ जहाँ संगत होती हैं, वहाँ स्नान करने वाले द्युलोक को पहुँचते हैं। [तु० कालिदास, रघुवंश १३। ५४-५८ (गंगा-यमुना के संगम का लोकोत्तर वर्णन)]। हमें तो यहाँ वैदिक और प्राग्वैदिक, दोनों संस्कृतियों के लोक-कल्याण-कारी समन्वय की भी ध्वनि सुनायी देती है।

वैदिक धारा की साहित्यिक भूमिका

वैदिक वाङमय को हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं : **वेद, ब्राह्मण, वेदाङ्ग** और **वैदिक परिशिष्ट**। नीचे, संक्षेप में ही, हम इनका क्रमशः वर्णन करेंगे।

(१)

वेद

वैदिक धारा का उद्गम वेद से है, उसी तरह, जिस तरह गंगा का उद्गम गंगोत्तरी से। सांस्कृतिक दृष्टि से वेद का महत्त्व हम आगे दिखाएँगे; तो भी भारतीय परम्परा की दृष्टि से वेद का कितना महत्त्व है, इस विषय में यहाँ दो-चार प्रमाणों का देना अप्रासंगिक न होगा।

मनुस्मृति में वेद के विषय में कहा है :

वेदोऽखिलो धर्ममूलम् (२।६)।
सर्वज्ञानमयो हि सः (२।७)।
चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ।। (१२।९७)
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते। (२।१६६)।
योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः।। २।१६८)।

अर्थात्, वेद धर्म का मूल है और समस्त ज्ञान से युक्त है। चारों वर्ण, तीनों लोक, चारों आश्रम, भूत, वर्तमान और भविष्य, इन सब का परिज्ञान वेद से होता है। विप्र के लिए वेद का अभ्यास ही श्रेष्ठ तप माना जाता है। जो द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) वेद को बिना पढ़े अन्य विषय में श्रम करता है, वह जीता ही अपने वंश के सहित शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है।

ऊपर के प्रमाणों से, वैदिक धारा की दृष्टि से, वेद का कितना महत्त्व है, यह स्पष्ट है।

वेद के विषय में सबसे पहला प्रश्न यह है कि वेद किसको कहते हैं? इस विषय में तीन दृष्टियाँ हो सकती हैं—

पहली दृष्टि यह है कि 'वेद' शब्द 'विद ज्ञाने' धातु से बना है। अतः इसका मौलिक अर्थ 'ज्ञान' ही है। 'विद्या' शब्द भी इसी धातु से निकला है। इसलिए **मूल में 'विद्या' और 'वेद' शब्द समानार्थक ही हैं। 'वेद'** शब्द का इस सामान्य अर्थ में प्रयोग 'आयुर्वेद', 'धनुर्वेद' आदि शब्दों में प्राचीन काल से चला आया है। इसी

प्रकार आश्वलायन-श्रौतसूत्र (१०।७) में अनेक विद्याओं के साथ 'वेद' शब्द का प्रयोग किया गया है[1]।

दूसरी दृष्टि के अनुसार 'वेद' शब्द का सामान्य 'ज्ञान' के स्थान में विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ में ही प्रयोग होता है। "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" (आपस्तम्ब-यज्ञपरिभाषासूत्र ३१), इस प्राचीन परिभाषा के अनुसार मन्त्र-भाग और ब्राह्मण-भाग दोनों के लिए समान रूप से 'वेद' शब्द का प्रयोग चिरकाल से भारतीय साहित्यिक परम्परा में चला आया है।

तीसरी दृष्टि दूसरी दृष्टि से भी अधिक संकुचित है। उसके अनुसार वेद के मन्त्र-भाग (या संहिता-भाग) को ही 'वेद' कहना चाहिए।

इस विषय में हमारा अपना मत यह है कि प्रारम्भ में 'वेद' शब्द वास्तव में सामान्येन ज्ञान या विद्या के अर्थ में ही प्रयुक्त होता था[2]। कालान्तर में अनेक कारणों से यह प्राचीन परम्परा से प्राप्त मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वैदिक साहित्य के लिए ही प्रयुक्त होने लगा। परन्तु मन्त्र-भाग और ब्राह्मण-भाग में परस्पर विभिन्न-प्रकारता है। ब्राह्मण-भाग मन्त्र-भाग के पीछे-पीछे चलता है। इसलिए प्रति-पादन की सुविधा की दृष्टि से हम भी 'वेद' शब्द का प्रयोग मन्त्र-भाग (या संहिताभाग) के लिए ही करना उचित समझते हैं।

वेद के **ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद** और **अथर्ववेद**, ये चार भाग माने जाते हैं। इनके लिए ही **ऋक्संहिता, यजुःसंहिता, सामसंहिता और अथर्वसंहिता**, ये नाम प्रसिद्ध हैं। इनमें से प्रत्येक का कुछ विस्तार से वर्णन नीचे दिया जाएगा।

पौराणिक परम्परा के अनुसार मूल में एक ही वेद था। उसी के **कृष्ण-द्वैपायन वेद-व्यास** ने याज्ञिक दृष्टि से अध्ययनाध्यापन-परम्परा की सुविधा के लिए उपर्युक्त चार विभाग किये थे[3]।

वेदों के लिए 'त्रयी' शब्द का व्यवहार

ऊपर वेद के चार भागों का उल्लेख किया गया है। परन्तु वेदों के लिए **'त्रयी'** शब्द का प्रयोग भी अत्यन्त प्राचीन काल से चला आया है॥ **शतपथ**

---

१. देखिए—**"यजुर्वेदो वेदः।", "अथर्वाणो वेदः।", "असुरविद्या वेदः।", "पुराणविद्या वेदः।", "इतिहासो वेदः।"** इसी प्रसङ्ग में **शतपथ-ब्राह्मण** (१३।४।३।६-१४) को भी देखिए। गोपथ-ब्राह्मण (१।१।१०) **"सर्पवेद", "पिशाचवेद", "असुरवेद", "इतिहासवेद"** तथा **"पुराणवेद"** का उल्लेख करता है।

२. एक चेकोस्लोवैक सज्जन कहते थे कि उनकी भाषा में आजकल भी 'वेद' शब्द प्रयुक्त होता है और उसका अर्थ है **'सायंस'** या विज्ञान।

३. देखिए—**"व्यदधाद् यज्ञसंतत्यै वेदमेकं चतुर्विधम्। ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः।"** (भागवत १।४।१९-२०)

आदि ब्राह्मण-ग्रन्थों में तथा मनुस्मृति, गीता आदि में[1] 'त्रयी' या 'त्रयं ब्रह्म' का प्रयोग प्रायः पाया जाता है। इन शब्दों का अर्थ ऐसे स्थलों में ऋक्, यजुः और साम, यही किया जाता है। इस प्रकार अथर्व-वेद का उल्लेख छूट जाता है। इसी आधार पर यह विवाद प्राचीन काल से[2] चला आ रहा है कि अथर्व-वेद को भी वेद मानना चाहिए या नहीं।

इस विवाद में हम यहाँ नहीं पड़ना चाहते। यहाँ केवल इतना बतला देना पर्याप्त होगा कि जहाँ-जहाँ चार वेदों का उल्लेख है, वहाँ ग्रन्थ-रूप में चार संहिताओं से अभिप्राय है, और 'त्रयी' या 'त्रयं ब्रह्म' (=तीन वेद) से अभिप्राय, संहिताओं के स्थान में, ऋक् (=पद्यात्मक वैदिकी रचना), यजुः (=गद्यात्मक वैदिकी रचना) और साम (=गीतात्मक वैदिकी रचना) रूप से वेद-मन्त्रों की तीन प्रकार की रचना का है। वास्तव में ऋक्, यजुः और साम का शास्त्रीय अर्थ यही है[3]। चारों वेदों के मन्त्रों का अन्तर्भाव उक्त तीन प्रकार की रचनाओं में हो जाता है। इसीलिए शतपथ-ब्राह्मण आदि में 'त्रयी' के साथ 'विद्या' शब्द का भी प्रयोग प्रायः किया गया है।[1]

इसलिए 'वेदत्रयी' और 'वेदचतुष्टय' शब्दों में केवल दृष्टि का भेद है। वास्तविक विरोध नहीं है। पर हो सकता है कि त्रयीत्व की कल्पना प्राचीनतर हो। महर्षि वेदव्यास ने मौलिक एक वेद को चार वेदों में विभाजित किया, इस पूर्वोल्लिखित पौराणिक अनुश्रुति से इसी बात की पुष्टि होती है। पर इधर चिरकाल से वैदिकों की परम्परा में वेदचतुष्टय का ही व्यवहार है। इसलिए प्रकृत में हम भी 'वेद चार हैं', यह मान कर ही आगे चलेंगे।

वेदों की शाखाओं का विचार

प्रत्येक वेद के विषय में कुछ कहने से प्रथम वेदों की शाखाओं के विषय में कुछ विचार करना आवश्यक है। जैसा आगे चल कर विदित होगा, प्रत्येक वेद की अनेक शाखाएँ मानी जाती हैं। इस शाखा-भेद का क्या अभिप्राय है? इस विषय में प्रायः भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई हैं। पर प्रत्येक वैदिक जानता

---

१. देखिए—"त्रयी वै विद्या ऋचो यजूंषि सामानि" (शतपथ ४।६।७।१)। "त्रयं ब्रह्म सनातनम्...ऋग्यजुःसामलक्षणम्।" (मनुस्मृति १।२३)। "एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्नाः" (गीता ९।२१)।

२. देखिए—न्यायमञ्जरी का प्रमाणप्रकरण (पृ० २३२, बनारस का १९३६ का संस्करण)।

३. देखिए—"ऋग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुःशब्दः।" (पूर्वमीमांसासूत्र २।१।३५-३७)।

है कि उसका किस वेद की किस शाखा से सम्बन्ध है। वह यह भी जानता है कि उसकी शाखा में प्रचलित वेद-संहिता का पाठ अपने ही वेद की अन्य शाखा से सम्बद्ध संहिता के पाठ से कुछ ही अंशों में भिन्न है। इसलिए यह स्पष्ट है कि वेदों का शाखा-भेद बहुत अंश तक, किसी भी प्राचीन ग्रन्थ के समान, पाठ-भेद पर ही अवलम्बित है।

इस पर भी आजकल के सांप्रदायिक विचार-धारा के लोग 'वेद शाश्वत हैं', 'वेद ईश्वर-कृत हैं', इसीलिए 'उनमें पाठभेद नहीं हो सकता', ऐसी धारणाओं से प्रेरित होकर वेदों की शाखाओं का मनःकल्पित अर्थ करते हैं।

शाखा-भेद कैसे हुआ? इसका उत्तर स्पष्ट है। वैदिक परम्परा में एक ऐसा समय था, जब कि अध्ययनाध्यापन का आधार केवल मौखिक था[1]। उसी काल में एक ही गुरु के शिष्य-प्रशिष्य भारत-जैसे महान् देश में फैलते हुए, विशेषतः गमनागमन की उन दिनों की कठिनताओं के कारण, किसी भी पाठ को पूर्णतः अक्षुण्ण नहीं रख सकते थे। पाठ-भेद का हो जाना स्वाभाविक था।[2]

साथ ही जानबूझ कर पाठ का कुछ परिवर्तन या परिवर्धन भी, अवस्था-विशेष में, संभावना से बाहर की बात नहीं है। एक ऐसा भी समय था, जब नवीन ऋचाएँ भी बनायी जाती थीं[3]। तभी तो वैदिक वाङ्मय में ऐसी भी ऋचाएँ और मन्त्र मिलते हैं, जो उपलब्ध वैदिक संहिताओं में नहीं पाये जाते। ऐसी अवस्था में पाठ-भेद कर देना या पाठ-भेद का हो जाना असंभावित नहीं हो सकता। वैदिक संहिताओं में परिशिष्ट-रूप से जोड़े हुए सूक्तों के लिए **'खिल-सूक्त'** यह प्राचीन पारिभाषिक शब्द प्रसिद्ध है।

ऊपर के सामान्य विचार के बाद हम नीचे प्रत्येक वैदिक संहिता का संक्षेप में परिचय देने का यत्न करेंगे।

---

१. इस विषय के लिए इसी ग्रन्थ के **द्वितीय परिशिष्ट** के (क) अंश में 'संस्कृत साहित्य में ग्रन्थ-प्रणयन' शीर्षक लेख देखिए।

२. तु० **"एवं वेदं तदा व्यस्य भगवानृषिसत्तमः। शिष्येभ्यश्च पुनर्दत्वा तपस्तप्तुं गतो वनम्। तस्य शिष्यप्रशिष्यैस्तु शाखाभेदास्त्विमे कृताः॥"** (वायु-पुराण ६१।७७)

३. **"अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत"** (ऋग्० १।१।२), **"इमां प्रत्नाय सुष्टुतिं नवीयसीं वोचेयम्"** (ऋग्० १०।६१।१३) इत्यादि ऋचाओं में स्पष्टतः प्राचीन और नवीन ऋषिओं का और बिलकुल नवीन बनायी हुई ऋचाओं का उल्लेख है।

ऋग्वेद-संहिता

वैदिक संहिताओं में ऋग्वेद-संहिता सबसे बड़ी है। **छन्दोबद्ध या पद्यात्मक** मन्त्रों को ऋक् या ऋचा कहते हैं। ऋक्संहिता या ऋग्वेद-संहिता ऐसी ही ऋचाओं का बड़ा भारी संग्रह है। संहिता का अर्थ है, संग्रह।

थोड़े-बहुत पाठ-भेदों के कारण इस संहिता की अनेक शाखाएँ मानी जाती हैं। **महाभाष्य**-जैसे प्राचीन ग्रन्थ में (लगभग १५० ई० पूर्व) कहा है कि ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएँ थीं (**"एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्"**)[१]। पीछे के ग्रन्थों में केवल पाँच शाखाओं का उल्लेख मिलता है। शाखाओं की इस कमी का मुख्य कारण अध्ययनाध्यापन का संकोच ही हो सकता है। आजकल जो ऋग्वेद-संहिता प्रचलित है, उसका सम्बन्ध **शाकल-शाखा** से है।

इस संहिता के दस भाग हैं, जिनको **मण्डल** कहते हैं। प्रत्येक मण्डल में अनेक **सूक्त** होते हैं, और सूक्तों में अनेक ऋचाएँ। इनके विवरण के लिए नीचे की तालिका देखिए—

मण्डल	सूक्त-संख्या	ऋक्-संख्या
प्रथम मण्डल	१९१	२००६
द्वितीय मण्डल	४३	४२९
तृतीय मण्डल	६२	६१७
चतुर्थ मण्डल	५८	५८९
पंचम मण्डल	८७	७२७
षष्ठ मण्डल	७५	७६५
सप्तम मण्डल	१०४	८४१
अष्टम मण्डल	९२	१६३६
नवम मण्डल	११४	११०८
दशम मण्डल	१९१	१७५४
	१०१७	१०४७२

ऋचाओं के ऋषि, देवता और छन्द

ऋग्वेद-संहिता की छपी पुस्तकों में प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में उस सूक्त के ऋषि, देवता और छन्द (छन्दस्) का निर्देश होता है। छन्द (गायत्री आदि) का अर्थ स्पष्ट है। प्रत्येक ऋचा का कोई न कोई छन्द होना ही चाहिए।

१. देखो, महाभाष्य, पस्पशाह्निक।

'ऋक्' शब्द का मूलार्थ है, जिससे स्तुति की जाए[1]। "ऋच स्तुतौ" धातु से यह बना है। इसलिए ऋचा या सूक्त में जिस विषय या पदार्थ की स्तुति, वर्णन या प्रतिपादन होता है, वह उसका देवता कहलाता है[2]। इस पारिभाषिक अर्थ के कारण देवता-रूप से प्रसिद्ध इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि के साथ-साथ सूक्तों में वर्णित ज्ञान, संज्ञान, कृषि, अक्ष आदि को भी उनका देवता कहा जाता है।

ऋचाओं या सूक्तों के **ऋषि** से क्या अभिप्राय है? इस विषय में अनेक मत हैं। प्राचीन ग्रन्थों में कहीं तो ऐसा उल्लेख आता है कि ऋषि उनको कहते हैं, जिन्होंने वेद-मन्त्रों का साक्षात्कार किया था। कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि मन्त्रों के बनाने वाले को ही ऋषि कहा जाता था।[3] हमारे मत में तो दोनों बातों में कोई मौलिक भेद नहीं है।

करुणा के आवेग में आदिकवि **वाल्मीकि** के मुख से

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

यह श्लोक निकल पड़ा था। इस पर ब्रह्मा जी ने आकर उनसे कहा कि "**मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन् प्रवृत्तेयं सरस्वती**" (वाल्मीकि-रामायण १।२।३१), अर्थात् मेरी प्रेरणा से ही यह सरस्वती तुम्हारे मुख से प्रवृत्त हुई है। कवि की लोकोत्तर प्रतिभा से रची हुई कविता में कवि का अपना कितना हाथ होता है और लोकोत्तर (या दैवी) प्रेरणा का कितना, यह कहना कठिन होता है। दूसरे, 'खाना खा लीजिए' और 'भोजन पा लीजिए' में अर्थ का भेद न होने पर भी भावना का गहरा भेद है। इसी तरह 'ऋषि ने मन्त्र बनाया' या 'ऋषि पर मन्त्र प्रकट हुआ' या 'उसने मन्त्र को देखा', इनमें वस्तुतः अर्थैक्य के होने पर भी भावना का भेद है। इसलिए उपर्युक्त मत-भेद को हम तो कोई विशेष महत्त्व नहीं देते। इतना तो स्पष्ट है कि मन्त्रों की शाब्दिक (या मौखिक) परम्परा या श्रुति-परम्परा से उनके ऋषियों का मौलिक सम्बन्ध अवश्य है।[4]

यह भी स्मरण रहे कि काल-भेद से भाषा के मुहावरों में अन्तर पड़ जाता है। 'विद्या पढ़ी जाती है' इसी बात को वैदिक मुहावरे में कहते थे 'विद्या सुनी

---

१. तु० "**ऋग्भिः शंसन्ति**" (निरुक्त १३।७)।
२. तु० "**या तेनोच्यते सा देवता**" (ऋक्सर्वानुक्रमणी १।२।५)।
३. तु० "**ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः।**" (निरुक्त २।११), तथा "**यस्य वाक्यं स ऋषिः**" (ऋक्सर्वानुक्रमणी १।२।४)।
४. तु० "**या त्वसौ वर्णानुपूर्वी सानित्या**" (=सा अनित्या) (महाभाष्य ४।३।१०१)।

जाती है'। 'मन्त्रों को देखना' और 'मन्त्रों को बनाना' में ऐसा ही मुहावरे का भेद-मात्र है। वस्तु-गत भेद न है, न हो ही सकता है।

मण्डलों का ऋषियों से सम्बन्ध और संहिता का क्रम

जैसा आगे चलकर विदित होगा, अन्य वैदिक संहिताओं से ऋग्वेद-संहिता के क्रम में विशेष अन्तर है। इस संहिता के क्रम की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें, याज्ञिक कर्मकाण्ड के किसी क्रम को ध्यान में न रख कर, केवल मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों या ऋषि-वंशों के आधार पर ही सूक्तों को संगृहीत किया गया है। इसीलिए इस संहिता के क्रम में जैसी ऐतिहासिक महत्ता है, वैसी अन्य संहिताओं के क्रम में नहीं।

पहले और दसवें मण्डलों में सूक्त-संख्या (१९१) तो समान है ही, उनमें परस्पर यह भी समानता है कि उन दोनों में विभिन्न ऋषियों के सूक्तों के संग्रह संगृहीत हैं। दूसरे मण्डल से सप्तम मण्डल तक प्रत्येक मण्डल का सम्बन्ध केवल एक ही ऋषि या उसके वंश से है। क्रम से उन ऋषियों के नाम हैं—गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ। अष्टम मण्डल का सम्बन्ध **प्राधान्येन** कण्व ऋषि के वंश से है। इस मण्डल में प्रगाथ नामक विशेष छन्द की बहुलता है, इसलिए इसके ऋषियों को 'प्रगाथ' भी कहा जाता है। नवम मण्डल की विशेषता यह है कि उसके लगभग सब सूक्तों का देवता **पवमान सोम** है। ऋषि तो मण्डल २–७ के ऋषियों में से ही हैं।[१]

ऋग्वेद-संहिता के अवान्तर क्रम का यह **ऐतिहासिक** आधार अपना विशेष महत्त्व रखता है। इससे जहाँ एक ओर संहिता के मन्त्रों और सूक्तों का घनिष्ठ सम्बन्ध विशिष्ट ऋषियों या उनके वंशों से स्पष्ट है, वहाँ दूसरी ओर उनका, याज्ञिक कर्मकाण्ड से निरपेक्ष, मौलिक स्वरूप भी बहुत-कुछ प्रतीत हो जाता है।

ऋग्वेद-संहिता का विषय

विभिन्न दृष्टियों से वेद के प्रतिपाद्य विषयों का विचार हम आगे करेंगे; तो भी ऋग्वेद-संहिता का क्या विषय है, इसको सामान्य रूप से यहाँ बतला देना आवश्यक है।

ऋग्वेद का अर्थ है—ऋचाओं का वेद। अन्य वेदों में भी ऋचाएँ सम्मिलित हैं। पर ऋग्वेद में केवल ऋचाओं का ही संग्रह है। ऋचा से स्तुति की जाती है; जिनकी स्तुति की जाती है, उनको 'देवता' कहते हैं; यह हम ऊपर कह चुके

---

१. देखिए—"**अथ ऋषयः। शतर्चिनो माध्यमा गृत्समदो विश्वामित्रो वामदेवोऽत्रिर्भरद्वाजो वसिष्ठः प्रगाथाः पावमान्यः क्षुद्रसूक्ता महासूक्ता इति।**" (आश्वलायनगृह्यसूत्र ३।४।२)।

हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि इस संहिता में केवल देवताओं की स्तुतियाँ हैं।

वैदिक देवता क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक से संबंध रखने के कारण तीन प्रकार के माने जाते हैं। अग्नि, सोम, पृथिवी आदि **पृथिवी-स्थानीय** कहलाते हैं; इन्द्र, रुद्र, वायु आदि **अन्तरिक्ष-स्थानीय,** और वरुण, मित्र, उषस्, सूर्य आदि **द्युस्थानीय**।

ऋग्वेद में लगभग २५० सूक्तों में इन्द्र की, लगभग २०० में अग्नि की, और १०० से अधिक सूक्तों में सोम की स्तुति की गयी है। यम, मित्र, वरुण, रुद्र, विष्णु आदि देवताओं के भी सूक्त हैं; पर उनकी संख्या इन्द्र, अग्नि और सोम के सूक्तों की संख्या के बराबर नहीं है।

वैदिक देवतावाद का विचार हम आगे करेंगे।

एक प्रकार से अपना व्यक्तित्व रखने वाले इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं के अतिरिक्त ऋग्वेद में ऐसे भी देवता हैं, जिनका वैसा व्यक्तित्व नहीं माना जा सकता। उदाहरणार्थ, मन्यु, श्रद्धा आदि ऐसे ही देवता हैं। इसके अतिरिक्त, कुछ ऐसे भी सूक्त हैं, जिनमें सुन्दर तथा गम्भीर दार्शनिक विचार प्रकट किये गये हैं।

ऋग्वेद की विशेषता

ऋग्वेद के संबंध में यहाँ कुछ विस्तार से कहने का कारण यही है कि इसकी कई विशेषताएँ हैं। इस संहिता के अवान्तर-क्रम के ऐतिहासिक महत्त्व की बात हम ऊपर कह चुके हैं। इसीलिए वैदिक विचार-धारा के स्वरूप को समझने के लिए जितनी मौलिक तथा पुष्कल सामग्री ऋग्वेद में मिल सकती है, उसकी दूसरी संहिताओं की सामग्री से कोई तुलना ही नहीं की जा सकती। वास्तव में वैदिक वाङ्मय का मूल ऋग्वेद ही है।[1] सारे वैदिक कर्म-काण्ड का मुख्य आश्रय भी ऋग्वेद ही है।

यजुर्वेद-संहिता

महाभाष्यकार पतञ्जलि के समय में यजुर्वेद-संहिता १०१ शाखाओं में पायी जाती थी[2]। अन्य ग्रन्थों में इन शाखाओं की संख्या, अपने-अपने समय के अनुसार, १०१ से कम या अधिक बतलायी गयी है। परन्तु आजकल केवल पाँच शाखाएँ या संहिताएँ मुद्रित रूप में उपलब्ध हैं।

---

१. तु० **"बह्वृचमिति ह्वेव स्थितम्। एतत्परिचरणावितरौ वेदौ।"** (कौषीतकिब्राह्मण ६।११)

२. तु० **"एकशतमध्वर्युशाखाः"** (महाभाष्य, पस्पशाह्निक)।

चिरकाल से यजुर्वेद-संहिता के **शुक्ल** और **कृष्ण** नामों से दो भेद चले आ रहे हैं। उपर्युक्त शाखाओं का समावेश इन्हीं दो भेदों में माना जाता है। इस प्रकार कुछ शाखाओं का सम्बन्ध **शुक्ल-यजुर्वेद** से, और कुछ का **कृष्ण-यजुर्वेद** से रहा है। आजकल की मुद्रित पाँच शाखाओं में से तीन (**तैत्तिरीय, मैत्रायणी** और **कठ**) का सम्बन्ध कृष्ण-यजुर्वेद से, और दो (**माध्यन्दिन** और **काण्व**) का शुक्ल-यजुर्वेद से है।

उपर्युक्त दोनों (शुक्ल-यजुर्वेद और कृष्ण-यजुर्वेद) भेदों में वस्तु-गत दृष्टि से यही अन्तर है कि जहाँ शुक्ल-यजुर्वेद में केवल मन्त्र-भाग का सन्निवेश है, वहाँ कृष्ण-यजुर्वेद में मन्त्र-भाग और ब्राह्मण-भाग, दोनों मिले-जुले सन्निविष्ट हैं।

वेदों की पद्यात्मक (=ऋचाओं के रूप में) या गद्यात्मक रचनाओं को, जिनको प्रायः याज्ञिक कर्मकाण्ड में पढ़ा जाता है, **मन्त्र** कहते हैं। **ब्राह्मण**, जैसा आगे विदित होगा, एक प्रकार से मन्त्र आदि पर व्याख्यात्मक रचना या ग्रन्थ को कहते हैं। इस प्रकार मन्त्र और ब्राह्मण के स्वरूपों में मौलिक अन्तर है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हीं मन्त्र और ब्राह्मण के भागों के सम्मिश्रण के कारण यजुर्वेद के एक भेद को कृष्ण, और इस सम्मिश्रण से रहित होने के कारण दूसरे भेद को शुक्ल कहा जाने लगा। दोनों में, कृष्ण-यजुर्वेद प्राचीन, और शुक्ल-यजुर्वेद नवीन समझा जाता है।

हमारे मत में एक और कारण भी हो सकता है। कृष्ण-यजुर्वेद की शाखाओं का विस्तार प्रायेण दक्षिण-भारत में, और शुक्ल-यजुर्वेद का उत्तर-भारत (या मनु के आर्यावर्त) में है। स्वभावतः कृष्ण-यजुर्वेद के साहित्य पर जितना प्रभाव वैदिकेतर विचार-धारा का है,[1] उतना शुक्ल-यजुर्वेदीय साहित्य पर नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण-यजुर्वेद की उक्त प्रवृत्ति के विरोध में 'शुद्ध' वैदिक धारा के पक्षपात या अभिनिवेश के कारण ही शुक्ल-यजुर्वेद का प्रारम्भ हुआ होगा; बहुत-कुछ उसी तरह, जिस तरह वर्तमान काल में समन्वयात्मक पौराणिक धर्म के विरोध में आर्यसमाज का प्रारम्भ हुआ। 'शुद्ध' धारा के कारण ही कदाचित् 'शुक्ल' और 'कृष्ण' शब्दों का प्रचलन होने लगा।

शुक्ल-यजुर्वेद में, अन्य वैदिक संहिताओं के समान, केवल मन्त्र-भाग के ही सन्निविष्ट होने से, यहाँ म उसका ही कुछ विशेष रूप से वर्णन करना चाहते

---

१. तु० "**गिरिसुताय धीमहि। तन्नो गौरी प्रचोदयात्॥ तत्कुमाराय विद्महे, कार्तिकेयाय धीमहि। तन्नः स्कन्दः प्रचोदयात्॥** (मैत्रायणी-संहिता २।९।१ तथा काठक-संहिता १७।११)। यहाँ कार्तिकेय, स्कन्द और गौरी, इन पौराणिक देवी-देवों का उल्लेख स्पष्टतः वैदिकेतर धारा के प्रभाव का द्योतक है।

हैं। शुक्ल-यजुर्वेद में भी, काण्वशाखीय संहिता की अपेक्षा माध्यन्दिन शाखा की यजुर्वेद-संहिता का कहीं अधिक प्रचार है। कहा तो यह जाता है कि माध्यन्दिन-शाखीय यजुर्वेद-संहिता का जितना प्रचार और विस्तार भारत में है, उतना किसी भी अन्य शाखा का नहीं है। इसलिए नीचे हम उसी के सम्बन्ध में कहेंगे।

माध्यन्दिन-शाखीय शुक्ल-यजुर्वेद की संहिता में ४० अध्याय और १९७५ कण्डिकाएँ (या मन्त्र) हैं। मन्त्रों की संख्या के विषय में मतभेद भी है। इस संहिता में गद्यात्मक मन्त्रों (=यजुस्) के साथ-साथ ऋचाएँ भी सम्मिलित हैं। संहिता का लगभग आधा भाग ऋचाओं का ही होगा। उन ऋचाओं में से ७०० से अधिक ऋग्वेद में भी पायी जाती हैं।

यजुर्वेद-संहिता का क्रम और विषय

ऋग्वेद-संहिता के विपरीत, यजुर्वेद-संहिता का क्रम विशिष्ट याज्ञिक कर्मकाण्ड के क्रम को लक्ष्य में रख कर ही निर्धारित किया गया है। उदाहरणार्थ, प्रथम अध्याय से द्वितीय अध्याय के २८ वें मन्त्र तक दर्श-पूर्णमास नामक यज्ञ का प्रसंग है। इसी प्रकार अगले भागों में पिण्डपितृयज्ञ, अग्निहोत्र, चातुर्मास्य आदि वैदिक यज्ञों से सम्बद्ध मन्त्रों का संग्रह है। केवल अन्त में ४०वें अध्याय का सम्बन्ध कर्मकाण्ड से न होकर ज्ञानकाण्ड (उपनिषद्) से है।

यजुर्वेद का घनिष्ट सम्बन्ध याज्ञिक प्रक्रिया से है, यह तो उसके नाम से ही स्पष्ट है। 'यजुस्' और 'यज्ञ' दोनों शब्द "यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु" इस धातु से निकले हैं। **निरुक्तकार यास्क** ने भी कहा है—**"यजुर्भिर्यजन्ति"** (१३।७) तथा **"यजुर्यजतेः"** (७।१२)।

यजुर्वेद-संहिता का याज्ञिक कर्मकाण्ड से घनिष्ठ सम्बन्ध है, यही सिद्धान्त यजुर्वेद के **शतपथ** आदि ब्राह्मणग्रन्थों का तथा प्राचीन भाष्यकारों का है। याज्ञिक दृष्टि आज के जगत् को रुचिकर नहीं है, यह अनुभव करते हुए इधर आचार्य स्वामी दयानन्द ने, याज्ञिक दृष्टि के बिना, स्वतन्त्र सामान्य दृष्टि से भी यजुर्वेद की व्याख्या करने का यत्न किया है।

सामवेद-संहिता

महाभाष्य में सामवेद की एक सहस्र शाखाओं[1] का उल्लेख है। परन्तु आज कल **कौथुम, राणायनीय** और **जैमिनीय** केवल ये तीन शाखाएँ उपलब्ध हैं।

सामवेद की राणायनीय संहिता में, जो सबसे अधिक प्रसिद्ध है, केवल १५४९ ऋचाएँ हैं। इनमें से केवल ७५ को छोड़ कर, शेष सब ऋग्वेद से ली गयी हैं।

---

१. देखिए—**"सहस्रवर्त्मा सामवेदः"** (महाभाष्य, पस्पशाह्निक)

सामवेद में दो भाग हैं, **पूर्वार्चिक** और **उत्तरार्चिक**। पूर्वार्चिक के छह भाग हैं, जिनको **प्रपाठक** कहते है। उत्तरार्चिक में नौ प्रपाठक हैं।

यजुर्वेद-संहिता के समान, सामवेद-संहिता भी याज्ञिक कर्मकाण्ड की दृष्टि से ही संगृहीत की गयी है। सामवेद में संगृहीत ऋचाएँ विशेषत: सोम-याग में गायी जाती थीं। साम-गान की पुस्तकों में ये ही ऋचाएँ गान की दृष्टि से सजायी हुई रहती हैं। संहिता में तो वे ऋग्वेद के समान ही दी हुई हैं, केवल स्वर लिखने का प्रकार सामवेद का अपना है।

केवल साम-गान की दृष्टि से संगृहीत सामवेद का विशेषत: अपना प्रतिपाद्य विषय कुछ नहीं है। ऋचाओं के द्वारा जो विभिन्न देवताओं की स्तुति होती है, वही उनका प्रतिपाद्य विषय कहा जा सकता है। पर ध्येय उनका साम-गान ही है। सामगान की दृष्टि से एक विशिष्ट वेद की कल्पना हमारे पूर्वजों की उदात्त-भावनामयी मनोवृत्ति की ही द्योतक है। इसी वेद के लिए गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है—"**वेदानां सामवेदोऽस्मि**" (गीता १०।२२)।

अथर्ववेद-संहिता

महाभाष्यकार के समय में अथर्ववेद की नौ शाखाएँ पायी जाती थीं।[1] पर आजकल दो ही शाखाएँ उपलब्ध हैं—**शौनक** और **पैप्पलाद**। दोनों में से शौनक शाखा की संहिता ही अधिक प्रसिद्ध है।

अथर्ववेद की (शौनक-शाखीय) संहिता में २० काण्ड (भाग), ७३० सूक्त और लगभग ६००० मन्त्र हैं। उक्त मन्त्रों में से कोई १२०० मन्त्र स्पष्टत: ऋग्वेद-संहिता से ही लिये हुए प्रतीत होते हैं। उनमें कुछ पाठान्तर अवश्य हैं। अथर्ववेद का २० वाँ काण्ड तो, कुछ ही अंश को छोड़ कर, पूरा-का-पूरा ऋग्वेद से ही उद्धृत है। १५ वाँ काण्ड और १६ वें काण्ड का बड़ा भाग ब्राह्मणों-जैसे गद्य में हैं।

अथर्ववेद-संहिता का वैशिष्ट्य

कई दृष्टियों से अथर्ववेद-संहिता का अपना वैशिष्ट्य है। इसकी मुख्य विशेषता यह है कि जहाँ उपर्युक्त तीनों संहिताओं का सम्बन्ध श्रौत (=वैदिक) यज्ञों से है, वहाँ अथर्ववेद का (बीसवें काण्ड को छोड़ कर) सम्बन्ध प्रायेण गृह्य कर्मकाण्ड (जैसे जन्म, विवाह या मृत्यु से संबद्ध संस्कार आदि) या राजाओं के मूर्धाभिषेक-सम्बन्धी कर्मकाण्ड से है। बीसवें काण्ड में अधिकतर इन्द्र देवता की स्तुति के सोमयागोपयोगी सूक्तों का ही संग्रह है।

१. देखिए—"नवधाथर्वणो वेदः" (महाभाष्य, पस्पशाह्निक)।

अथर्ववेद को एक प्रकार से जादू-टोना-सदृश मन्त्रों का संग्रह समझा जाता है। इसीलिए अथर्ववेद के मन्त्रों का विनियोग अनेक रोगों तथा उत्पातों की शांति, शत्रु आदि के प्रतीकार, पौष्टिक कर्म और वशीकरण आदि में किया जाता है। अनेकानेक औषधियों से सम्बन्धित मंत्र भी अथर्ववेद में संगृहीत हैं। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, राजविद्या, अध्यात्मविद्या आदि महत्त्व-पूर्ण विषयों से सम्बन्धित अनेक सूक्त भी अथर्ववेद में पाये जाते हैं। अथर्ववेद का **पृथ्वी-सूक्त** (१२।१) अपने विषय की अद्वितीय रचना है।

यह कहा जा सकता है कि अन्य वैदिक संहिताओं की परम्परा में मन्त्रों को प्रधानतया वैदिक (या श्रौत) **यज्ञों का अंग** मान कर ही उनकी उपयोगिता समझी जाती है।[1] अथर्ववेद में यह बात नहीं है।[2] यहाँ मन्त्र को बहुत ऊँचे स्तर पर रखा गया है। मन्त्र में स्वयं शक्ति है; दूसरे शब्दों में, मन्त्र आत्मा में निहित शक्ति के उद्भावन की प्रधान कुंजी है, और इसीलिए उसका प्रयोग-उपयोग, किसी वैदिक यज्ञ के आश्रय के बिना, स्वतन्त्र रूप से भी किया जा सकता है, यह मौलिक सिद्धान्त ही अथर्व-वेद की प्रमुख विशेषता है।[3] एक प्रकार से यदि बहु-द्रव्य-साध्य यज्ञों (=गीता के शब्दों में 'द्रव्य-यज्ञों') से सम्बन्ध रखने वाले अन्य वेदों को केवल **संपन्न-वर्ग का वेद** कहा जाए, तो अथर्व-वेद को **जनता का वेद**[4] कहा जा सकता है।

(२)

ब्राह्मण-ग्रन्थ

वेदों के बाद वैदिक वाङमय में ब्राह्मण-ग्रन्थों का स्थान है। हम ऊपर कह चुके हैं कि प्राचीन परिभाषा के अनुसार मन्त्र-भाग और ब्राह्मण-भाग, दोनों के

---

१. तु० **"मन्त्राश्च कर्मकरणाः"** (आश्वलायन-श्रौतसूत्र १।१।२१), तथा **"आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्"** (मीमांसासूत्र १।२।१)।

२. तु० **"अथर्ववेदस्तु यज्ञानुपयुक्तः शान्तिपौष्टिकाभिचारादिकर्मप्रतिपाद-कत्वेनात्यन्तविलक्षण एव।"** (प्रस्थानभेद)।

३. तु० **"न तिथिर्न च नक्षत्रं न ग्रहो न च चन्द्रमाः। अथर्वमन्त्रसंप्राप्त्या सर्वसिद्धिर्भविष्यति॥"** (अथर्वपरिशिष्ट २।५)।

४. तु० **"सा निष्ठा या विद्या स्त्रीषु शूद्रेषु च। आथर्वणस्य वेदस्य शेष इत्युपदिशन्ति।"** (आपस्तम्बधर्मसूत्र २।२९।११—१२)। इन सूत्रों पर टीका को भी देखिए।

लिए समान रूप से वेद शब्द का प्रयोग साहित्यिक परम्परा में चला आया है। इससे ब्राह्मण-ग्रन्थों का महत्त्व स्पष्ट है।

प्रत्येक वैदिक संहिता के साथ एक या अनेक ब्राह्मण-ग्रन्थों का घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता है। इसी दृष्टि से ऋग्वेद के **ऐतरेय-ब्राह्मण** आदि, यजुर्वेद के **शतपथ-ब्राह्मण** आदि, सामवेद के **ताण्ड्य-महाब्राह्मण** आदि अनेक ब्राह्मण माने जाते हैं। अथर्ववेद का केवल एक ब्राह्मण **गोपथ** है।

उपर्युक्त सब ब्राह्मण बड़े-बड़े ग्रन्थ हैं। **शतपथ** तो बहुत बड़ा ग्रन्थ है। इसमें १०० अध्याय और १४ काण्ड हैं। अन्य ब्राह्मण छोटे-छोटे हैं।

ब्राह्मण-ग्रन्थों की एक विशेषता यह है कि वे गद्यात्मक हैं। इसलिए संस्कृत-भाषा की गद्यात्मक शैली के विकास के अध्ययन की दृष्टि से उनका अत्यन्त महत्त्व है।

दर्शपूर्णमास आदि वैदिक (श्रौत) यज्ञों की विधि, उनकी व्याख्या और प्रसंगतः अनेक वैदिक मन्त्रों की व्याख्या, यही ब्राह्मण-ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। वैदिक यज्ञों के स्वरूप आदि को समझने के लिए सब से अधिक प्रामाण्य इन्हीं ग्रन्थों का है। इसीलिए याज्ञिक दृष्टि से वेद और ब्राह्मणों को एक ही कोटि में रखा जाता है।

वर्तमान दर्शन-शास्त्रों के उदय से प्राचीनतर दार्शनिक विचार-धारा तथा ऊहापोह की शैली, विभिन्न विषयों पर नपे-तुले परिमार्जित विचार[1], शब्दों का निर्वचन, तथा यत्र-तत्र बिखरी हुई विविध ऐतिहासिक सामग्री—इनके लिए भी, गौण दृष्टि से, ब्राह्मण-ग्रन्थों का पर्याप्त महत्त्व है।

संक्षेप में, वैदिक-धारा के स्वरूप और प्रवाह को ठीक-ठीक समझने के लिए ब्राह्मण-साहित्य का अध्ययन आवश्यक है।

(३)

वेदाङ्ग

शिक्षा, छन्दः, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, और **कल्प,** ये छह वेदांग कहलाते हैं।

शिक्षा से अभिप्राय अ, क आदि वर्णों के ठीक-ठीक उच्चारण की विद्या से है। **छन्दः** का विषय गायत्री आदि छन्दों की व्याख्या है। **व्याकरण** प्रसिद्ध है। **निरुक्त** को हम **निर्वचन-शास्त्र** या लगभग **भाषा-विज्ञान** कह सकते हैं।

१. इस विषय में हमारे **ऐतरेयब्राह्मण-पर्यालोचन** तथा **ऐतरेयारण्यक-पर्यालोचन** ग्रन्थों को देखिए।

ज्योतिष से यहाँ अभिप्राय **खगोल-विद्या** से है। कल्प के श्रौतकर्मकाण्ड, गृह्य-कर्मकाण्ड तथा धर्मसूत्रों का विषय, ये तीन भेद हैं।

कालान्तर में विभिन्न संस्कृतियों और विचारों के संपर्क और संघर्ष आदि के कारण वेदों की अध्ययनाध्यापन आदि की परम्परा में कुछ-न-कुछ शैथिल्य आना स्वाभाविक था। इसीलिए भारतवर्ष के परिवर्तित वातावरण में वेदों के उच्चारण की रक्षा, वेदों के अध्ययन की सुविधा और वैदिक आचार-विचार तथा कर्म-काण्ड की परम्परा की सुरक्षा की दृष्टि से ही उक्त छह वेदांगों (=वेद की सहायक विद्याओं) का प्रारम्भ और अद्वितीय विकास प्राचीन काल में ही हो गया था।

ऊपर के छहों नाम वास्तव में विद्या-(अथवा विषय-) परक हैं, ग्रन्थ-परक नहीं। तो भी, आजकल प्रत्येक वेदांग से कुछ निश्चित ग्रन्थ ही समझे जाते हैं; जैसे, शिक्षा से **पाणिनि मुनि की शिक्षा** (यद्यपि वह पाणिनि की बनायी हुई नहीं है), छन्दः से **पिंगल-कृत छन्दःसूत्र** (इसमें वैदिक और लौकिक संस्कृत के भी छन्दों की व्याख्या है), व्याकरण से **पाणिनि-मुनि-कृत अष्टाध्यायी** (इसमें भी लौकिक संस्कृत तथा वैदिक भाषा, दोनों का व्याकरण दिया है), निरुक्त से **यास्क-मुनि-कृत निरुक्त**, ज्योतिष से **लगध आचार्य का वेदाङ्ग-ज्योतिष**, और कल्प से विभिन्न वेदों और वैदिक शाखाओं से संबद्ध (१) गृह्यसूत्र, (२) श्रौत-सूत्र, और (३) धर्म-सूत्र।

वेदांगों की परम्परा में धीरे-धीरे **छन्दः, व्याकरण, ज्योतिष और कल्पसूत्रान्तर्गत धर्मसूत्रों** के विषयों ने सामान्य विद्याओं का रूप धारण कर लिया और इस रूप में ये विषय बराबर उन्नति करते रहे। इसी प्रकार अन्य अनेक भारतीय विद्याओं के विकास में वैदिक परम्परा का साक्षात् या असाक्षात् रूप में हाथ रहा है।

उपर्युक्त वेदांगों के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों में प्रायः सब के निर्माण का समय ईसवी सन् से कुछ शताब्दियों पहले का है। हम भारतीयों के लिए यह साधारण गर्व की बात नहीं है। व्याकरण के विषय में तो भारत ने उन्नति की वह सीमा प्राप्त की थी, जहाँ तक संसार अभी तक नहीं पहुँच सका है।

(४)

वैदिक परिशिष्ट

वेदांगों के अतिरिक्त वेदों के पाठ, तथा उनके ऋषि, छन्दः, देवता आदि की अनुक्रमणियों आदि के सम्बन्ध में लिखे हुए सैकड़ों फुटकल छोटे-बड़े ग्रन्थों का परिगणन वैदिक परिशिष्टों में किया जाता है।

वेदों की भिन्न-भिन्न शाखा वालों ने अपनी-अपनी संहिता को सुरक्षित रखने की दृष्टि से अनेकानेक उपायों का अवलम्बन किया था। संहिताओं में पदों की सन्धि को तोड़ कर उनके **पद-पाठ** आदि अनेक प्रकार के पाठ तैयार किये गये। संहिताओं की अनेक प्रकार की सूचियाँ या अनुक्रमणियाँ बनायी गयीं। उनके पदों तक की संख्या की गयी। स और श या ष के भेद पर तथा ब और व के भेद पर और इसी प्रकार की अन्य छोटी-से-छोटी बातों को लेकर पुस्तकें लिखी गयीं। अभिप्राय था अपनी-अपनी संहिता की रक्षा।

ऐसे ग्रन्थों में ऋग्वेद से सम्बन्ध रखने वाली **शौनक** आचार्य की **बृहद्देवता** (लगभग ई० पू० ५०० की) तथा **कात्यायन** की **ऋक्सर्वानुक्रमणी** (ई० पू० ४५० के लगभग) अति प्रसिद्ध हैं।

सैकड़ों की संख्या में उपलब्ध इन परिशिष्टात्मक ग्रन्थों से भारतीय वाङ्मय की परम्परा में वेदों का अद्वितीय महत्त्व और वैदिक धारा के अनुयायियों में वेदों के प्रति अगाध श्रद्धा का अस्तित्व ही प्रकट होते हैं।

छठा परिच्छेद

वैदिक धारा की दार्शनिक भूमिका

पिछले परिच्छेद में हमने वैदिक धारा की साहित्यिक भूमिका के रूप में वैदिक वाङ्मय की रूपरेखा को दिखाया है। वैदिक धारा के स्वरूप तथा विकास आदि को दिखाने से पहले, उनको ठीक-ठीक समझने के लिए, यह आवश्यक है कि वैदिक धारा की दार्शनिक भूमिका को भी दिखा दिया जाए।

उक्त रूपरेखा से प्रतीत हो गया होगा कि वैदिक धारा का इतिहास लम्बा ही नहीं है, उसके क्रमिक विकास में शनैः-शनैः अनेक प्रकार के परिवर्तन भी होते रहे हैं। इन परिवर्तनों के कारण ही अन्त में एक ऐसी स्थिति आयी, जिसमें उसका अपना मौलिक वेग बहुत मन्द होने लगा और इसकी आवश्यकता हुई कि उसके वेग को आगे बढ़ाने के लिए उसके साथ किसी नयी धारा का संगम हो।

उक्त परिवर्तन और विकास का प्रभाव उसकी मौलिक दार्शनिक दृष्टि पर भी पड़ना स्वाभाविक था। वास्तव में परिस्थिति और दार्शनिक दृष्टि का कुछ ऐसा अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है कि दोनों का एक-दूसरे पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। सृष्टि की परम्परा में बीज और वृक्ष में कौन पहले है, यह कहना कठिन है। इसी तरह परिस्थिति और दार्शनिक दृष्टि में कौन पहले है, यह कहना प्रायः कठिन होता है।

वैदिक धारा की क्रमशः बदलती हुई परिस्थिति में उसकी दार्शनिक दृष्टि भी समष्टि रूप में बराबर एक-सी नहीं रह सकती थी। इसलिए इस परिच्छेद में जिस दार्शनिक भूमिका को हम दिखाना चाहते हैं, उससे हमारा अभिप्राय प्रायेण वैदिक धारा की उस दार्शनिक दृष्टि से है, जिसको लेकर वह मूल में आगे बढ़ी थी।

अगले परिच्छेद में हम वैदिक धारा के इतिहास में क्रमशः आने वाली तीन अवस्थाओं का वर्णन करेंगे। उनमें से प्रायेण प्रथम अवस्था की ही जो दार्शनिक दृष्टि कही जा सकती है, उसीको यहाँ हम दिखाना चाहते हैं। वास्तव में उसी को 'वैदिक धारा की दार्शनिक भूमिका' कहा जा सकता है। सबसे पहले हम देवतावाद पर विचार करेंगे।

देवतावाद

मानव-जाति के इतिहास में सदा से देवता-वाद का विशिष्ट स्थान रहता आया है। मूल में देवतावाद, एक प्रकार से, मनुष्य के आदर्शवाद का ही नामान्तर या रूपान्तर है[1]। बलवती प्राकृतिक शक्तियों और घटनाओं के सामने अपने को दुर्बल और बेबस पा कर क्षणभंगुर जीवन वाला मानव अपने सामने ऐसे आदर्शों को खड़ा करता है, जिनसे वह समय-समय पर अपने जीवन में सान्त्वना, प्रेरणा तथा शान्ति प्राप्त कर सके। वैदिक साहित्य के प्रमुख ग्रन्थ निरुक्त[2] में, मनुष्य की कामना (या आदर्श) के आधार पर, जो देवता की परिभाषा की गयी है, उससे भी यही ध्वनि निकलती है।

इसीलिए प्रत्येक जाति के देवता या देवताओं के स्वरूप में उसके अपने आदर्शों की अनुरूपता स्पष्टतया प्रतिबिम्बित होती है। इसलिए क्रूर कर्मों में निरत जाति के देवताओं में क्रूरता-प्रधान गुण और सौम्य जाति के देवताओं में दया, प्रेम-जैसे सौम्य गुण देखे जाते हैं। वास्तव में, किसी भी जाति के स्वरूप और स्वभाव का बहुत कुछ चित्रण उसके देवताओं के स्वरूप और स्वभाव के अध्ययन से किया जा सकता है।

देवताओं के सम्बन्ध में यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि उनका प्रायः घनिष्ठ सम्बन्ध तत्तज्जाति की अपनी प्राकृतिक परिस्थिति से भी हुआ करता है। उदाहरणार्थ, शीतप्रधान देश में ही अग्नि में देवतात्व की भावना का उदय होना समझ में आ सकता है[3]। ऐसा होने पर भी, प्रत्येक देवता का (अग्नि-देवता का प्राकृतिक अग्नि के समान) प्राकृतिक या भौतिक आधार अवश्य ही हो, ऐसा नहीं है। कम-से-कम, अनेकानेक देवताओं के विषय में उस आधार को दिखाना बहुत कठिन होता है।

---

१. तु० "संस्कृतेषु तारतम्यं य आदर्शा दर्शयन्ति नः। त एव देवतारूपा दृश्यन्ते भावमूलकाः॥" (रश्मिमाला २८।४)

२. तु० "यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।" (निरुक्त ७।१)

३. तु० "अग्निर्हिमस्य भेषजम्" (यजु० २३।१०)।

वैदिक देवतावाद

वैदिक देवताओं के विषय में सबसे पहली बात यही है कि उनमें बहुतों का प्राकृतिक आधार प्रायः स्पष्ट है। उदाहरणार्थ, अग्नि, वायु, आपः (जल), आदित्य, उषस् आदि वैदिक देवताओं के वर्णनों से (तथा नामों से भी) स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ भौतिक अग्नि आदि को ही ऊपर उठा कर देवतात्व के आसन पर बिठाया गया है। अश्विन् (या अश्विनौ), वरुण आदि कुछ वैदिक देवताओं के वर्णन में इस दृष्टि से अस्पष्टता रहने से, उनके भौतिक या प्राकृतिक आधार के विषय में संदेह अवश्य रह जाता है। पर अधिकतर वैदिक देवताओं के स्वरूप को देखते हुए, इसमें सन्देह नहीं रहता कि मूल में इनका भी कोई निश्चित भौतिक आधार अवश्य रहा होगा। वेद-मन्त्रों तथा अन्य वैदिक साहित्य के सूक्ष्म विवेचनात्मक अध्ययन से तथा तुलनात्मक देवता-विज्ञान आदि की सहायता से इसका ठीक-ठीक पता अवश्य लगाया जा सकता है।

इस प्रकार मूल में प्राकृतिक आधार रखने वाले प्रधान वैदिक देवताओं की न केवल संख्या का[1] ही उल्लेख मिलता है, उनका कर्मभेद तथा स्थानभेद से वर्गीकरण भी निरुक्त-जैसे प्रामाणिक ग्रन्थों में किया गया है[2]।

यही नहीं, उनके मूल में प्राकृतिक आधार होने पर भी, स्तोता की तन्मयता के आवेग के कारण, उन-उन देवताओं में, उनके पृथग्व्यक्तित्व की पराकाष्ठा के द्योतक, पुरुष-विधत्व[3] का आरोप भी प्रायः मन्त्रों में देखा जाता है। देवताओं के हाथ, पैर आदि अंगों के साथ[4] उनके वाहन[5], यहाँ तक कि उनकी पत्नियों[6]

---

१. तु० "ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ। अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ॥" (ऋग्० १।१३९।११) यहाँ देवताओं की संख्या ३३ दी है।

२. तु० "तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः। वायुर्वा इन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः। तासां माहाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वा कर्मपृथक्त्वात् ।...अपि वा पृथगेव स्युः। पृथग्घि स्तुतयो भवन्ति। तथाभिधानानि।" (निरुक्त ७।५)।

३. तु० "अथाकारचिन्तनं देवतानाम्। पुरुषविधाः स्युरित्येकम् ।..." (निरुक्त ७।६)।

४-६. तु० "ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू" (ऋग्० ६।४७।८)। "आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि" (ऋग्० २।१८।४)। "कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते" (ऋग्० ३।५३।६)

का भी वर्णन मन्त्रों में देखा जाता है। विभिन्न देवताओं के मन्त्रों में विभिन्न प्रकार की स्तुतियों से उनके पारस्परिक पृथक्त्व की भावना और भी पुष्ट हो जाती है।

इस प्रकार वैदिक मन्त्रों में **बहु-देवता-वाद** स्पष्ट दिखायी देता है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि क्या यह देवताओं की अनेकता वास्तविक है? क्या उसके पीछे रहने वाली किसी मौलिक एकता का भान उस समय नहीं था? इसका उत्तर यही है कि व्यावहारिक दृष्टि से यह ठीक है कि वैदिक देवता अपनी-अपनी स्वतन्त्र या पृथक् सत्ता के साथ माने जाते थे। विभिन्न प्राकृतिक कार्यों का संचालन करने वाली इन दैवी शक्तियों की प्रात्यक्षिक पृथक् सत्ता किससे छिपी है? तो भी, वैदिक मन्त्रों के गम्भीर अध्ययन से विभिन्न-स्थानीय और विभिन्न कर्म करने वाले देवताओं में अनुस्यत जो एक-सूत्रता दिखायी देती है, उसके आधार पर यह मानना पड़ता है कि उनका मूलरूप अध्यात्म है, जिसकी कार्मिक दृष्टि से विभिन्न प्रतीति को ही तत्तद्देवता का नाम दिया गया था।

वैदिक देवता परस्पर केवल अविरोध भाव से ही नहीं, अपितु परस्परोन्नायक भाव से भी कार्य करते हुए, चराचर जगत् के नैतिक (या आभ्यन्तर) तथा भौतिक (या बाह्य) शाश्वत नियमों के अनुसार 'सत्य' और 'ऋत' का पालन करते हुए ही अपना-अपना कार्य करते हैं। **"देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते"** (ऋग्० १०।१९१।२) (अर्थात्, दैवी शक्तियाँ परस्परोन्नायक या सामञ्जस्य के भाव से ही अपने-अपने कर्तव्य का पालन करती हैं), **"सत्यमेव देवाः"**, **"ऋतज्ञाः"**[1] इत्यादि वैदिक वचनों का यही अभिप्राय है।

वैदिक देवताओं की इस मौलिक आध्यात्मिक एकता[2] का वर्णन वेदों में ही

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ (ऋग्० १।१६४।४६)

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ (यजु० ३२।१)

(अर्थात्, तत्त्व-दर्शी लोगों की दृष्टि में इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा,

---

१. **"सत्यमेव देवाः....एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम्"** (शतपथब्राह्मण १।१।१।४-५)। **"ये देवानां.... अमृता ऋतज्ञाः"** (ऋग्० ७।३५।१५)। **"ऋतधीतय .....सत्यधर्माणः"** (ऋग्० ५।५१।२)।

२. निरुक्त में इसी सिद्धांत का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है: **"माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।...प्रकृतिसार्वनाम्याच्च।...."** (निरुक्त ७।४)।

आदित्य, वायु, चन्द्रमा, ब्रह्म, आपः, प्रजापति आदि नाम एक ही मौलिक सत्ता या अध्यात्म-तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं) इस प्रकार यत्र-तत्र पाया जाता है।

गीता का विभूति-वाद भी इसी सिद्धान्त की व्याख्या करता है।

तो भी यह मानना पड़ेगा कि वैदिक मन्त्रों में सामान्यतः दृष्टि जितनी तत्तद्देवताओं के अपने व्यक्तित्व (या व्यष्टित्व) पर है, उतनी उनकी मौलिक एकता पर नहीं है। विराट् रूप में या अन्यथा एकता की ओर स्पष्टतया संकेत करने वाले स्थल वेदों में अवश्य हैं; पर उनकी दृष्टि उस समय की सर्व-साधारण की मान्यता और विश्वास की दृष्टि से बहुत ऊँची है।

इसीलिए, जैसा कि आगे चलकर हम दिखाएँगे, याज्ञिक कर्म-काण्ड की अत्यधिकता की दृष्टि के समय वह एकता प्रायः ओझल हो जाती है, और अन्त में प्रायः बिलकुल नहीं रहती। इसी अवस्था की प्रतिक्रिया के रूप में पीछे से अद्वैत की प्रतिपादक औपनिषद धारा का उदय वेदान्त (=वेद+अन्त) के रूप में हुआ था।

उपर्युक्त कारण से ही वेदों में किसी ऐसे शब्द का मिलना कठिन है, जो, आजकल के 'ईश्वर' या 'परमेश्वर' शब्द की तरह, एक ही देवाधिदेव का असंदिग्ध रूप में प्रतिपादक हो।[1] 'ब्रह्म' या 'विराट् पुरुष' शब्दों का सम्बन्ध, मौलिक तत्त्व के अर्थ में, तत्त्ववेत्ताओं की दार्शनिक दृष्टि से है, सर्व-साधारण के देवतावाद से नहीं।

इस सम्बन्ध में एक और बात की ओर भी संकेत करना आवश्यक है। आज-कल वेद-व्याख्याता अग्नि, इन्द्र आदि वैदिक देवताओं के स्वरूप की व्याख्या 'प्रकाशमान् ईश्वर', 'ऐश्वर्यशाली परमेश्वर' इत्यादि प्रकार से ही कर देना पर्याप्त समझते हैं। पर क्या इनका प्रयोग वेद में विशेषण-रूप से ही है? ऐसा तो नहीं प्रतीत होता। तत्तद्देवता के लिए निश्चित रूप से विभिन्न स्थिर नाम देने का अभिप्राय उनके स्थिर-निश्चित स्वरूप से अवश्य होना चाहिए। "अहं वैश्वानरो भूत्वा....पचाम्यन्नं चतुर्विधम्" (गीता १५।१४) गीता के इस वचन से इसी बात का कुछ संकेत मिलता है। इसलिए हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि अनेकानेक वैदिक देवताओं के अपने-अपने विशिष्ट स्वरूप को समझने का अपेक्षणीय यत्न अभी तक किया ही नहीं गया है। अश्विनौ, त्वष्टा, पूषा, नराशंसः, रुद्रः आदि ऐसे ही नाम हैं। 'अग्नीषोमौ', 'मित्रावरुणौ', 'इन्द्रवायू', 'इन्द्रापूषणौ',

---

१. इस सम्बन्ध में द्वितीय परिच्छेद के प्रथम पाद-टिप्पण में उल्लिखित 'ईश्वर'-शब्द-विषयक हमारे लेख को देखिए।

इत्यादि देवता-द्वन्द्वों से भी उपर्युक्त धारणा को पुष्टि मिलती है। इस सम्बन्ध में तत्तद्देवताओं के विशिष्ट वर्णनों के गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता है।

वैदिक देवताओं का स्वरूप

ऊपर कहा है कि वैदिक देवता पारस्परिक पूर्ण सामञ्जस्य से काम करते हैं। वे समस्त चराचर जगत् की न केवल प्राकृतिक व्यवस्था (ऋत), अपितु नैतिक व्यवस्था (सत्य) के भी पोषक और संरक्षक हैं। उनके नियम अटल हैं। उनकी सारी प्रवृत्ति जगत् के भद्र और कल्याण के लिए है। वे प्रकाश-रूप हैं; अज्ञान और अन्धकार से परे हैं। वे सतत-कर्म-शील हैं। इसीलिए मनुष्य का वास्तविक कल्याण देवताओं के साथ सर्वथा सायुज्य और तादात्म्य में ही है।[1]

प्राकृतिक शक्तियों का, वैदिक देवताओं के रूप में, यह वर्णन कितना सुन्दर और ऊँचा है! वैदिक देवतावाद प्राकृतिक शक्तियों के साथ मनुष्य-जीवन के सामीप्य की ही नहीं, तादात्म्य की भी आवश्यकता को बताता है। वास्तव में आज के जगत् की यह एक अत्यन्त आवश्यकता है, जब कि यन्त्रों और वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रभाव से हमारा जीवन प्रकृति और स्वाभाविकता से बहुत दूर होता जा रहा है। वानप्रस्थाश्रम, तीर्थों की यात्रा, मुनियों के आश्रम तथा गुरुकुलों की परम्परा का स्मरण रखने वाली भारतीय संस्कृति का सदा से यह सन्देश मानव जाति के लिए रहा है। आज संसार को इसकी और भी अधिक आवश्यकता है।

---
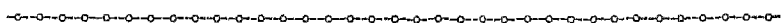
१. तु० "देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम्। देवानां सख्यमुप सेदिमा वयं देवा न आयुः प्र तिरन्तु जीवसे॥" (ऋग्० १।८९।२)

"सत्यमेव देवाः" (शतपथ-ब्राह्मण १।१।१।४)। "इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति" (अथर्व० २०।१८।३)। "विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवाः" (ऋग्० २।२३।१९)। "महतां...देवानां बृहताम्" (ऋग्० १०।३६।११)। "देवाः...अमृता ऋतज्ञाः। रातिषाचो अभिषाचः स्वर्विदः" (ऋग्० १०।६५।१४)। "देवान् हुवे...ज्योतिष्कृतो...ये...अमृता ऋतावृधः" (ऋग्० १०।६६।१)।

तथा "सातत्येन स्वकर्तव्यपालने ये दृढव्रताः। स्वार्थबुद्ध्या न संपृक्ताः परोपकरणे रताः॥ विश्वसंचालने भागं संजानाना उपासते।...ते देवा वेद आम्नाता महद्भ्योऽपि महत्तराः।...सायुज्यमथ सारूप्यं सालोक्यमपि वा पुनः। वस्तुतः सखिभावश्च तैः सहास्माभिरिष्यताम्॥" (रश्मिमाला ३८।२-५)

वैदिक स्तोता का स्वरूप

उपर्युक्त कल्याणोन्मुखता आदि स्वभाव वाले देवताओं में आस्था रखने वाले वैदिक स्तोता का स्वभाव और चरित्र भी उन देवताओं के अनुरूप ही होना चाहिए।

"सत्यमेव देवाः, अनृतं मनुष्याः" (शतपथ-ब्राह्मण १।१।१।४) (अर्थात्, स्वभाव से ही देवता सत्याचरण वाले और मनुष्य अनृताचरण वाले होते हैं) इस वैदिक उक्ति के अनुसार वह अपनी मानव-स्वभाव-सुलभ त्रुटियों और दुर्बलताओं को अच्छी तरह समझता है। तो भी उसको दैवी उदात्त आदर्शों में विश्वास और आस्था है, और इसीलिए वह उन आदर्शों के प्रतिमूर्ति-रूप देवताओं के अनुरूप ही अपने को बनाना चाहता है। उसका पहला व्रत-ग्रहण यही है—

"अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयम्...
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥" (यजु० १।५)

अर्थात्, हे व्रतों के पति अग्नि देवता! मैं अनृत को छोड़ कर सत्य को प्राप्त करना चाहता हूँ। तुम्हारे अनुग्रह से मैं इसको पूरा कर सकूं, यही मेरा व्रत है।

वह मंगलमयी आशामयी उदात्त भावनाओं का केन्द्र है। वह अपने चारों ओर, न केवल अपने देश या जाति में, न केवल इस पृथिवी पर, अपितु समस्त विश्व में सुख, शान्ति, सौमनस्य, सौहार्द और प्रकाश का साम्राज्य चाहता है। उसका दृष्टिकोण अत्यन्त विशाल है[1]।

वैदिक उदात्त भावनाओं का वर्णन हम एक स्वतन्त्र परिच्छेद में करेंगे।

वह अन्धकार (=अज्ञान) से प्रकाश (=ज्ञान) की ओर जाने को उत्सुक है[2]।

वह जीवन की वास्तविक परिस्थिति को खूब समझता है; पर उससे घबड़ाता नहीं है। उसकी हार्दिक इच्छा यही रहती है कि वह उसका वीरता-पूर्वक सामना करे। वह संसार में परिस्थितियों का स्वामी, न कि दास, होकर जीवन व्यतीत करना चाहता है[3]।

---

१. तु० "विश्वदानीं सुमनसः स्याम" (ऋग्० ६।५२।५)। "यत्रानन्दाश्च मोदाश्च...तत्र माममृतं कृधि" (ऋग्० ९।११३।११)। "पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः" (ऋग्० ६।७५।१४)। "अग्ने...मा सुचरिते भज" (यजु० ४।२८)।

२. तु० "उद्वयं तमसस्परि...अगन्म ज्योतिरुत्तमम्" (यजु० २०।२१)।

३. तु० "अहमिन्द्रो न परा जिग्ये" (ऋग्० १०।४८।५)। "अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्" (अथर्व० १२।१।५४)। "मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः" (ऋग्० १०।१२८।१)। "अहमस्मि सपत्नहा" (ऋग्० १०।१६६।२)। इत्यादि।

उपर्युक्त कारणों से जीवन उसके लिए भारभूत या दुःखमय न होकर, उत्तरोत्तर उन्नति करने के लिए एक महान् साधन है[१]।

वह जीवन में ही स्वतः एक अनोखा उल्लास और उत्साह अनुभव करता है, जो केवल निर्दोष बाल्यभाव से युक्त हृदय ही अनुभव कर सकता है।[२]

उपर्युक्त भावनाओं से ही प्रेरित होकर, वह अपने देवताओं की स्तुति और प्रार्थना करता है। उस स्तुति में दास्य-भाव नहीं होता। वास्तव में दास्य-भाव से वह परिचित ही नहीं है। **"न त्वेवार्यस्य दासभावः"** (अर्थात्, आर्यत्व और दास्य, दोनों एक साथ नहीं रह सकते), यह एक प्राचीन उक्ति है। उसका अपने उपास्य देवताओं के साथ सख्य-भाव या ऐसा ही प्रेम-मूलक भाव होता है।[३]

किसी भी दार्शनिक दृष्टि का आन्तरिक स्वरूप **जीवन की दृष्टि और चरम लक्ष्य** में प्रतिबिम्बित या पर्यवसित होना चाहिए। इसलिए वैदिक धारा की दार्शनिक भूमिका के स्वरूप और प्रेरणा को ठीक-ठीक समझने के लिए वैदिक जीवन की दृष्टि और चरम लक्ष्य पर विचार करना आवश्यक है। इसलिए इन दोनों प्रश्नों पर और उनसे सम्बद्ध **'सृष्टि का प्रयोजन'**, इस प्रश्न पर भी यहाँ हम विचार करेंगे।

वैदिक जीवन की दृष्टि और चरम लक्ष्य

दार्शनिक दृष्टिकोण से वैदिक जीवन की दृष्टि और चरम लक्ष्य को जैसा हम समझ सके हैं, वह जीवन और उसके लक्ष्य के विषय में हमारी सहस्रों वर्षों की परम्परा से प्राप्त दृष्टि से मौलिक रूप में भिन्न है। इसलिए उसके अपने स्वरूप को दिखाने से पहले परम्परागत दृष्टि को संक्षेप में दिखा देना आवश्यक है।

जैसा हम पहले परिच्छेद में संकेत कर चुके हैं, जीवन के विषय में हमारी **परम्परागत दृष्टि** (=संसार और जीवन दुःखमय हैं। अतएव हेय हैं। इससे मोक्ष या छुटकारा पाना ही हमारा ध्येय होना चाहिए) का मौलिक आधार हमें बहुत कुछ प्राग्वैदिक या प्राचीनतर वैदिकेतर संस्कृति या संस्कृतियों में ही दिखायी देता है। इस विषय में परम्परागत दृष्टि, **वैदिक दृष्टि** (=संसार और जीवन का उद्देश्य हमारा उत्तरोत्तर विकास है। उत्तरोत्तर विकास का ही नाम अमृतत्व है। यही निःश्रेयस है) से, जैसा हम नीचे दिखाएँगे, इतनी

---

१. तु० **"जीवा ज्योतिरशीमहि"** (साम० पू० ३।७।७)।

२. तु० **"भवेम शरदः शतम् भूषेम शरदः शतम्"** (अथर्व० १९।६७।६-७)।

३. तु० **"देवानां सख्यमुप सेदिमा वयम्"** (ऋग्० १।८९।२)। **"स नः पितेव सूनवे"** (ऋग्० १।१।९)।

भिन्न है कि परम्परागत दृष्टि की जड़ को प्राग्वैदिक धारा तक ले जाए बिना, हम उसके उद्गम और विकास को समझ ही नहीं सकते। दोनों में बहुत-कुछ वैसा ही अन्तर है, जैसा कि साधारणतया जीवन के विषय में एक जरा-जीर्ण बूढ़े मनुष्य और एक प्रफुल्ल-चित्त शक्तिशाली तथा सच्चरित्र नवयुवक की दृष्टियों में पाया जाता है।

उक्त परम्परागत दृष्टि का मौलिक आधार जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि इधर सहस्रों वर्षों से भारतवर्ष के वातावरण में वह व्याप्त रही है। हमारे सारे दर्शन (वैदिक और वैदिकेतर कहे जाने वाले) तथा पुराण, धर्म-शास्त्र आदि का सारा साहित्य उसी दृष्टि को लेकर चलता है और उसी को पुष्ट करना चाहता है।

यहाँ हम विषय-विस्तार के भय से अन्य पुराणादि के साहित्य को न लेकर, केवल दर्शनों से ही इस विषय पर कुछ प्रकाश डालना चाहते हैं।

यह मानी हुई बात है कि हमारे सारे दर्शनों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यही है कि मनुष्यों को सांसारिक जीवन के दुःखों से छुटकारे का वास्तविक मार्ग दिखाया जाए। इसके लिए वे सब अपने-अपने दृष्टिकोण से सांसारिक जीवन को दुःखमय, और इसीलिए **'बन्ध'** कहते हैं, और उससे छूटने को **'मुक्ति'**, **'मोक्ष'**, **'अपवर्ग'**, या **'निर्वाण'**–जैसे शब्दों द्वारा व्यक्त करते हैं। प्रायः सब, किसी-न-किसी रूप में, हेय (=त्यागने के योग्य, अर्थात् दुःख), हेयहेतु (=अविद्या आदि कारण, जिनसे दुःख उत्पन्न होता है), हान (=दुःख का मुक्ति के रूप में नाश) और हानोपाय (=दुःख से मुक्ति पाने के तत्त्वज्ञान आदि उपाय), इन चार पदार्थों का मुख्यतया प्रतिपादन करते हैं[1]।

उदाहरणार्थ, **गौतम-न्यायसूत्र** में कहा है :

"दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः। बाधनालक्षणं दुःखम्। तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः। विविधबाधनायोगाद् दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः।" (न्यायसूत्र १।१।२,२१–२२। तथा ४।१।५५)।

अर्थात्, दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान, इनमें से उत्तरोत्तर (मिथ्याज्ञान आदि) के अपाय से उनके अनन्तर (दोष आदि) का अभाव हो जाता है, और इस प्रकार **अपवर्ग** अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। दुःख के

१. तु० **"हेयं दुःखमनागतम्। तस्य हेतुरविद्या। तदभावात् संयोगाभावो हानम्...। विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।"** (योगसूत्र २।१६,२४-२६)। **"हेयं, तस्य निर्वर्तकं, हानमात्यन्तिकं, तस्योपायोऽधिगन्तव्य इत्येतानि चत्वार्यर्थपदानि सम्यग् बुद्ध्वा निःश्रेयसमधिगच्छति।"** (न्यायसूत्र-वात्स्यायनभाष्य १।१।१)

अत्यन्त अभाव को ही अपवर्ग कहते हैं। अनेक-संकटाकीर्ण होने से जन्म को भी दुःख-स्वरूप ही मानना चाहिए।

इसी प्रकार कापिल-सांख्यसूत्र का कहना है :
"अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः। ज्ञानान्मुक्तिः। बन्धो विपर्ययात्।" (सांख्यसूत्र १।१। तथा ३।२३–२४)।

अर्थात्, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक, इन तीनों प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। तत्त्व-ज्ञान से 'मुक्ति' होती है और 'बन्ध' का कारण मिथ्याज्ञान है।

इसी प्रकार हेय, हेय-हेतु, हान तथा हानोपाय की व्याख्या के साथ-साथ **पातञ्जल-योगसूत्र** का कहना है : "दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" (योगसूत्र २।१५)।

अर्थात् विवेकी मनुष्य की दृष्टि में यह सारा संसार दुःख-रूप ही है।

बौद्ध-दर्शन में भी "सर्वं दुःखम्" (=संसार में सब-कुछ दुःखमय है), ऐसी भावना पर बड़ा बल दिया गया है। जीवन के चरम-लक्ष्य-भूत मोक्ष के लिए उनका पारिभाषिक शब्द **'निर्वाण'** (=दीपक की लौ की तरह बुझ जाना) है, जिसमें स्पष्टतः अभावात्मक अर्थ की प्रधानता है।

इसी प्रकार **वेदान्त-दर्शन, जैन-दर्शन** आदि में भी बन्ध, दुःख और मोक्ष का सिद्धान्त किसी-न-किसी रूप में माना गया है।

उक्त दार्शनिक विचार-धारा का **जीवन की दृष्टि और उसके चरम लक्ष्य** के सम्बन्ध में क्या अर्थ निकलता है, इस पर किञ्चित् विचार करने की आवश्यकता है।

सबसे मुख्य बात यही है कि उक्त दार्शनिक विचारधारा की दृष्टि से हमें मानना पड़ता है कि

(१) यह संसार, चाहे वह किसी ईश्वर का बनाया हुआ है, या हमारे अदृष्ट (=पुण्य तथा अपुण्य) के कारण या अन्यथा अपने रूप में आया है, निश्चित रूप से हमारे कर्मों के फलों को भोगने का स्थान है;

(२) हमें उन फलों को भोगने के लिए किसी अदृष्ट शक्ति द्वारा बरबस इसमें डाला गया है;

(३) अतएव यह हमारे लिए बन्ध, दूसरे शब्दों में, कारागृह या जेल के रूप में है।

इसीलिए यह संसार, चाहे प्रकृति ने इसे कितना ही सुन्दर क्यों न बनाया हो, हमारे लिए केवल दुःखमय है। स्वभावतः कोई भी क़ैदी जेल के अन्दर के शोभा-सौन्दर्य में कोई रुचि नहीं रख सकता। उसका मन तो सदा अपनी

मुक्ति की प्रतीक्षा में ही व्यग्र रहता है। इसी तरह हमारा प्रथम कर्तव्य हो जाता है कि किसी-न-किसी प्रकार से इस दुःखमय संसार के बन्धन से मुक्ति की प्राप्ति की जाए।

इस विचारधारा के अनुसार सृष्टि का प्रयोजन केवल यही रह जाता है कि वह हमारे लिए एक जेल का काम कर सके। ऐसी अवस्था में हमारे दुःखमय जीवन का चरम लक्ष्य भी केवल निषेधात्मक या अभावात्मक मोक्ष या छुटकारा-मात्र रह जाता है।

इस प्रकार की जेल की मनोवृत्ति में आशावाद, उल्लास और उदात्त नैतिक भावनाओं के स्थान में केवल निराशावाद, अवसाद और नैतिक अधःपतन का ही प्रसार हो सकता है। ऐसे वातावरण में जीवन का नीरस और भाररूप हो जाना स्वाभाविक है।

इस विचार-धारा का हमारे पुराणादि के साहित्य पर कैसा प्रभाव पड़ा है, उसके कुछ नमूने हम नीचे उद्धृत करते हैं।

संसार या मृत्यु-लोक के विषय में कोई कह रहा है--

मृत्युलोके महादुःखं कथयामि ततः शृणु।

...　　　...　　　...

संसारः स्वप्नमात्रश्च चलाः प्राणा धनं तथा।
सुखं तत्र न पश्यामि दुःखं तत्र दिने दिने॥
इन्द्रजालमयं दृष्ट्वा संसारं...
अभ्रमध्ये च पश्यन्ति चञ्चलां विद्युतां गतिम्।
क्षणं दृष्ट्वा च नश्यन्ति तथा संसारिणो जनाः॥
जले च बुद्बुदो यद्वत्तद्वत्संसारिणो जनाः।....

अर्थात्, मृत्युलोक में महादुःख है। संसार एक स्वप्नमात्र है। प्राण, धनादि अस्थायी हैं। उसमें सुख नाममात्र को नहीं है; दुःख प्रतिदिन रहता है। संसार इन्द्रजालमय या धोखे की चीज है। बादलों में चञ्चल विद्युत् अथवा पानी में बुलबुले के समान ही मनुष्यों का जीवन है। इत्यादि।

इसी प्रकार के संसार को हेय, असार और मिथ्या तथा जीवन को क्षण-भंगुर और दुःखमय बताने वाले विचार हमारे पुराणादि में तथा संस्कृतेतर प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य में भी भरे पड़े हैं। भारतवर्ष की जनता पर और विशेष कर हमारे पारिवारिक आदि जीवन पर उनका जैसा निराशामय प्रभाव रहा है और अब तक है, वह किससे छिपा है?

उपर्युक्त विचार-धारा की तुलना में अब हमें वैदिक विचार-धारा को देखना चाहिए।

वैदिक विचार-धारा के अनुसार हमारा जीवन, एक क़ैदी का-सा दुःखमय निराशामय जीवन न होकर, हमारे उत्तरोत्तर विकास की एक आशामय अवस्था विशेष है। जैसे अपनी बुद्धि और ज्ञान के उत्तरोत्तर विकास के लिए उत्सुक छात्र उत्साह और उमंग के साथ एक श्रेणि से दूसरी में, दूसरी से तीसरी में, इसी तरह क्रमशः उत्तीर्णता प्राप्त करता हुआ, अपने विकास के मार्ग में अग्रसर होता जाता है, वैसे ही जीवन की यात्रा में उन्नति-विरोधिनी भावनाओं और शक्तियों पर विजय प्राप्त करता हुआ, आत्मा बराबर अपने उत्तरोत्तर विकास की ओर उन्नति करता जाता है।

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

(यजु० २०।२१)

(अर्थात्, अज्ञान से प्रकाश की ओर बढ़ते हुए हम अपने को उत्तरोत्तर समुन्नत करें)[1] आदि वैदिक वचनों म इसी उत्तरोत्तर विकास की ओर संकेत है। इस दृष्टि से मनुष्य-जीवन के स्वरूप का वर्णन हम अपने शब्दों में इस प्रकार कर सकते हैं :

जीवनं परमोत्कृष्टः प्रसादो जगतीपतेः।
तस्य तत्त्वं रहस्यं च ये विदुस्ते मनीषिणः॥
कर्मैव जीवनं नित्यं विकासस्तस्य भास्वरः।
उत्तरोत्तरलोकेषु कर्तव्यत्वेन मन्यताम्॥
उत्तरोत्तरमुत्कर्षि जीवनं शाश्वतं हि नः।
अस्पृष्टं तमसा चापि मोहरूपेण सर्वथा॥

(रश्मिमाला २१।१,६–७)

अर्थात्, यह हमारा जीवन भगवान् का सर्वोत्कृष्ट प्रसाद है। मनीषी लोग ही इसके तत्त्व और रहस्य को समझते हैं। कर्म ही तो जीवन है। उसका प्रकाशमय उत्तरोत्तर विकास ही हमारा कर्तव्य है। वास्तव में तो आत्मा का जीवन शाश्वत है। वह सर्वदा उत्तरोत्तर उत्कर्ष की ओर चलता है। वह मोह अथवा निराशारूपी अन्धकार से परे है।

इस विचार-धारा की दृष्टि से, यह स्पष्ट है, इस सृष्टि का प्रयोजन हमको बन्ध या क़ैद में डाल कर दण्ड देने का नहीं है, अपितु हमारे सतत-प्रगतिशील विकास में सहायक होना ही है।

---

१. तु० "परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु" (अथर्व० १८।३।६२)।

जगत्-सृष्टि के मूल में जो भी सर्जन करने वाली शक्ति है, वह निश्चय ही चेतनायुक्त होने के साथ-साथ करुणामयी भी है[1]। उसके द्वारा उत्पन्न की हुई इस सृष्टि का सारा उद्देश्य या प्रयोजन केवल हमारे विकास में सहायता देने का ही है; ठीक उसी तरह, जैसे एक सुन्दर रमणीय विद्यालय का निर्माण बच्चों के सर्वप्रकार के विकास के लिए होता है। ऐसे स्कूल या विद्यालय के छात्रों और जेल के क़ैदियों की मनोवृत्तियों में कितना मौलिक अन्तर होता है! एक क़ैदी के निराशामय दुःखमय जीवन की तुलना में, छात्र के जीवन में आशा उल्लास और उत्साह होते हैं। उसका हृदय आशा के प्रकाश से सदा प्रकाशित रहता है। उसके जीवन का पहला मन्त्र होता है :

निराशायाः समं पापं मानवस्य न विद्यते ॥
आशा सर्वोत्तमं ज्योतिर्निराशा परमं तमः ॥

(रश्मिमाला १।१,३)

अर्थात्, मनुष्य के लिए निराशा के बराबर दूसरा पाप नहीं है। आशा सर्वोत्कृष्ट प्रकाश है और निराशा घोर अन्धकार है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि वैदिक विचार-धारा के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य, दुःख का अभावरूप, मुक्ति या मोक्ष जैसा न होकर, निश्चितरूप से भावात्मक ही है। वह चरम लक्ष्य केवल अमृतत्व, आनन्त्य या निःश्रेयस ही कहा जा सकता है। वैदिक साहित्य में प्रायः इन्हीं शब्दों द्वारा चरम लक्ष्य का निर्देश किया गया है।

इन अमृतत्व आदि शब्दों का अभिप्राय यही है कि मनुष्य (या आत्मा), अपनी अज्ञान-बहुल अपूर्णता की अवस्था से अपने को विकसित करता हुआ, पूर्णता की ओर बढ़ता जाता है। वह पूर्णता स्वयं अनन्त है, उसी तरह, जैसे आकाश या अनन्तानन्त सूर्य-रूपी तारात्रों से युक्त यह दृष्ट तथा अदृष्ट ब्रह्माण्ड अनन्त है।

जीवन के इसी चरम लक्ष्य को वैदिक परिभाषा में 'अन्धकार से प्रकाश की ओर जाना' (तु० "तमसो मा ज्योतिर्गमय") या 'आनन्दमय ज्योतिर्मय अमृत लोक की प्राप्ति' (तु० "यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्।

---

१. तु० "विश्वमेतद् यया शक्त्या धार्यते पाल्यते तथा। नूनं सा प्रथमा बुद्धिश्चेतना चैव मन्यताम् ॥ तया सहेतुकं विश्वमाब्रह्माण्डं व्यवस्थितम्। चाल्यते हितभावेन... ॥" (रश्मिमाला ६६।१-२)।

तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षिते ।" ऋग्० ९।११३।७) जैसे भावात्मक आदर्शों के रूप में भी प्रायः वर्णन किया गया है। वास्तव में इन सब का अभिप्राय एक ही है।

वैदिक दार्शनिक दृष्टि का महत्त्व

भारतीय संस्कृति की वैदिकधारा की दार्शनिक भूमिका को जिस रूप में हमने ऊपर दिखाया है, वह वास्तव में अत्यन्त प्राचीन होने पर भी एक प्रकार से बिलकुल नवीन भी है। कम-से-कम यह तो स्पष्ट ही है कि इधर, सहस्त्रों नहीं, तो सैकड़ों वर्षों से हमारी जिस उत्तरवर्ती दार्शनिक विचार-धारा को वैदिक समझा जाता रहा है, वह वैदिक विचार-धारा की मौलिक दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त भिन्न है।

वैदिक धारा की मौलिक दार्शनिक दृष्टि के विषय में जो कुछ ऊपर लिखा गया है, वह किञ्चिन्मात्र भी वैदिक मन्त्रों की खींचा-तानी पर आश्रित नहीं है। हमारा विश्वास है कि वैदिक मन्त्रों में जो उदात्त, आशामय विचारधारा बह रही है, उसको हम पूर्वोक्त दार्शनिक दृष्टि को स्वीकार किये बिना समझ ही नहीं सकते। एक के बिना दूसरी रह नहीं सकती।

> **बहुत से विद्वानों को भी यह जानकर आश्चर्य होगा कि वैदिक संहिताओं में 'मुक्ति', 'मोक्ष' अथवा 'दुःख' शब्द का प्रयोग एक बार भी हमको नहीं मिला। हमारी समझ में उपर्युक्त वैदिक दार्शनिक दृष्टि की पुष्टि में यह एक अद्वितीय प्रमाण है।**

जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि उपर्युक्त दार्शनिक भूमिका की भावभित्ति के आधार पर ही हम अधिकतर वैदिक मत्रों के स्वरूप को समझ सकते हैं और वैदिककालीन आर्यों के जीवन को मानो स्नेहमयी प्रकृति-माता की गोद में खेलते हुए बच्चों का उल्लासमय जीवन कह सकते हैं। वह जीवन प्रकृति के प्रत्येक रूप में : उषा में, रात्रि में, अरण्यानी में, सूर्य और चन्द्र में, वायु में, सर्वत्र ही अकृत्रिम सौंदर्य, माधुर्य और निर्दोष आनन्द की अबाध धारा का अनुभव कर सकता है।

उक्त मानसिक अवस्था का वर्णन हम अपने शब्दों में इस प्रकार कर सकते हैं :—

> **प्रकृतेर्मातृभूतायाः क्रोडे क्रीडन्ननारतम् ।**
> **लालितः पालितश्चापि सदानन्दो वसाम्यहम् ॥**
> **स्नेहार्द्रं नित्यसंस्थायि तस्या माधुर्यमद्भुतम् ।**
> **दृष्ट्वा पीत्वेव पीयूषं तदानन्दो वसाम्यहम् ॥**

(रश्मिमाला ३६।१—२)

अर्थात्,

प्रकृति-माता की गोद में
सदा क्रीड़ा करता हुआ,
तथा लालित और पालित,
मैं सदा आनन्द से रहता हूँ!
उसके स्नेह से आर्द्र, नित्य रहने वाले,
अद्भुत माधुर्य को देखकर,
मानों अमृत को पीकर,
मैं सदा आनन्द से रहता हूँ!

लोकोत्तरेण दिव्येन माधुर्येण समन्विता।
येयं प्रसादनी शक्तिर्लोके सर्वत्र संस्थिता॥
सूर्ये चन्द्रे जले वायावुत्फुल्लकुसुमावलौ।
सेयमाविर्भवेत् शश्वत् तिष्ठतान्मम मानसे॥

(रश्मिमाला ३४।१-३)

अर्थात्,

लोकोत्तर दिव्य माधुर्य से समन्वित,
जो प्रसादनी शक्ति
सृष्टि में सर्वत्र—
सूर्य में, चन्द्रमा में, जल में, वायु में,
प्रफुल्ल कुसुमावलि में—
संस्थित है, वह आविर्भूत होकर
सर्वदा मेरे मन में वास करे!

उपर्युक्त भाव-भूमिका में ही हम वेद के अनेकानेक जीवन-संगीतों के मर्म को समझ सकते हैं। उदाहरणार्थ, ऐसा ही एक जीवन-संगीत हम नीचे देते हैं:

पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्।
बुध्येम शरदः शतम्। रोहेम शरदः शतम्।
पूषेम शरदः शतम्। भवेम शरदः शतम्।
भूषेम शरदः शतम्। भूयसीः शरदः शतात्॥

(अथर्व० १९।६७।१-८)।

अर्थात्, सौ और सौ से भी अधिक वर्षों तक हम जीवित रहें, देखने-सुनने आदि में सशक्त रहें, ज्ञान का उपार्जन करें, बराबर उन्नति करते रहें, पुष्ट रहें, आनन्दमय स्वस्थ जीवन व्यतीत करते रहें और अपने को भूषित करते रहें!

जीवन के विषय में यह सुखद, स्वस्थ, भव्य और स्वर्गीय भावना कितनी उत्कृष्ट है! भारतीय संस्कृति की लम्बी परम्परा में यह निःसन्देह अद्वितीय है और गंगा की लम्बी धारा की परम्परा में गंगोत्तरी के जल के समान दिव्य और पवित्र है!

इस मौलिक वैदिक विचार-धारा का वैदिक-काल में ही शनैः शनैः रूपान्तर कैसे हो गया, इसको हम आगे दिखाने का यत्न करेंगे।

सातवाँ परिच्छेद

वैदिक धारा की तीन अवस्थाएँ

पिछले परिच्छेद में, वैदिक धारा की दार्शनिक भूमिका का वर्णन करते हुए, हमने वैदिक धारा के इतिहास में क्रमशः आने वाली विभिन्न अवस्थाओं की ओर संकेत किया है। यह सत्य है कि हमारे प्राचीन ग्रन्थकारों के लेखों में किसी भी विचार-धारा की क्रमिक अवस्थाओं पर विचार करने की पद्धति स्पष्टतः नहीं पायी जाती। इन ग्रन्थकारों का अपना दृष्टिकोण प्रायः सांप्रदायिक होता है और वे उसी दृष्टिकोण से अपनी सांप्रदायिक विचार-धारा के गीत गाते हैं। उनके लिए उनकी सांप्रदायिक विचार-धारा एक चिरन्तन, शाश्वत परम्परा की वस्तु होती है और इसीलिए उसके प्रारम्भ, विकास और ह्रास के विषय में विचार करने की गुंजायश ही नहीं होती।

परन्तु प्रकृत ग्रन्थ की तो विशेषता ही यह है कि भारतवर्ष की विभिन्न विचार-धाराओं में न केवल उनके पारस्परिक प्रभाव अथवा आदान-प्रदान को दिखाया जाए, अपितु उनमें से प्रत्येक प्रधान विचार-धारा की अवान्तर क्रमिक अवस्थाओं को दिखाते हुए, उसके अनन्तर आने वाली विचार-धारा के साथ, उसके ऐसे अपरिहार्य क्रमिक संबंध को भी सहेतुक दिखाया जाए, जिससे अन्त में हम समष्टिमूलक भारतीय संस्कृति की एक जीवित अविच्छिन्न परम्परा के सिद्धान्त की स्थापना कर सकें।

किसी भी ऐतिहासिक विकास के अध्ययन में दो पक्ष हो सकते हैं। एक तो बाह्य प्रभावों का अन्वेषण, और दूसरा, आन्तरिक कारणों का विश्लेषण। इन दोनों में से, प्रथम की अपेक्षा दूसरे का महत्त्व स्पष्टतः कहीं अधिक होता है। हमारी उन्नति या अवनति में बाह्य कारणों की अपेक्षा हमारा ही उत्तर-

दायित्व अधिक होता है। विचारशील मनुष्य के लिए अन्तरवेक्षण या आत्म-परीक्षण का महत्त्व इसीलिए अत्यधिक माना जाता है।

उपर्युक्त कारणों से, प्रकृत ग्रन्थ की दृष्टि से, वैदिक धारा के इतिहास में क्रमशः आने वाली अवस्थाओं का विचार, और वह भी उसकी अपनी ही अन्तरंग प्रधान प्रवृत्तियों के अध्ययन के आधार पर, किया जाना अत्यन्त आवश्यक है।

वैदिक धारा के इतिहास में, जैसा हम नीचे दिखाएँगे, विभिन्न प्रवृत्तियाँ तो पायी ही जाती हैं, साथ ही आगे चल कर एक ऐसा समय आता है, जब वैदिक धारा का, विनशन-प्रदेश में ऐतिहासिक सरस्वती नदी की तरह[1], प्रायेण लोप हो जाता है और उसके स्थान में अन्य धाराएँ बहती हुई दीखती हैं। इस सारी परिस्थिति को ठीक-ठीक समझने के लिए हमको वैदिक धारा के प्रारम्भ, विकास और ह्रास के स्वरूप और कारणों के अध्ययन तथा अनुसन्धान में बलात् प्रवृत्त होना पड़ता है।

इस अनुसन्धान को विशुद्ध कल्पना-मूलक या युक्तिमूलक ही न समझना चाहिए। प्रसन्नता की बात है कि संस्कृत-साहित्य में भी इस अनुसन्धान के लिए पुष्कल सामग्री और प्रमाण मिल जाते हैं। इसलिए नीचे हम अपना प्रत्येक प्रतिपादन, आवश्यक युक्तियों के साथ-साथ, यथासंभव प्राचीन प्रमाणों के आधार पर करना चाहते हैं।

वैदिक परम्परा के तीन काल

'वैदिक वाङ्मय की रूपरेखा' (परिच्छेद ५) से विशाल वैदिक वाङ्मय के महान् विस्तार के साथ-साथ, विभिन्न स्तरों का भी बहुत-कुछ संकेत पाठकों को मिल गया होगा। इस विस्तृत वाङ्मय के विकास का काल कितना लम्बा होगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। विभिन्न विद्वानों के अनुसार, यह सैकड़ों वर्षों से सहस्रों वर्षों तक का हो सकता है। इसी लम्बे काल में वैदिक धारा के प्रारम्भ, विकास और ह्रास का इतिहास छिपा होना चाहिए। वास्तव में है भी ऐसा ही।

इसी दिशा में, सौभाग्य-वश, यास्क-आचार्य-कृत सुप्रसिद्ध निरुक्त में हमको एक अत्यन्त महत्त्व का प्रमाण मिलता है। वेद के छह अंगों में निरुक्त[2]

---

१. देखिए—"हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि। प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः॥" (मनुस्मृति २।२१)। यहाँ टीकाकारों के अनुसार 'विनशन' वह स्थान कहलाता था, जहाँ सरस्वती नदी अन्तर्हित होती थी।

२. तु० "तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्।" (निरुक्त १।१५); "निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते" (पाणिनिशिक्षा)।

का प्रमुख स्थान है। इसलिए निरुक्त के प्रमाण का मूल्य अत्यधिक है, इसमें विवाद नहीं हो सकता।

निरुक्त का उपर्युक्त प्रमाण यह है—

"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः। वेदं च वेदाङ्गानि च।" (निरुक्त १।२०)।

अर्थात्, प्रारम्भ में ऐसे ऋषि हुए, जिन्होंने धर्म का स्वयं साक्षात्कार किया था। उनके पीछे ऐसे लोग आये, जिन्होंने स्वयं धर्म का साक्षात्कार नहीं किया। उन्होंने उपदेश द्वारा मन्त्रों को प्राप्त किया। उनके भी अनन्तर ऐसे लोग हुए, जिनको मन्त्रोपदेश में रुचि नहीं थी। उन्हीं लोगों ने मन्त्रार्थ को समझने के लिए वेद और वेदांगों का समाम्नान (=संग्रन्थन) किया।

स्पष्टतः इसका अभिप्राय यही है कि निरुक्तकार यास्क के समय तक वैदिक वाङ्मय की परम्परा को तीन कालों में विभाजित किया जाता था। इनमें से प्रथम काल को 'मन्त्र-काल' भी कहा जा सकता है। इसी काल में ऋषियों ने, जिनको मन्त्रों में 'कवि' भी कहा गया है, अपने मानस-तपो-बल और लोकोत्तर प्रतिभा से 'धर्म' का (अग्नि, वायु, आदित्य आदि के स्वरूप का, अथवा मन्त्रों में प्रतिपादित अर्थ का) स्वयं साक्षात्कार या अनुभव किया और उसको मन्त्रों द्वारा प्रकट किया। ऊपर के उद्धरण में 'साक्षात्कृतधर्माणः' का यही अभिप्राय है। दूसरे शब्दों में, मन्त्रों के 'दर्शन' या निर्माण का यही युग था।

द्वितीय काल को हम 'मन्त्र-प्रवचन-काल' भी कह सकते हैं। इस काल में मन्त्रों का 'दर्शन' या निर्माण बहुत-कुछ रुक चुका था, क्योंकि परिवर्तित-नूतन राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थिति में मंत्रों के 'दर्शन' या निर्माण के लिए पहले-जैसी प्रेरणा नहीं रही थी। उस समय प्रायेण श्रुति-परम्परा-प्राप्त प्राचीन मन्त्रों को, गुरु-शिष्य की प्रवचन-श्रवण-पद्धति[1] द्वारा, सुरक्षित रखने पर ही ध्यान था।

ऐसा प्रतीत होता है कि वेद के लिए 'श्रुति' शब्द के प्रयोग का प्रारम्भ इसी समय हुआ था।

शनैः शनैः ऐसा समय (तृतीय काल) आया जब कि उक्त प्रवचन-श्रवण-पद्धति में भी शिथिलता आने लगी और अनुभव किया जाने लगा कि परम्परा-प्राप्त वाङ्मय का ग्रन्थीकरण किया जाए। वैदिक संहिताओं के साथ-साथ ब्राह्मणों-जैसे वाङ्मय का संग्रन्थन इसी काल की कृति है।

---

१. इस सम्बन्ध में इसी ग्रन्थ के द्वितीय परिशिष्ट के (क) अंश में 'संस्कृत-साहित्य में ग्रन्थ-प्रणयन' शीर्षक लेख देखिए।

'ऋक्संहिता', 'यजुःसंहिता' आदि में प्रयुक्त 'संहिता' शब्द से भी ऊपर की बात की पुष्टि होती है। 'संहिता' शब्द का वास्तविक अर्थ आज-कल प्रायः विलुप्त-सा हो रहा है। पर इसके ठीक-ठीक अर्थ को समझ लेने से संस्कृत वाङमय के संबंध में अनेक ग्रन्थियों का समाधान स्वतः हो जाता है।

प्राचीन परम्परा के अनुसार 'महाभारत' एक संहिता है; 'वाल्मीकि-रामायण' को संहिता नहीं कहा जाता। इस एक ही उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'संहिता' शब्द का तात्पर्य प्रथमतः ऐसे संग्रहात्मक ग्रन्थ से होता है, जिसमें विभिन्न स्रोतों से प्राप्त सामग्री को एकत्र कर दिया जाता है। 'महाभारत' इसी अर्थ में एक संहिता है, ऐसा विद्वानों का मत है। 'चरक-संहिता', 'सुश्रुत-संहिता' आदि में भी 'संहिता' शब्द का मौलिक अर्थ यही है। इसलिए यही मानना पड़ता है कि विभिन्न काल में 'दृष्ट' या निर्मित और अनेक ऋषिवंशों में बिखरे हुए परम्परा-प्राप्त मन्त्रों के संग्रह होने के कारण ही वैदिक संहिताओं को 'संहिता' कहा जाता है। स्पष्टतः मन्त्र-निर्माण-काल से संहिताओं का काल बहुत पीछे का है। ऐसा होने पर भी, कुछ संप्रदाय-वादियों का यह कथन कि वैदिक संहिताएँ अपने वर्तमान रूप में 'अनादि' या 'अपौरुषेय' हैं, कितना उपहासास्पद प्रतीत होता है!

निरुक्त के ऊपर दिये गये उद्धरण में, जिन तीन कालों का उल्लेख है, उनमें से एक-एक काल की लंबाई काफ़ी बड़ी रही होगी। प्रत्येक परम्परा के लिए लंबे काल की अपेक्षा होती है।

वैदिक विचार-धारा का इतिहास

ऊपर प्रधानतः वैदिक मंत्रों के निर्माण, उनकी श्रुति-परम्परा और संग्रन्थन के आधार पर सामान्य रूप से तीन कालों का विचार किया गया है। पर वैदिक मन्त्रों की परम्परा के साथ-साथ चलने वाली वैदिक विचार-धारा का भी कोई इतिहास होना चाहिए। ऋषियों द्वारा मन्त्रों की प्रवृत्ति एक विशेष काल में ही हुई, और आगे चल कर प्रायेण वह रुक गयी, इसका मौलिक कारण उस काल की विभिन्न परिस्थितियों में ही मानना पड़ेगा। उन परि-स्थितियों का प्रभाव, मन्त्रों की अपनी परम्परा की तरह, उनके साथ में चलनेवाली विचारधारा पर भी अवश्य पड़ना चाहिए। उन विभिन्न राजनीतिक आदि परिस्थितियों पर विचार करने का यह अवसर नहीं है। यहाँ तो हम केवल मन्त्र-परम्परा के उपर्युक्त तीनों कालों में बहने वाली विचार-धारा का वर्णन करेंगे।

वैदिक धारा का प्रथम काल

ऋषियों द्वारा वैदिक मन्त्रों के प्रवर्तन का यह युग वास्तव में वैदिक संस्कृति का उषःकाल था, जब प्राण-प्रद वातावरण और जीवन-प्रद प्रभावों से प्रेरित होकर आर्यजाति अपने यशस्वी जीवन की लम्बी विजय-यात्रा में अग्रसर हो रही थी, और अपने वेदमय (=विचारशील) पुरोहितों अर्थात् पुरोगामी नेताओं के नेतृत्व में उसके प्रभाव का बराबर विस्तार हो रहा था। वास्तव में इसी उत्साहप्रद जाति-व्यापी वातावरण ने ऋषियों को मन्त्रों के प्रवर्तन में प्रेरणा प्रदान की थी।

इस काल में मन्त्रात्मक वेद और आर्यजाति के जीवन में एक प्रकार से एकरूपता थी। उसका जीवन वेद था और वेद जीवन था; क्योंकि एक से दूसरे की व्याख्या की जा सकती थी और आर्यजाति के जीवन में उदात्त वैदिक आदर्शों का जीता-जागता नमूना दिखायी देता था।

उस समय में आर्यजाति के अन्तर्हृदय में जो उत्साह और उमंग की लहरें उद्वेल्लित हो रही थीं, जो ओज उसकी धमनियों में बह रहा था, उसका प्रत्यक्ष दर्शन आज भी वैदिक मंत्रों द्वारा हो सकता है। आर्यजाति के सतत-कर्मशील जीवन की वास्तविकता और आशावाद, तथा साथ ही विश्व में व्याप्त दैवी शक्ति की साक्षात् अनुभूति मंत्रों के प्रत्येक शब्द से प्रतिध्वनित हो रही है। ऐसा प्रतीत होता है मानो विश्व-विजयिनी आर्यजाति की विजय-यात्राओं में देवता उसके साथ 'मार्च' करते थे। वास्तव में इसी युग की मन्दस्मृति को पुराणों में आलंकारिक भाषा में, मनुष्यों के बीच में देवताओं के आने और वार्तालाप करने के रूप में, वर्णन किया गया है।

पिछले परिच्छेद में वैदिक धारा की जिस दार्शनिक दृष्टि का प्रतिपादन हमने किया है, उसका विशुद्ध, वास्तविक जीवित रूप इसी प्रथम काल में हमें मिलता है। उस आशावादिनी दार्शनिक दृष्टि को जन्म देने वाली और बराबर अनुप्राणित करने वाली भद्रभावना, समष्टिभावना आदि वैदिक उदात्त भावनाओं का मुख्य समय भी यही था।

वैदिक उदात्त भावनाओं का वर्णन, जिनको हम वैदिक संस्कृति का प्राण समझते हैं, हम अगले परिच्छेद में करेंगे।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस प्रथम काल में, जो सच्चे अर्थों में **कृति और निर्माण का युग** था, और जिसको हम पिछली पौराणिक भाषा में **'सत्ययुग'** या **'कृतयुग'** का नाम दे सकते हैं, सुप्रसिद्ध पूजा-पद्धति के रूप में,

कर्म-काण्ड का नाममात्र रहा होगा। उस समय तो आर्यों का जीवन ही उनका कर्म-काण्ड था। किसी भी जाति के निर्माण-काल में उसका सतत-कर्म-शील जीवन ही कर्मकाण्ड होता है। जीवन में इतना अवकाश ही नहीं मिलता कि कृत्रिम कर्मकाण्ड की ओर मनुष्य प्रवृत्त हों। जो कवि स्वयं अपनी कविता कर सकता है, वह दूसरों के पदों को लेकर किसी कर्मकाण्ड में प्रवृत्त नहीं होता।

वास्तव में, जैसा हम नीचे दिखाएँगे, कर्मशील जीवन और कर्मकाण्ड के विकास और ह्रास में एक द्वन्द्वात्मक अनुपात रहा करता है। किसी भी संस्कृति या जाति के इतिहास से इस तथ्य को प्रमाणित किया जा सकता है।

वैदिक धारा का द्वितीय काल

वैदिक-धारा के प्रथम काल में आर्यजाति के प्रभाव का बराबर विस्तार हो रहा था यह हमने ऊपर कहा है। इसके अनन्तर व्यवस्था और संगठन के प्रारम्भ का युग आता है।

द्वितीय काल में वैदिकधारा में जहाँ एक ओर स्थिरता और गम्भीरता आयी और भारतीय जीवन, समाज और राजनीति को व्यवस्थित करने की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ, वहाँ दूसरी ओर परम्परा से प्राप्त वैदिक मन्त्रों और उनकी विचार-धारा को सुरक्षित रखने का भी प्रयत्न किया गया।

उपर्युक्त वैदिक परम्परा की रक्षा की प्रवृत्ति के कारण ही, प्रथम काल के समान इस युग में भी, वैदिक आदर्शों का जीता-जागता रूप, न केवल शाब्दिक परम्परा के रूप में, अपितु जीवन में वस्तुतः पायी जाने वाली वैदिक उदात्त भावनाओं के रूप में भी, आर्यजाति में विद्यमान था। निश्चय ही उस दिव्य जीवन और अवस्था का ज्ञान हमें केवल वेद-मंत्रों से ही हो सकता है। उत्तर-कालीन साहित्य, चाहे वह कितना ही प्राचीन क्यों न हो, उस अवस्था को ठीक-ठीक अनुभव करने में हमारा सहायक नहीं हो सकता।

प्रथम काल के समान इस युग में भी हमारे पूर्वज वास्तव में अपने प्रतिदिन के जीवन में, प्रकृति-माता की गोद में मानो बच्चों की तरह खेलते हुए[1],

---

१. तु० "प्रकृतेर्मातृभूतायाः क्रोडे क्रीडन्ननारतम्। लालितः पालितश्चापि सदानन्दो वसाम्यहम्॥ स्नेहार्द्रं नित्यमास्वाद्य तस्याः माधुर्यमद्भुतम्। दृष्ट्या पीत्वेव पीयूषं सदानन्दो वसाम्यहम्॥" (संस्कृतमाला २३।१-२)

परमात्मा के विभूति-रूप सूर्य, वायु, उषा आदि देवताओं के साथ मानो सखा-भाव से विचरते और बातचीत करते हुए, ऐसे दिव्य गीत गाते थे :

> चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
> आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।।
>
> (ऋग्० १।११५।१)

(अर्थात्, देवताओं के रमणीय मुखड़े के समान, मित्र वरुण और अग्नि के चक्षुःस्थानीय, जंगम और जड़ जगत् के आत्म-भूत, ये सूर्य भगवान् उदित हुए हैं और उदित होते ही इन्होंने पृथिवी आदि तीनों लोकों को व्याप्त कर लिया है !)

> वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे ।
> प्र ण आयूंषि तारिषत् ।।
>
> (ऋग्० १०।१८६।१)

(अर्थात्, यह वायु हमारे हृदयों के लिए कल्याणकारी और सुखकारी ओषधि के रूप में होकर बहे और हमारे लिए दीर्घ आयुष्य का संपादन करे !)

> एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात् ।
> ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति ।।
>
> (ऋग्० १।१२४।३)

(अर्थात्, द्युलोक की दुहितृ-स्थानीय, ज्योतिर्मय वस्त्रों को पहने हुए, सबके प्रति सद्‌भावना को रखने वाली, यह उषादेवी सामने दृष्टिगोचर हो रही है; मानो बुद्धि-पूर्वक वह सत्य के मार्ग का अनुसरण करती है और कभी अपने नियमों का अतिक्रमण नहीं करती ।)

अभिप्राय यह है कि आर्यजाति के जीवन में बाह्य संघर्ष के बहुत-कुछ कम हो जाने पर भी, वैदिक जीवन का प्रायेण वही रूप था, जो उसके प्रथम काल में था। साथ ही, यह भी कहा जा सकता है कि किसी भी महान् संघर्ष के अनन्तर जो शान्ति और गम्भीरता की भावनाओं का अनिवार्य संचार होता है, वह इस युग की विशेषता थी।

इसीलिए, निरुक्तकार यास्क के अनुसार वैदिक परंपरा के प्रथम काल के साथ ही मन्त्रों के प्रवर्तन के युग के समाप्त हो जाने पर भी, ऐसे मन्त्रों की रचना, जिनमें समस्त विश्व-प्रपंच में शान्ति के दर्शन की तीव्र कामना का भाव बह रहा है, प्रायेण इसी युग की वस्तु है। इसी प्रकार सामाजिक तथा

राजनीतिक सामान्य संगठन से संबद्ध मंत्रों को भी इसी काल की रचना समझना चाहिए।

ऐसी अवस्था में निरुक्त के उपरि-निर्दिष्ट उद्धरण का अभिप्राय केवल यही है कि सामान्य रूप से वैदिक परम्परा के काल-क्रम को दिखाया जाए।

पौराणिक युगों की परिभाषा में हम इस युग को सत्य-युग या कृत-युग का उत्तरार्ध कह सकते हैं। अथवा, सत्य-युग और त्रेता-युग की सन्धि-(या संक्रमण-)-काल भी कह सकते हैं।

वास्तव में यह युग वैदिक संस्कृति का प्राह्ण-काल था, जिसकी स्थिति प्रातःकाल के पश्चात् और मध्याह्न-काल से पहले होती है।

इसी द्वितीय काल में, जातीय जीवन को सुव्यवस्थित और सुसंगठित करने की प्रवृत्ति के आधार पर, याज्ञिक कर्मकाण्ड का, एक विशिष्ट कर्मकाण्ड के रूप में, प्रारम्भ हुआ था। वैदिक संस्कृति के उत्कर्ष के दिनों में याज्ञिक कर्म-काण्ड ही उसका महान् प्रतीक माना जाता था और अन्त में याज्ञिक कर्मकाण्ड की अत्यधिकता ही वैदिक संस्कृति के ह्रास का कारण हुई, यह हम आगे चल कर दिखाएँगे। याज्ञिक कर्मकाण्ड के उस विकास और तत्पश्चात् अपकास को समझने के लिए, इस द्वितीय काल में उसके प्रारम्भ को मानना आवश्यक हो जाता है।

स्वभावतः अभी तक वह अपने बाल्यकाल में ही था। अतएव कृत्रिमता के स्थान में उसमें स्वाभाविकता और सार्थकता वर्तमान थी। श्रद्धा, भक्ति और उल्लास की भावनाओं का मूर्तीकरण ही उसका आधार था। उसके साथ वैदिक मंत्रों का प्रयोग अवश्य होता था, पर पूरी तरह अर्थ-ज्ञान-पूर्वक और उनकी उपयुक्तता को देख कर। निरुक्त में गोपथ-ब्राह्मण (२।२।६) के आधार पर कहा है—

"एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं
यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति।।"

(निरुक्त १।१६)।

अर्थात्, यज्ञ की महत्ता इसी में होती है कि उसमें ऐसे ही उपयुक्त और सार्थक मंत्रों का प्रयोग किया जाए, जिनका उसके कर्मकाण्ड से वास्तविक सम्बन्ध हो। इस मौलिक सिद्धान्त की उपेक्षा ही अन्त में वैदिक कर्मकाण्ड के अपकास का प्रधान कारण हुई, यह हम आगे दिखाएँगे। पर अपने आरम्भ काल में याज्ञिक कर्मकाण्ड, निश्चय ही, इस सिद्धान्त पर आश्रित था।

वैदिक संस्कृति के विकास और ह्रास में वैदिक या याज्ञिक कर्मकाण्ड का बहुत बड़ा हाथ रहा है, यह हमने ऊपर कहा है। आगे इसकी व्याख्या की जाएगी। यहाँ, कर्मकाण्ड के विकास और ह्रास (या अपकास) से क्या अभिप्राय है, इसको स्पष्ट कर देना आवश्यक है।

कर्मकाण्ड का विकास और ह्रास

एक प्रकार से धार्मिक कर्मकाण्ड की भावना मनुष्य में स्वाभाविक होती है। जैसे एक बच्चा भी प्रकृति के सुन्दर दृश्यों को देख कर, अपने उल्लास को दबाने में असमर्थ होकर, उछलने-कूदने लगता है; इसी प्रकार मनुष्य भी प्राकृतिक देवताओं के संपर्क में, एक अद्भुत उल्लास से प्रभावित हो कर, बाह्य चेष्टा द्वारा उसको अभिव्यक्त करना चाहता है। प्रायेण इसी आधार पर विभिन्न कर्मकाण्डों का विकास हुआ है। इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति के सहारे विभिन्न जातियों में, साधारणजनों के आकर्षण और मनोरंजन की दृष्टि से, विभिन्न आदर्शों को मूर्त या ऐन्द्रियक रूप देने के लिए, समय-समय पर, विभिन्न कर्मकाण्डों का विकास होता रहता है।

मनुष्य-समाज की यह एक सार्वकालिक प्रवृत्ति है और इसकी आवश्यकता भी है। पर शनैःशनैः कर्मकाण्ड में वह अवस्था आ जाती है, जब वह जटिल होने लगता है और उसके संचालन के लिए समाज में एक विशिष्ट पुरोहित-वर्ग की आवश्यकता होने लगती है। प्रारम्भ में पुरोहित-वर्ग समाज में से ही बनने के कारण, नियंत्रित होने के साथ साथ, संयत भी होता है।

पर कुछ काल के अनन्तर कर्मकाण्ड के विकास में 'कलियुग' की अवस्था आने लगती है। इसका दुष्प्रभाव उभयतोमुखी होता है। एक ओर तो जनता में, आलस्य और अकर्मण्यता की भावना के साथ-साथ, यह विचार उत्पन्न हो जाता है कि उसका उपास्य देव उससे दूर और उसकी पहुँच से बाहर है। वह पुरोहित-वर्ग का सहारा ढूंढ़ने लगती है, और अन्त में, अपनी कर्तव्यता का सारा भार पुरोहित-वर्ग पर छोड़ कर, धर्म में वकालत या प्रातिनिध्य के सिद्धान्त को मानने लगती है। इससे प्रायेण उसकी नैतिकता के सर्वनाश की स्थिति उपस्थित हो जाती है।

दूसरी ओर पुरोहित लोग, जो प्रारम्भ में अर्थतः पुरः+हित (अर्थात् नेता) का काम करते हैं, शनैः शनैः जनता को अपने स्वार्थ के लिए दुहने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझने लगते हैं। इस अवस्था में कर्मकाण्ड 'दिन-दूना रात-चौगुना' बढ़ने लगता है; क्योंकि पुरोहित-वर्ग का हित इसी में होता है कि,

वकीलों के पंजे में फँसे मुवक्किलों की तरह, जनता, साधारण से साधारण बात के लिए उस पर आश्रित होकर, उसके लाभ का साधन बने।

संसार की विभिन्न जातियों के इतिहास में कर्मकाण्ड के विकास के (जो कि अन्त में क्रमशः अपकास का रूप धारण कर लेता है) इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। भारतवर्ष में वैदिक कर्मकाण्ड के विकास की भी गति इसी प्रकार की रही है। इसका अधिक स्पष्टीकरण हम आगे चल कर करेंगे। उसी वैदिक कर्मकाण्ड का स्वाभाविक प्रारम्भ वैदिक धारा के उपर्युक्त द्वितीय काल में हुआ था।

वैदिकधारा का तृतीय काल

ऊपर हमने वैदिक धारा के द्वितीय काल को व्यवस्था और संगठन के प्रारंभ का युग कहा है। उसी दृष्टि से इस तृतीय काल को हम वैदिक धारा की वास्तविक व्यवस्था और संगठन का युग कह सकते हैं।

इस युग को हम वैदिक संस्कृति का मध्याह्न-काल भी कह सकते हैं; क्योंकि अपने विशिष्ट रूप में वैदिक संस्कृति के परम उत्कर्ष का काल यही था।

'मध्याह्न-काल' कहने का एक दूसरा अभिप्राय भी है। मध्याह्नकाल में सूर्य का प्रकाश और तेज अपने चरम उत्कर्ष में होता है। पर उस काल के अनन्तर ही उसका अपकर्ष शुरू हो जाता है, और अपराह्न के पश्चात् तो सूर्य अस्तोन्मुख ही होने लगता है। ठीक इसी प्रकार, अपने इस तृतीय काल में परम उत्कर्ष को पाकर वैदिक धारा अपनी आन्तरिक प्रवृत्तियों के कारण ही धीरे-धीरे ह्रास की ओर चलने लगी और अन्त में प्रायः, जैसा ऊपर कहा है, विलुप्त-सी हो गयी। इसको हम ग्यारहवें परिच्छेद में स्पष्ट करेंगे। यहाँ तो उसके उत्कर्ष के स्वरूप पर ही विचार करना चाहते हैं।

याज्ञिक कर्मकाण्ड

इस तृतीय काल की सबसे बड़ी विशेषता विशाल वैदिक (या श्रौत) कर्म-काण्ड का व्यवस्थित किया जाना था।

वैदिक वाङ्मय में विस्तृत ब्राह्मण-ग्रन्थों और श्रौतसूत्रों का सम्बन्ध वैदिक यज्ञों से ही है। यही नहीं, वैदिक संहिताओं में सामवेद और यजुर्वेद का तो संग्रन्थन ही याज्ञिक दृष्टि से किया गया है, यह हम पहले कह चुके हैं।

बाह्य तथा आन्तरिक राजनीतिक संघर्ष के अनन्तर जो नयी परिस्थिति उत्पन्न हो गयी थी, उसमें आर्यजाति के विभिन्न अंगों में परस्पर सद्भावना, सामञ्जस्य, एकजातीयता और एक संस्कृति की भावना की पुष्टि के लिए, और साथ ही,

प्राचीन वैदिक परम्परा और उदात्त भावनाओं के संरक्षण के उद्देश्य से, याज्ञिक कर्मकाण्ड का विस्तार और व्यवस्था इस युग में की गयी थी। नयी परिस्थिति की वह एक अनिवार्य आवश्यकता थी।

व्यवस्थित वैदिक (याज्ञिक) कर्मकाण्ड का विकास इसी तृतीय काल में हुआ था, इस बात की पुष्टि अनेकानेक प्रमाणों से होती है। उदाहरणार्थ, मुण्डकोपनिषद् (१।२।१) में कहा है :

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो
यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि ॥

(अर्थात्, मंत्रों में देखे गये कर्मों को ही पीछे से त्रेता में बहुत प्रकार से विस्तृत किया गया)

इसी बात का आलंकारिक वर्णन श्रीमद्भागवत (स्कन्ध ११।५) में इस प्रकार मिलता है—

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिरित्येषु केशवः।
नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते ॥२०॥
कृते........................... ॥२१॥
मनुष्यास्तु तदा शान्ता निर्वैराः सुहृदः समाः।
यजन्ति तपसा देवं शमेन च दमेन च ॥२२॥
त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ चतुर्बाहुस्त्रिमेखलः।
हिरण्यकेशस्त्रय्यात्मा स्रुक्स्रुवाद्युपलक्षणः ॥२४॥
तं तदा मनुजा देवं सर्वदेवमयं हरिम्।
यजन्ति विद्यया त्रय्या धर्मिष्ठा ब्रह्मवादिनः ॥२५॥

अर्थात्, कृतयुग आदि में विभिन्न प्रकार, नाम और आकार से, विभिन्न विधि द्वारा, भगवान् की पूजा की जाती है। कृतयुग में मनुष्य शान्त, निर्वैर होकर परस्पर मित्रता और साम्य-भाव से रहते हैं और तप, शम और दम से भगवान् का यजन करते हैं। त्रेता में वेदत्रयी-रूप भगवान् स्रुक्-स्रुवा आदि याज्ञिक उपकरणों से उपलक्षित होते हैं और यज्ञवाहक अग्नि ही उनका प्रधान प्रतीक समझा जाता है। उस समय में ऋगादि वेदत्रयी से संपाद्य वैदिक यज्ञों द्वारा ही भगवान् का यजन किया जाता है।

इस वर्णन में स्पष्टतया सत्य-युग के अनन्तर त्रेतायुग में स्रुक्, स्रुवा आदि उपकरणों से युक्त वैदिक यज्ञ का प्रतिपादन किया गया है।

इसी प्रकार विष्णु-पुराण (१।५।४९) में कहा है :

> त्रेतायुगमुखे ब्रह्मा कल्पस्यादौ द्विजोत्तम ।
> सृष्ट्वा पश्वोषधीः सम्यग्युयोज स तदाध्वरे ।।

अर्थात्, ब्रह्मा ने कल्प के आदि में पशुओं और ओषधियों की सृष्टि करके, त्रेतायुग के प्रारम्भ में यज्ञ से उनका सम्बन्ध स्थापित किया ।

यहाँ स्पष्टतया, त्रेतायुग में ही यज्ञों की प्रवृत्ति हुई, यह कहा गया है । इसी श्लोक की व्याख्या में श्रीधरस्वामी ने कहा है—

"कृतयुगे यज्ञानामप्रवृत्तेः"

अर्थात्, सत्ययुग में यज्ञों की प्रवृत्ति नहीं हुई थी ।

पौराणिक परिभाषा का त्रेता-युग और हमारा उपर्युक्त वैदिक धारा का तृतीय काल वास्तव में एक ही हैं ।

वैदिक वाङमय में वैदिक यज्ञों की महिमा का गान भरा पड़ा है ।[१]

इसमें सन्देह नहीं कि उस समय की परिस्थिति में इस याज्ञिक कर्मकाण्ड ने वैदिक परम्परा के वातावरण की रक्षा के लिए बड़ा काम किया था । इसके लिए आवश्यक था कि यज्ञों में वैदिक मंत्रों का प्रयोग अर्थज्ञानपूर्वक ही किया जाए । ऊपर उद्धृत किये गये गोपथ-ब्राह्मण के वचन का भी यही अभिप्राय है ।

बड़े भारी सामूहिक संगीत (Musical Concert) के समान, यज्ञों में अनेकानेक ऋत्विजों द्वारा स्वरों के आरोह और अवरोह के साथ मंत्रों आदि का पाठ और अपने-अपने कर्तव्यों का नियमानुसार करना उपस्थित जनता पर निश्चय ही विचित्र मनोमोहक प्रभाव डालता होगा ।

इसीलिए आर्य-जाति के प्रत्येक सदस्य की यह लालसा रहती थी कि वह वैदिक यज्ञों को कर सके ।

यही याज्ञिक कर्मकाण्ड अपनी अत्यधिकता की प्रवृत्ति के कारण आगे चल कर वैदिक धारा के ह्रास का मुख्य कारण बन गया, इसका प्रतिपादन हम आगे करेंगे ।

वर्ण-विभाग की प्रवृत्ति

उक्त वैदिक कर्म-काण्ड के विकास और व्यवस्था के साथ-साथ, इस युग की दूसरी विशेषता थी जन्म-परक वर्ण-विभाग की प्रवृत्ति का उदय और विकास ।

---

१. तु० "देवरथो वा एष यद् यज्ञः" (ऐतरेयब्राह्मण २।२७) । "यज्ञो वै सुतर्मा नौः" (ऐत० ब्रा० १।१३) । "ब्रह्म वै यज्ञः" (ऐत०ब्रा० ७।२२) ।

यह निश्चय है कि वैदिक धारा के इतिहास में एक समय ऐसा था, जब जीवन-यात्रा के लिए किसी भी धन्धे को करने वाले स्त्री-पुरुष 'साक्षात्कृतधर्मा' ऋषिका तथा ऋषि तक हो सकते थे।

"कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।" (ऋग्० ९।११२।३)

(अर्थात्, एक ऋषि का कहना है कि मैं तो कवि हूँ, मेरा पिता वैद्य है, और माता पिसनहारी है) से यही बात स्पष्ट होती है। ऋग्वेद के मंत्रों के अनेक ऋषियों को पिछले ग्रन्थकारों ने, उत्तरकालीन परिभाषा में, वैश्य-ऋषि, राजन्य-ऋषि बतलाया है[1]।

एक प्रकार से वह समय विशुद्ध जनतंत्र तथा साम्यवाद का था। सारी आर्य-जनता अपने को 'विश्' (=आर्य-प्रजा[2]) समझती थी। प्रत्येक व्यक्ति अपने-आप में अपना पुरोहित, राजा तथा योद्धा था।[3] संघर्षमय जीवन के

---

१. देखिए 'आर्यविद्यासुधाकर' (१९४०), पृष्ठ ३१-३२।

२. सुना है कि इसी प्राचीन अर्थ में 'विट्' या 'बीट्' शब्द का प्रयोग गढ़-वाल आदि में आजकल भी होता है। इसका मौलिक अर्थ 'बसनेवाला' है। इसका साथी शब्द 'कृष्टि' (देखो वैदिक 'निघण्टु' में मनुष्य-नाम) भी प्रजा के अर्थ में ही ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ है। उसका सम्बन्ध स्पष्टतया कृषि से है। आदिकाल में खेतों के साथ ही बस्ती का प्रारम्भ होता था। उत्तरकालीन 'वैश्य' शब्द 'विश्' शब्द की तीसरी पीढ़ी में बना है। 'विश्' से 'विश्य' (अथर्व० ६।१३।१), और उससे 'वैश्य'। इस प्रकार कम-से-कम ऋग्वेद में 'विश्' शब्द उत्तरकालीन 'वैश्य' शब्द का समानार्थक नहीं है।

३. उस समय की प्रजा की सामाजिक स्थिति को वायु-पुराण के शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है :

"वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च न तदासन्न संकरः।.....तुल्यरूपायुषः सर्वा अधमोत्तमवर्जिताः। सुखप्राया ह्यशोकाश्च उत्पद्यन्ते कृते युगे। नित्यप्रहृष्ट-मनसो महासत्त्वा महाबलाः॥" (वायुपु० ८।६०-६२)

अर्थात्, सत्य-युग में न तो उत्तरकालीन वर्णाश्रम-व्यवस्था थी, न तन्मूलक परस्पर संघर्ष था। महान् सत्त्व और बल से संपन्न उस समय की जनता सदा प्रसन्नता से युक्त, शोकरहित, सुखमय जीवन व्यतीत करती थी। उसमें नीच-ऊँच का भाव नहीं था, और रूप तथा आयु में सब का साम्य होता था।

कारण शनैः-शनैः क्षत्र और ब्रह्म[1] इन दो कर्मों की प्रधानता हो जाने पर भी सबको विश् होने का अभिमान था।

पर सभ्यता के इतिहास में, जीवन की विसंष्ठुलता की वृद्धि के साथ-साथ, विभिन्न सामाजिक वर्गों की उत्पत्ति होती है। इसी नियम के अनुसार और विशेषतः उस समय के राजनीतिक (प्रारम्भ में आर्य-अनार्य के रूप में) संघर्ष के कारण आर्य-जनता में शनैः-शनैः राजा, क्षत्रिय (=शत्रु के घात से रक्षा करने वाला), पुरोहित (=पुरः+हित=धार्मिक कृत्य के लिए प्रतिनिधि के रूप में चुना गया व्यक्ति), ब्राह्मण (=देवताओं की स्तुति आदि करने वाला) आदि की उत्पत्ति हुई।

प्रारम्भ में राजा का चुनाव प्रजा द्वारा होता था[2] और ब्राह्मण आदि का विभाग भी कर्म-मूलक था। पर शनैः-शनैः शक्ति और प्रभाव के केन्द्रीभूत होने से इन पदों और वर्गों में रूढ़ि और स्थिरता आने लगी।

जनता में अपने-अपने प्रभाव और स्थिति को बढ़ाने की दृष्टि से उत्पन्न होने वाले ब्रह्म और क्षत्र के संघर्ष का समय यही था। इसी संघर्ष की स्वप्निल और काफ़ी विकृत स्मृति परशुराम, वसिष्ठ और विश्वामित्र की दन्तकथाओं के रूप में हमारे पौराणिक साहित्य में सुरक्षित है। इस संघर्ष का अन्त अपने-अपने

---

१. 'क्षत्र' और 'ब्रह्मन्' शब्द नपुंसक लिंग में प्रयुक्त होते हैं। अतः भाव-वाचक होने से भिन्न-भिन्न कामों के ही द्योतक हैं। ('क्षत्रिय' और 'ब्राह्मण' शब्द उक्त शब्दों से उत्तर-काल में ही निकले और व्यवहार में आये)। यह ठीक भी है, क्योंकि पहले काम होता है, फिर उससे नाम बनता है। **मूल वैदिक काल में, वास्तव में, आर्य-जनता (=विशः) में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का वर्गीकरण नहीं हुआ था।** यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि समस्त ऋग्वेद-संहिता में 'शूद्र' और 'राजन्य' शब्द केवल एक-एक बार (ऋग्० १०।६०।१२ में) आये हैं। यह सूक्त (पुरुष-सूक्त) स्पष्टतया अन्तिम वैदिक काल की रचना है। 'ब्राह्मण' और 'क्षत्रिय' शब्दों का प्रयोग भी 'ब्रह्मन्' और 'क्षत्र' शब्दों की अपेक्षा बहुत ही कम हुआ है और स्पष्टतया अपेक्षाकृत पिछले काल का है। इस प्रकार इन दो-चार शब्दों का विचार भी वर्ण-व्यवस्था के ऐतिहासिक विकास पर पर्याप्त प्रकाश डाल सकता है।

२. तु० **"विशि राजा प्रतिष्ठितः"** (यजु० २०।९)। **"राष्ट्राणि वै विशः"** (ऐत० ब्रा० ८।२६)। **"त्वां विशो वृणतां राज्याय"** (अथर्व० ३।४।२)।

कार्य-क्षेत्र में दोनों की प्रधानता की स्वीकृति में हुआ। इस प्रकार उक्त सामाजिक संघर्ष ने अन्त में सामञ्जस्य का रूप धारण कर लिया।[1]

इस प्रकार उत्तर वैदिक काल में प्रजातन्त्र के स्थान में राजतन्त्र की स्थापना हुई और सामान्य-जनता (=विश् या प्रजा) में से ही ब्राह्मण-वर्ग तथा क्षत्रिय-वर्ग के साथ-साथ वैश्य-वर्ग का भी प्रारम्भ हुआ। उत्तरकालीन रूढ़ि-मूलक वर्ण-व्यवस्था का यही सूत्रपात था।

वैदिक धारा के उपर्युक्त तृतीय काल में अत्यन्त जटिल और विस्तृत याज्ञिक कर्मकाण्ड के विकास और वृद्धि से भी जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त के विकास में स्पष्टतः अत्यन्त सहायता मिली[2]; क्योंकि ऋत्विक् के पेशे के लिए भी, अन्य पेशों के समान, वंश-परम्परा से प्राप्त 'कर्मकाण्ड-विषयक परिज्ञान आवश्यक होने लगा था।

इस प्रकार अपने-अपने स्वार्थ, आजीविका और पेशे की रक्षा की प्रवृत्ति से वर्ण-विभाग की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ। वैदिक धारा के तृतीय काल की यह भी एक बड़ी विशेषता थी। पर अभी तक इस प्रवृत्ति में वह घोर रूढ़ि-मूलकता नहीं आयी थी, जिसने आगे चल कर वैदिक धारा के प्रवाह को काफ़ी विकृत और दूषित कर दिया, जैसा कि हम आगे स्पष्ट करेंगे।

जातीय जीवन के अन्य क्षेत्रों की व्यवस्था

याज्ञिक कर्मकाण्ड (=धार्मिक क्षेत्र), और वर्ण-विभाग (=सामाजिक क्षेत्र) के समान ही, वैदिक धारा के इस तृतीय काल में जातीय जीवन के अन्य क्षेत्रों को भी व्यवस्थित करने का यत्न किया गया।

निरुक्त के अनुसार वेद और वेदांगों का (अर्थात् परम्परा-प्राप्त वैदिक वाङ्मय का) संग्रन्थन इसी काल में किया गया था, यह हम ऊपर दिखा चुके हैं। इसी वाङ्मय की परम्परा से संबद्ध गृह्य-सूत्रों और धर्म-सूत्रों से यह स्पष्ट है कि आर्य-जाति की राजनीति, दण्डनीति, शासन-नीति तथा पारिवारिक जीवन आदि को व्यवस्थित करने का युग भी वैदिक धारा का यही तृतीय काल था।

उपर्युक्त कारणों के आधार पर ही हमने तृतीय काल को वैदिक धारा के विकास का मध्याह्न-काल कहा है।

---
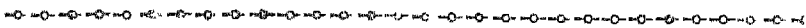
१. तु० "ब्रह्म च क्षत्रं च संश्रिते" (संश्रित=परस्पराश्रित') (ऐत० ब्रा० ३।११)। "ब्रह्मणि खलु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितम्। क्षत्रे ब्रह्म" (ऐत० ब्रा० ८।२)।

२. तु० "यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार वै। चातुर्वर्ण्यं महाभाग यज्ञसाधनमुत्तमम्॥" (विष्णु-पुराण १।६।७)।

आठवाँ परिच्छेद

वैदिक उदात्त भावनाएँ

भारतीय संस्कृति के विकास में वैदिक धारा का निर्विवाद रूप से अत्यधिक महत्त्व है, यह हम पहले (परिच्छेद ५ में) कह चुके हैं। वैदिक धारा का उद्गम वेदों से है। इसीलिए, जैसा पहले दिखला चुके हैं, वेदों की महिमा का गान संस्कृत वाङ्मय में अनेक प्रकार से किया गया है।

ऐसा होने पर भी, यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इधर सहस्रों नहीं, तो सैकड़ों वर्षों से मानवीय जीवन के लिए उपयोगी प्रेरणाओं या आदर्शों की दृष्टि से वेदों का कोई महत्त्व है या हो सकता है, इसका स्पष्ट प्रतिपादन हमारे ग्रंथों में प्रायः नहीं मिलता।

इसका मुख्य कारण, जैसा कि हम आगे चलकर स्पष्ट करेंगे, उस जीवित वातावरण के, जिसमें वेदों का प्रकाश हुआ था, नष्ट हो जाने पर, शनैः-शनैः अर्थ-हीन यान्त्रिक कर्मकाण्ड की दृष्टि के प्रसार के कारण "अनर्थका हि मन्त्राः"[1] (अर्थात्, वैदिक मंत्रों का कोई अर्थ नहीं होता, वे यज्ञ में पढ़ने मात्र से फल देते हैं), इस अपसिद्धान्त का प्रचार ही हो सकता है।

उत्तरकालीन भारतीय दृष्टि

यद्यपि 'निरुक्त' जैसे ग्रंथों में, अर्थ-ज्ञान-पूर्वक ही वेदों को पढ़ना चाहिए,

---

१. देखिए 'निरुक्त' १।१५।

इस बात पर बड़ा बल दिया गया है[1], तो भी उत्तरकालीन वैदिक परम्परा में वैदिक मंत्रों के विषय में इधर चिरकाल से,

(१) "मन्त्राश्च कर्मकरणाः" (आश्वलायन-श्रौतसूत्र १।१।२१),

(अर्थात्, मंत्रों का मुख्य उपयोग यही है कि वे कर्मकाण्ड में प्रयुक्त होते हैं),

तथा (२) "अनर्थका हि मन्त्राः" (निरुक्त १।१५)

इसी दृष्टि[2] का बोलबाला रहा है।

इसीलिए निरुक्त-कार यास्क के अनन्तर जो भी वेद-भाष्य-कार हुए हैं उनमें से प्रायः सभी ने याज्ञिक दृष्टि के आधार पर ही अपनी-अपनी व्याख्याएँ लिखी हैं।

पूर्वमीमांसा ने "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्" (१।२।१) इस सूत्र में स्पष्टतया यह स्वीकार किया है कि वेदों की उपयोगिता केवल कर्मकाण्ड की दृष्टि से है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'पस्पशाह्निक' में व्याकरण-शास्त्र के अठारह प्रयोजन दिखलाये हैं। उनमें से अधिक का संबंध वैदिक कर्मकाण्ड से ही है।

वेद के षडंग प्रसिद्ध हैं। उनमें से 'कल्प' को वेदों का 'हाथ' माना गया है[3]। श्रौत तथा गृह्य कर्मों के प्रतिपादक 'कल्प' का स्पष्टतया वैदिक कर्मकाण्ड से ही संबंध है।

वेदों के उत्तरकालीन भाष्यों में जहाँ कहीं वेद के प्रतिपाद्य विषय का और उसकी उपयोगिता का विचार किया गया है, वहाँ यही सिद्धान्त निर्धारित किया गया है कि वेद का वेदत्व इसी बात में है कि उसके द्वारा हमें प्रधानतया उस वैदिक कर्मकाण्ड का बोध होता है, जिसको हम प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा नहीं जान सकते[4]।

---

१. देखिए "स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥ यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते। अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥" (निरुक्त १।१८)।

२. इस दृष्टि का स्पष्टीकरण हम आगे चलकर (परिच्छेद ११ में) करेंगे।

३. देखिए—"छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।" (पाणिनीय-शिक्षा ४१)।

४. देखिए—"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥...अतः कर्माणि वेदस्य विषयः। तदवबोधः प्रयोजनम्।" (सायणाचार्य-कृत काण्व-संहिता-भाष्य की उपक्रमणिका)

मनुस्मृति में तो स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि यज्ञ की सिद्धि के लिए ही ऋग्वेदादि की प्रवृत्ति हुई थी[1]।

ऊपर के प्रमाणों से स्पष्ट है कि चिरकाल से हमारे देश में, भारतीय जीवन के लिए उपयोगी प्रेरणाओं या आदर्शों की दृष्टि से वेदों का कोई महत्त्व हो सकता है, इसका प्रायः विचार ही नहीं किया गया।

पाश्चात्य दृष्टि

वर्तमान युग में पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान वैदिक साहित्य की ओर गया। वैदिक वाङ्मय के अध्ययन के इतिहास में यह एक अनोखी घटना थी। इससे सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि वेदों के अध्ययन को सार्वभौम महत्त्व प्राप्त हो गया। पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक साहित्य के विषय में जो कार्य किया है वह कितना उपयोगी और महान् है, यह वैदिक विद्वानों से छिपा नहीं है। उसके लिए वे हमारे भूरि-भूरि प्रशंसा के पात्र हैं। परन्तु ऐसा होने पर भी वेदों के अध्ययन के विषय में हमारी और पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टियों और उद्देश्यों में इतना मौलिक अन्तर है कि दोनों को तुलना के लिए आवश्यक समान धरातल पर ही नहीं रखा जा सकता।

पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि और उद्देश्य उस वैज्ञानिककी दृष्टि और उद्देश्य के समान हैं जो रसायन-शाला में दुग्ध जैसे उपयोगी पदार्थों का केवल परीक्षणार्थ विश्लेषण कर डालता है, या मृत शरीर की चीर-फाड़ करता है, या खुदाई से प्राप्त पुरातत्त्व-संबंधी शिलालेख को पढ़ने की चेष्टा करता है। वैज्ञानिक के लिए उन पदार्थों का अपने-अपने रूप में कोई मूल्य नहीं होता।

भारतीय दृष्टि और उद्देश्य ठीक इसके विपरीत हैं। हम वेदों को कोरी उत्सुकता का विषय न समझ कर, उनको, न केवल भारतीय समाज, अपितु मानव-समाज के लिए एक पथ-प्रदर्शक अजर-अमर साहित्य समझते हैं। इसीलिए जहाँ पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों को भारतीय संस्कृति की जीवित परम्परा से पृथक् करके प्रायेण तुलनात्मक भाषा-शास्त्र, पुराण-विज्ञान (Mythology), मत-विज्ञान आदि की दृष्टि से ही उनका अध्ययन किया है, वहाँ हम जीवन के लिए प्रेरणाओं और आदर्शों की दृष्टि से ही वेदों का अध्ययन करना चाहते हैं।

---

१. देखिए—"अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थ-मृग्यजुःसामलक्षणम् ॥" (मनुस्मृति १।२३)

हमारी दृष्टि

यह स्पष्ट है कि वेदों के विषय में उपर्युक्त दोनों, उत्तर-कालीन भारतीय तथा पाश्चात्य, दृष्टियों से हमें अपने प्रतिपादन में कोई विशेष सहायता नहीं मिल सकती। हमारा लक्ष्य तो यही है कि हम भारतीय संस्कृति की प्रगति की दृष्टि से वैदिक धारा के प्रारम्भिक युग में उसके स्वरूप को, उसके परिस्पन्दन को, तथा जातीय जीवन के लिए उसकी प्रेरणाओं और आदर्शों को समझ सकें।

इस प्रतिपादन में हमें न तो धर्मशास्त्र आदि में वर्णित वेदों की प्ररोचना-परक महिमा से मतलब है, न याज्ञिकों के शुष्क-कर्मकाण्ड-परक वेद-विषयक गुण-गान से, और न तुलनात्मक विज्ञानों की दृष्टि से वैदिक विवेचन या विश्लेषण से। हम तो यहाँ वेद-मन्त्रों के ही शब्दों में उन उदात्त भावनाओं और महान् आदर्शों का दिग्दर्शन कराना चाहते हैं, जिनसे वेदों के मन्त्र ओत-प्रोत हैं।

हमारे मत में इसी रूप में वेद भारतीय संस्कृति की शाश्वत निधि हैं और मानवजाति के लिए सार्वभौम तथा सार्वकालिक संदेश के वाहक हैं।

नीचे हम क्रमशः इन्हीं उदात्त भावनाओं और महान् आदर्शों को वेद-मन्त्रों के आधार पर संक्षेप में दिखाते है—

१—ऋत और सत्य की भावना

वैदिक उदात्त भावनाओं का मौलिक आधार ऋत और सत्य का व्यापक सिद्धान्त है। जिस प्रकार वैदिक देवता-वाद का लक्ष्य एकसूत्रीय परमात्म-(या अध्यात्म-) तत्त्व की अनुभूति है, इसी प्रकार ऋत और सत्य के सिद्धान्त का अभिप्राय सारे विश्व-प्रपञ्च में व्याप्त उसके नैतिक आधार से है। इस आधार के दो सिरे या रूप हैं। बाह्य जगत् की सारी प्रक्रिया विभिन्न प्राकृतिक नियमों के अधीन चल रही है। परन्तु उन सारे नियमों में परस्पर-विरोध न होकर एकरूपता या ऐक्य विद्यमान है। इसी को ऋत कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन के प्रेरक जो भी नैतिक आदर्श हैं, उन सब का आधार सत्य है। अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति सच्चा रहना, यही वास्तविक धर्म है[1]। परन्तु वैदिक आदर्श, इससे भी आगे बढ़ कर, ऋत और सत्य को एक ही मौलिक

१. देखिए—"वस्तुतोऽवस्तुतश्चापि स्वरूपं दृश्यते द्विधा। पदार्थानां, तयोर्मध्ये प्रायेण महदन्तरम्॥ आपाततस्तु यद्रूपं पदार्थस्यास्ति नैव तत्। वस्तुतो वर्तमानं तत्पदार्थानां स्वभावजम्॥" (रश्मिमाला २४।१-२)

तथ्य के दो रूप मानता है। इसके अनुसार मनुष्य का कल्याण प्राकृतिक नियमों और आध्यात्मिक नियमों में परस्पर अभिन्नता को समझते हुए उसके साथ अपनी एकरूपता के अनुभव में ही है।

यही ऋत और सत्य की भावना है। पुष्प में सुगन्ध के समान, अथवा दुग्ध में मक्खन के समान, वेद में सर्वत्र यह भावना व्याप्त है[1]। स्पष्ट शब्दों में भी ऋत और सत्य की महिमा का हृदयाकर्षक वर्णन वेदों में अनेक स्थलों पर पाया जाता है। उदाहरणार्थ,

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्
ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द
कर्णा बुधानः शुचमान आयोः॥
ऋतस्य दृळ्हा धरुणानि सन्ति
पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष
ऋतेन गाव ऋतमा विवेशुः॥

(ऋग्वेद ४।२३।८-९)

अर्थात्,

ऋत[2] अनेक प्रकार की सुख-शान्ति का स्रोत है,
ऋत की भावना पापों को विनष्ट करती है।
मनुष्य को उद्बोधन और प्रकाश देने वाली
ऋत की कीर्त्ति बहिरे कानों में भी पहुँच चुकी है।
ऋत की जड़ें सुदृढ़ हैं,
विश्व के नाना रमणीय पदार्थों में
ऋत मूर्त्तिमान हो रहा है।

---

१. देखिए—"ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।" (ऋग्० १०।१९०।१)। "ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा।" (ऋग्० १।२।८)। "ऋतेन ऋतं नियतमीळे" (ऋग्० ४।३।९)। "ऋतस्य तन्तुर्विततः" (ऋग्० ९।७३।९)। "ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति" (ऋग्० १०।८५।१)। "सा मा सत्योक्तिः परि पातु विश्वतः" (ऋग्० १०।३७।२)। "इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि" (यजुर्वेद १।५)। "सत्यं वदन् सत्यकर्मन्" (ऋग्० ९।११३।४)। "सत्यमुग्रस्य बृहतः" (ऋग्० ९।११३।५)।

२. ऋत अर्थात् प्राकृतिक नियम अथवा उनकी समष्टि।

ऋत के आधार पर ही अन्नादि खाद्य पदार्थों
की कामना की जाती है,
ऋत के कारण ही सूर्य-रश्मियाँ
जल में प्रविष्ट हो उसको ऊपर ले जाती हैं ।।

इसी प्रकार सत्य के विषय में भी गहरी और तीव्र आस्था वैदिक साहित्य म सर्वत्र पायी जाती है। जैसे,

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः ।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः ।।

(यजुर्वेद १९।७७)

अर्थात्, सृष्टिकर्ता परमेश्वर ने सत्य और असत्य के रूपों को देखकर पृथक्-पृथक् कर दिया है। उनमें से श्रद्धा की पात्रता सत्य में ही है, और अश्रद्धा की अनृत या असत्य में।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ।।

(यजुर्वेद १९।३०)

अर्थात्, व्रताचरण से ही मनुष्य को दीक्षा अर्थात् उन्नत जीवन की योग्यता प्राप्त होती है। दीक्षा से दक्षिणा अथवा प्रयत्न की सफलता प्राप्त होती है। दक्षिणा से अपने जीवन के आदर्शों में श्रद्धा, और श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है।

वाचः सत्यमशीय (यजु० ३९।४)

अर्थात्, मैं अपनी वाणी में सत्य को प्राप्त करूँ।

देवा देवैरवन्तु मा।...सत्येन सत्यम्... ... (यजु० २०।११-१२)

अर्थात्, समस्त दैवी शक्तियाँ मेरी रक्षा करें और मुझे सत्य में तत्पर रहने की शक्ति प्रदान करें।

सत्यं च मे श्रद्धा च मे...यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजु० १८।५)

अर्थात्, यज्ञ द्वारा मैं सत्य और श्रद्धा को प्राप्त करूँ!

ऋत और सत्य की उपर्युक्त भावना ही वास्तव में अन्य वैदिक उदात्त भावनाओं की जननी है। इस सारे विश्व-प्रपञ्च का संचालन शाश्वत नैतिक आधार पर हो रहा है, ऐसी धारणा मनुष्य में स्वभावतः समुज्ज्वल आशावाद, भद्र-भावना, और आत्म-विश्वास को उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकती।

२—आशावाद की भावना

भारतीय विचार-धारा में चिरकाल से 'संसार असार है', 'जीवन क्षण-भंगुर और मिथ्या है', इस प्रकार की निराशावादी भावनाओं का साम्राज्य रहा है। हमारी जाति के जीवन को शक्ति-हीन, उत्साह-हीन और आदर्श-हीन बनाने में निराशावाद का बहुत बड़ा हाथ रहा है, यह कौन नहीं जानता?

मनुष्य के जीवन को सबसे अधिक नीचे गिराने वाली भावना निराशावाद की भावना है। निराशावाद से अभिभूत मनुष्य जीवन की किसी भी समस्या को सुलझाने में असमर्थ होता है। इसीलिए इसका बड़ा भारी महत्त्व है कि वैदिक धर्माचरण का संपूर्ण आधार ही आशावाद पर है। इसका अभिप्राय यही है कि मनुष्य को अपने जीवन में पूर्ण आस्था रखते हुए उत्तरोत्तर उन्नति का ही लक्ष्य रखना चाहिए और उत्साहपूर्वक समस्त विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए।

वैदिक साहित्य आशावाद की ओजपूर्ण, उत्साहमय तथा उल्लासमय भावना से ओत-प्रोत है। जैसे,

कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे (ऋग्० १।३६।१४)।

अर्थात्, भगवन्! जीवन-यात्रा में हमें समुन्नत कीजिए।

विश्वदानीं सुमनसः स्याम
पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्। (ऋग्० ६।५२।५)

अर्थात्, हम सदा प्रसन्न-चित्त रहते हुए उदीयमान सूर्य को देखें।

अदीनाः स्याम शरदः शतं
भूयश्च शरदः शतात् (यजु० ३६।२४)

अर्थात्, हम सौ वर्ष तक और उससे भी अधिक समय तक दैन्य-भाव से अपने को दूर रखें।

मदेम शतहिमाः सुवीराः (अथर्व० २०।६३।३)

अर्थात्, हमारी सन्तान वीर हों और हम अपने पूर्ण जीवन को प्रसन्नतापूर्वक ही व्यतीत करें।

निम्नलिखित मंत्र में उत्साहमय ओजपूर्ण जीवन का सुन्दर चित्र दिया गया है—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि,
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि,

अलमसि बलं मयि धेहि,
ओजोऽस्योजो मयि धेहि,
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि,
सहोऽसि सहो मयि धेहि (यजु० १९।९)।

अर्थात्,

मेरे आदर्श देव !

आप तेजः-स्वरूप हैं, मुझमें तेज को धारण कीजिए !
आप वीर्य-रूप हैं, मुझे वीर्यवान् कीजिए !
आप बल-रूप हैं, मुझे बलवान् बनाइए !
आप ओजः-स्वरूप हैं, मुझे ओजस्वी बनाइए !
आप मन्यु[1]-रूप हैं, मुझमें मन्यु को धारण कीजिए !
आप सहस्[2]-स्वरूप हैं, मुझे सहस्वान् कीजिए !

जीवन के विषय में जैसी उत्कृष्ट आस्था वेद-मन्त्रों में पायी जाती है, वैसी संसार के किसी भी अन्य साहित्य में नहीं मिलेगी। उदाहरणार्थ नीचे के जीवन-मंगीतक को ही देखिए—

जीवेम शरदः शतम्।
बुध्येम शरदः शतम्।
रोहेम शरदः शतम्।
पूषेम शरदः शतम्।
भवेम शरदः शतम्।
भूषेम शरदः शतम्।
भूयसीः शरदः शतात्॥ (अथर्व० १९।६७।२-८)

अर्थात्, हम सौ और सौ से भी अधिक वर्षों तक जीवन-यात्रा करें, अपने ज्ञान को बराबर बढ़ाते रहें, उत्तरोत्तर उत्कृष्ट उन्नति को प्राप्त करते रहें, पुष्टि और दृढ़ता को प्राप्त करते रहें, आनन्दमय जीवन व्यतीत करते रहें, और समृद्धि, ऐश्वर्य तथा गुणों से अपने को भूषित करते रहें।

मनुष्य-जीवन में एक नवीन स्फूर्ति, नवीन विद्युत् का संचार करने वाले ऐसे ही अमृतमय प्राण-संजीवन वचनों से वैदिक साहित्य भरा पड़ा है।

---

१. मन्यु=अनौचित्य को देख कर होने वाला क्रोध।
२. सहस्=विरोधी पर विजय पाने में समर्थ शक्ति और बल।

वैदिक साहित्य की उपर्युक्त आशावाद की भावना का वर्णन हम अपने शब्दों में इस प्रकार कर सकते हैं—

आशा सर्वोत्तमं ज्योतिः ।
निराशायाः समं पापं मानवस्य न विद्यते ।
तां समूलं समुत्सार्य ह्याशावादपरो भव ।।१।।
मानवस्योन्नतिः सर्वा साफल्यं जीवनस्य च ।
चारितार्थ्यं तथा सृष्टेराशावादे प्रतिष्ठितम् ।।२।।
आशा सर्वोत्तमं ज्योतिर्निराशा परमं तमः ।
तस्माद् गमय तज्ज्योतिस्तमसो मामिति श्रुतिः ।।३।।
आस्तिक्यमात्मविश्वासः कारुण्यं सत्यनिष्ठता ।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षो नूनमाशावतामिह ।।४।।
निराशावादिनो मन्दा निष्ठुराः संशयालवः ।
अन्धे तमसि मग्नास्ते श्रुतावात्महनो मताः ।।५।। (रश्मिमाला १।१-५)

अर्थात्, मनुष्य के लिए निराशा के समान दूसरा पाप नहीं है। इसलि मनुष्य को चाहिए कि वह पाप-रूपिणी निराशा को समूल हटा कर आशावादी बने ।।१।।

मनुष्य की सारी उन्नति, जीवन की सफलता और सृष्टि की चरितार्थता आशावाद में ही प्रतिष्ठित हैं ।।२।।

आशा सबसे उत्कृष्ट प्रकाश है। निराशा घोर अन्धकार है। इसीलिए श्रुति में कहा गया है—"तमसो मा ज्योतिर्गमय" (बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।२८)। अर्थात्, भगवन् ! मुझे अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलिए ।।३।।

जीवन में आदर्श-भावना, आत्म-विश्वास, कारुण्य, सत्य-परायणता और उत्तरोत्तर समुन्नति, ये बातें आशावादियों में ही पायी जाती हैं ।।४।।

परन्तु निराशावादी लोग स्वभाव से ही उदात्त भावनाओं से विहीन, निष्ठुर (=असंवेदनशील) और संशयालु होते हैं। वेद में ऐसे ही लोगों को प्रेरणा-विहीन अज्ञानान्धकार में निमग्न, तथा आत्म-विस्मृति-रूप आत्म-हत्या करने वाला कहा गया है[1] ।।५।।

---

१. देखिए—"असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः । ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।।" (यजु० ४०।३)। अर्थात्, आत्मतत्व या आत्मचेतना की विस्मृति-रूप आत्महत्या (=जीवन में आदर्श-भावना का अभाव) किसी भी प्रकार की प्रेरणा से विहीन अज्ञानान्धकार में गिरा कर सर्वनाश का हेतु होती है।

३—पवित्रता की भावना

सामान्य रूप से मनुष्यों की प्रवृत्ति बहिर्मुख हुआ करती है। सामान्य मनुष्य बाह्य लौकिक पदार्थों की प्राप्ति में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेता है। व्यावहारिक जीवन को छोड़ कर, यज्ञ, दान, तप आदि के धर्माचरण में भी उसका लक्ष्य प्रायः लोक या परलोक में सुख के उपभोग की सामग्री की प्राप्ति ही हुआ करता है।

ऐसा होने पर भी, मानव के विकास में एक स्थिति ऐसी आती है जब वह अपने जीवन की सफलता का मूल्यांकन लौकिक पदार्थों या ऐश्वर्य की प्राप्ति में उतना नहीं करता, जितना कि अपने भावों की पवित्रता और चरित्र की दृढ़ता में करता है। इसके लिए अन्तःसमीक्षण या आत्म-परीक्षण की आवश्यकता होती है। इसकी योग्यता बिरले लोगों में ही होती है[1]। पर यह मानी हुई बात है कि "आत्म-परीक्षणं हि नाम मनुष्यस्य प्रथमं समुन्नतेर्मूलम्" (प्रबन्ध-प्रकाश, भाग २, पृ० ६९), अर्थात्, आत्म-परीक्षण ही मनुष्य की वास्तविक उन्नति का मूल है।

भगवद्गीता का बड़ा भारी महत्त्व इसी बात में है कि वह मनुष्य के प्रत्येक कर्तव्य-कर्म का परीक्षण भावात्मक भित्ति के आधार पर ही करती है। उसके अनुसार हमारे प्रत्येक धार्मिक या नैतिक कर्म का महत्त्व हमारे भावों की पवित्रता पर ही निर्भर है। गीता के अनुसार मनुष्य के लिए भाव-संशुद्धि का अद्वितीय मौलिक महत्त्व है[2]।

उपर्युक्त दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्व की बात है कि वैदिक मंत्रों की एक प्रधान विशेषता पवित्रता की तीव्र भावना है। पाप (या पाप्मन्) का नाश, दुरित का क्षय, सच्चरित्रता की प्राप्ति, अथवा पवित्र संकल्पों आदि की प्रार्थना के रूप में पवित्रता की तीव्र भावना शतशः वैदिक मंत्रों में पायी जाती है। उदाहरणार्थ,

> पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
> पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥ (यजु० १९।३९)

अर्थात्, हे सर्वव्यापक देव, आप मुझको पवित्र कीजिए, और ऐसा अनुग्रह कीजिए जिससे समस्त देव-जन, मेरे विचार और कर्म तथा सब अन्य पदार्थ भी मेरी पवित्रता की भावना में मेरे सहायक हो सकें।

---

१. देखिए—"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥" (कठ उपनिषद् २।१।१)

२. देखिए—"भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते" (गीता १७।१६)

...देव सवितः...मां पुनीहि विश्वतः। (यजु० १९।४३)

अर्थात्, हे सवितृ-देव! मुझे सब प्रकार से पवित्र कीजिए।

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
अथो अरिष्टतातये ॥ (अथर्व० ६।१९।२)

अर्थात्, पवित्रता-संपादक पवमान-देव मुझे बुद्धि, शक्ति, जीवन और निरापद आत्म-रक्षा के लिए पवित्र करें।

इसी प्रकार चरित्र की शुद्धता की भावना अनेकत्र वेद-मन्त्रों में पायी जाती है। उदाहरणार्थ,

परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज।
(यजु० ४।२८)

अर्थात्, हे प्रकाश-स्वरूप देव! मुझे दुश्चरित से बचा कर सुचरित में स्थापित कीजिए।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥ (यजु० ३०।३)

अर्थात्, हे देव सवितः! आप हमारे सब पापाचरणों को हम से दूर कीजिए और जो कल्याण हो उसे हमें प्राप्त कराइए।

इसी प्रकार भाव-संशुद्धि या संकल्पों की पवित्रता की प्रार्थना भी अनेकानेक मन्त्रों में पायी जाती है। उदाहरणार्थ,

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्
नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ (यजु० ३४।६)

अर्थात्, निपुण सारथि जैसे रास द्वारा घोड़ों को चलने के लिए बराबर प्रेरित करता है और नियन्त्रित भी करता है, वैसे ही मनुष्यों को कार्यों में प्रवृत्त करने वाला और नियन्त्रण में रखने वाला, हृदय में विशेष रूप से प्रतिष्ठित, जरा से रहित और अत्यन्त गति-शील जो मेरा मन है वह शुभ और शान्त संकल्प वाला हो!

इसी प्रकार, पाप-मोचन, पाप-नाशन, अथवा निष्पाप-भावना की गम्भीर ध्वनि शतशः वैदिक मन्त्रों में प्रतिध्वनित हो रही है। भिन्न-भिन्न देवता या देवताओं को संबोधित करके—"स नो मुञ्चत्वंहसः", "तौ नो मुञ्चतमंहसः", "ते नो मुञ्चन्त्वंहसः" (अर्थात्, वह, वे दोनों, अथवा वे हमको पाप से

मुक्त करें), इस प्रकार की विनम्र प्रार्थना अथर्ववेद के (४।२३-२९) सूक्तों में तथा अन्य वैदिक मन्त्रों में बराबर पायी जाती है। नीचे हम इसी विषय की एक सुन्दर वैदिक गीतिका को देकर इस विषय को समाप्त करते हैं।

अप नः शोशुचदघम्।

अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम्।
अप नः शोशुचदघम् ॥१॥
सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे।
अप नः शोशुचदघम् ॥२॥
प्र यद्भन्दिष्ठ एषां प्रास्माकासश्च सूरयः।
अप नः शोशुचदघम् ॥३॥
प्र यत्ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम्।
अप नः शोशुचदघम् ॥४॥
प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः।
अप नः शोशुचदघम् ॥५॥
त्वं हि विश्वतोमुख! विश्वतः परिभूरसि।
अप नः शोशुचदघम् ॥६॥
द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय।
अप नः शोशुचदघम् ॥७॥
स नः सिन्धुमिव नावयाति पर्षा स्वस्तये।
अप नः शोशुचदघम् ॥८॥ (ऋग्० १।९७।१-८)

अर्थात्, भगवन्! हमारे पाप को भस्म कर दीजिए!

१. प्रकाशस्वरूप देव! हमारे पाप को भस्म कर हमारी सद्गुण-संपत्ति को प्रकाशित कीजिए। हम बार-बार प्रार्थना करते हैं कि हमारे पाप को भस्म कर दीजिए।

२. उन्नति के लिए समुचित क्षेत्र, जीवन-यात्रा के लिए सन्मार्ग और विविध ऐश्वर्यों की प्राप्ति की कामना से हम आपका यजन करते हैं। आप हमारे पाप को भस्म कर दीजिए।

३. भगवन्! आप हमारे पाप को भस्म कर दीजिए, जिससे कि हम और साथ ही हमारे तत्त्वदर्शी विद्वान् भी विशेषतः सुख और कल्याण के भाजन बन सकें।

४. प्रकाश-स्वरूप देव ! आप हमारे पाप को भस्म कर दीजिए, जिससे कि हम आपके गुणों का गान करते हुए जीवन में उत्तरोत्तर समुन्नति को प्राप्त कर सकें।

५. भगवन् ! आप विघ्न-बाधाओं को दूर करने वाले हैं। आपके प्रकाश की किरणें सर्वत्र फैल रही हैं। आप हमारे पाप को भस्म कर दीजिए।

६. हे समस्त विश्व के द्रष्टः ! आप ही सब ओर से हमारे रक्षक हैं। हमारे पाप को भस्म कर दीजिए।

७. हे विश्वसाक्षिन् ! जैसे नाव से नदी को पार करते हैं, इसी प्रकार आप हमें विघ्न-बाधाओं और विरोधियों से पार कर विजय प्रदान कीजिए। आप हमारे पाप को भस्म कर दीजिए।

८. उपर्युक्त महिमाशाली भगवन् ! नाव से जैसे नदी को पार किया जाता है, इसी प्रकार आप हमें कल्याण-प्राप्ति के लिए वर्तमान परिस्थिति से ऊपर उठने की क्षमता प्रदान कीजिए। हमारे पाप को भस्म कर दीजिए।

पवित्रता या पाप-विनाशन की भावना का यह प्रवाह वास्तव में वैदिक धारा की एक अद्वितीय विशेषता है।

पवित्रता की भावना तथा अपने को निष्पाप बनाने की उत्कट कामना से परिप्लुत ऐसे ही सैकड़ों वेद-मन्त्र वास्तव में वैदिक धारा की शाश्वत निधि हैं। नैतिक दुर्बलताओं से अभिभूत, मोह-ग्रस्त मनुष्य के लिए वे मार्ग-प्रदर्शक तथा प्राणप्रद सूर्य-प्रकाश के समान हैं।

४—भद्र-भावना

वैदिक मन्त्रों की एक दूसरी अनोखी विशेषता उनकी भद्र-भावना है।

मनुष्य स्वभाव से सुख के लोभ और दुःख के भय से किसी काम में प्रवृत्त या उससे निवृत्त होता है। परन्तु वास्तविक कर्तव्य या धर्म की भावना में सुख-दुःख की भावना का कोई स्थान नहीं होता। उसमें तो सुख और दुःख के ध्यान को बिलकुल छोड़ कर (सुखदुःखे समे कृत्वा) विशुद्ध कर्तव्य-बुद्धि से ही काम करना होता है। वास्तविक भद्र-भावना या कल्याण-भावना यही है।

यह कल्याण-भावना भोगैश्वर्य-प्रसक्त, इन्द्रिय-लोलुप, या समयानुकूल अपना काम निकालने वाले आदर्शहीन व्यक्तियों की वस्तु नहीं है। इसके स्वरूप को तो वही समझ सकता है, जिसका यह विश्वास है कि उसका सत्य बोलना, संयत जीवन, आपत्तियों के आने पर भी अपने कर्तव्य से मुंह न मोड़ना, उसके स्वभाव, उसके व्यक्तित्व के अन्तस्तम स्वरूप की आवश्यकता है। जैसे एक पुष्प का

सौन्दर्य और सुगन्ध, किसी बहिरंग कारण से न हो कर, उसके स्वरूप का अंग है; ऐसे ही एक कल्याण-मार्ग के पथिक का निरपेक्ष या अनासक्त हो कर कर्तव्य-पालन उसके स्वरूप का अंग है; उसके जीवन का सार्थक्य, जीवन की पूर्णाङ्गता इसी में है। गीता की सात्त्विक भक्ति और निष्काम कर्म के मूल में यही आशामय, श्रद्धामय कल्याण-भावना निहित है।

आशावाद-मूलक गीता की कल्याण-भावना और वैदिक भद्र-भावना, हमारे मत में, दोनों एक ही पदार्थ हैं। दोनों के मूल में आशावाद है, और दोनों का लक्ष्य मनुष्य को सतत कर्तव्यशील बनाना है।

मानव को परमोच्च देव-पद पर बिठाने वाली यह भद्रभावना वैदिक प्रार्थनाओं में प्रायः देखने में आती है। जैसे—

यद् भद्रं तन्न आ सुव (यजु० ३०।३)

अर्थात्, भगवन्! जो भद्र या कल्याण है, उसे हमें प्राप्त कराइए।

भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि (ऋग्० १०।३७।६)

अर्थात्, भद्र-या कल्याण-मार्ग पर चलते हुए हम पूर्ण जीवन को प्राप्त करें!

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः (यजु० २५।२१)

अर्थात्, हे यजनीय देवगण! हम कानों से भद्र को सुनें और आँखों से भद्र को देखें!

भद्रं नो अपि वातय मनः (ऋग्० १०।२०।१)

अर्थात्, भगवन्! प्रेरणा कीजिए कि हमारा मन भद्र-मार्ग का ही अनुसरण करे।

भद्रं-भद्रं न आ भर (ऋग्० ८।९३।२८)

अर्थात्, भगवन्! हमें बराबर भद्र की प्राप्ति कराइए।

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽ—
दब्धासो अपरीतास उद्भिदः। (यजु० २५।१४)

अर्थात्, हमको ऐसे भद्र अथवा कल्याणकारी संकल्प सब प्रकार से प्राप्त हों जो अविचल हों, जिनको साधारण मनुष्य नहीं समझते और जो हमें उत्तरोत्तर उन्नति की ओर ले जाने वाले हों!

इत्यादि वैदिक प्रार्थनाएँ भद्र-भावना की ही उदाहरण हैं।

५—आत्म-विश्वास की भावना

वैदिक स्तोता के स्वरूप को दिखाते हुए हमने ऊपर (परिच्छेद ६ में) कहा है, "वह जीवन की वास्तविक परिस्थिति को खूब समझता है; पर उससे घबड़ाता नहीं है। उसकी हार्दिक इच्छा यही रहती है कि वह उसका वीरता-पूर्वक सामना करे। वह संसार में परिस्थितियों का स्वामी, न कि दास, हो कर जीवन व्यतीत करना चाहता है।"

ऋत और सत्य की भावना और आशावाद की भावना का स्वाभाविक परिणाम आत्म-सम्मान या आत्म-विश्वास की भावना के रूप में होता है। इस सारे विश्व-प्रपञ्च का संचालन शाश्वत नैतिक आधार पर हो रहा है, और साथ ही मनुष्य के सामने उसकी अनन्त उन्नति का मार्ग निर्बाध खुला हुआ है, ऐसी धारणा मनुष्य में स्वभावतः आत्म-विश्वास की भावना को उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकती।

यह आत्म-विश्वास की भावना स्पष्टतः अनेकानेक वैदिक मंत्रों में ही नहीं, सूक्तों में भी, पायी जाती है। जैसे—

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः॥
(अथर्व० १२।१।५४)

अर्थात्, मैं[1] स्वभावतः विजय-शील हूँ। पृथ्वी पर मेरा उत्कृष्ट पद है। मैं विरोधी शक्तियों को परास्त कर, समस्त विघ्न-बाधाओं को दबा कर प्रत्येक दिशा में सफलता को पाने वाला हूँ।

अहमस्मि सपत्नहेन्द्र इवारिष्टो अक्षतः।
अधः सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अभिष्ठिताः॥
(ऋग्० १०।१६६।२)

अर्थात्, मैं शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाला हूँ। इन्द्र के समान मुझे न तो कोई मार सकता है, न पीडित कर सकता है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो मेरे समस्त शत्रु यहाँ मेरे पैरों-तले पड़े हुए हैं[2]।

मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः (ऋग्० १०।१२८।१)

---

१. ऐसे सब मंत्रों में "मैं" से अभिप्राय मानवमात्र का है।

२. तु० "इन्द्रोऽहमिन्द्रकर्माहम् अरातीनां वधोऽस्म्यहम्। तेषां बाधास्तिरस्कृत्य पदं सर्वत्र दधाम्यहम्॥" (रश्मिमाला ६।१)

अर्थात्, मेरे लिए सब दिशाएँ झुक जाएँ। अर्थात्, प्रत्येक दिशा में मुझे सफलता प्राप्त हो।

अहमिन्द्रो न पराजिग्ये (ऋग्० १०।४८।५)

अर्थात्, मैं इन्द्र हूँ, मेरा पराजय नहीं हो सकता !

यशा विश्वस्य भूतस्या-
हमस्मि यशस्तमः (अथर्व० ६।५८।३)

अर्थात्, जगत् के समस्त उत्पन्न पदार्थों में मैं सबसे अधिक यश वाला हूँ। अर्थात्, मनुष्य का स्थान जगत् के समस्त उत्पन्न पदार्थों से ऊँचा है[1]।

अदीनाः स्याम शरदः शतम्। भूयश्च शरदः शतात्।
(यजु० ३६।२४)

अर्थात्, हम सौ वर्ष तक और उससे भी अधिक काल तक दैन्य से दूर रहें[2] !

मा भेः, मा संविक्थाः (यजु० १।२३)

अर्थात्, तू न तो भीरु बन, न उद्विग्नता को प्राप्त हो।

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः॥
यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः॥" (अथर्व० २।१५।१,३)

अर्थात्, जैसे द्युलोक और पृथिवी अपने-अपने कर्तव्य के पालन में न तो डरते हैं, न कोई उनको हानि पहुँचा सकता है, इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू भी भय को न प्राप्त हो।

जैसे सूर्य और चन्द्रमा न तो भय को प्राप्त होते हैं, न कोई उनको हानि पहुँचा सकता है, इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू भी भय को न प्राप्त हो।

इसी प्रकार आत्म-विश्वास अथवा आत्म-संमान की भावना के परिचायक और परिपोषक शतशः मंत्र और सूक्त वैदिक संहिताओं में पाये जाते हैं। निःसन्देह वे सब वैदिक धारा की एक महान् विशेषता हैं।

---

१. इस्लाम की परंपरा में मनुष्य को 'अशरफ़-उल-मख़लूक़ात्' (=सब उत्पन्न पदार्थों में श्रेष्ठ) कहा गया है। वही बात इस मंत्र में कही गयी है।

२. तु० "दृष्ट्वाप्यनन्तप्रसरां मानवो गतिमात्मनः। आश्चर्यं मूढतादोषाद् दीनं हीनं च मन्यते॥" (रश्मिमाला १६।१)।

नवाँ परिच्छेद

वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि

भारतीय संस्कृति के विकास में वैदिक धारा के बहुमुखी, व्यापक तथा शाश्वतिक प्रभाव की चर्चा हम परिच्छेद ५ में कर चुके हैं। इसका स्पष्टीकरण हम अगले परिच्छेद में करेंगे।

उक्त बहुमुखी, व्यापक तथा शाश्वतिक प्रभाव का मूल वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि में ही हो सकता है। यहाँ हम उसी व्यापक दृष्टि को संक्षेप में दिखलाना चाहते हैं।

परम्परा-प्राप्त भारतीय दृष्टि

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में वेदों की महिमा अनेक प्रकार से गायी गयी है। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति के निम्ननिर्दिष्ट वचनों को देखिए—

> सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च।
> प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्॥ (१२।८८)
>
> पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
> अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥ (१२।९४)
>
> चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
> भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिद्धयति॥ (१२।९७)
>
> सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
> सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥ (१२।१००)

अर्थात्, वैदिक धर्माचरण से मनुष्य अभ्युदय और निःश्रेयस, अथवा लौकिक स्वस्थ सुख और आध्यात्मिक कल्याण (उत्तरकालीन शब्दों में, भुक्ति और मुक्ति), दोनों की प्राप्ति कर सकता है[1] ।।८८।। पितृ-कर्म, देव-कर्म और मनुष्यों के प्रति कर्तव्य कर्मों के विषय में वेद सनातन काल से बराबर मार्ग-प्रदर्शक रहा है। वेद को न तो कोई (एक व्यक्ति) बना सकता है, न पूर्णतः जान सकता है। ।।९४।। ब्राह्मण आदि चारों वर्ण, पृथ्वी आदि तीनों लोक तथा ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रम, इनका आधार वेद ही है। तथा भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में वेद मनुष्य-जीवन के लिए प्रेरणा देने वाला है[2] ।।९७।। वेदज्ञ विद्वान् में सेनापतित्व, राज्य-शासन, दण्डाधिकारित्व अथवा समस्त पृथ्वी का नेतृत्व जैसे दुष्कर कार्यों के भार को उठाने की क्षमता होती है ।।१००।।

इसीलिए वेद को अत्यन्त व्यापक अर्थों में धर्म का एकमात्र मूल माना गया है। जैसे—

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। (मनुस्मृति २।६)

अर्थात्, धर्माचरण का मूल आधार वेद ही है।

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ।। (मनु० २।७)

अर्थात्, मनु ने जिस धर्म का प्रतिपादन (मनुस्मृति में) किया है, वह सब वेदमूलक है, क्योंकि वेद सर्व-ज्ञानमय है।

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः। (मनु० २।१३)

अर्थात्, जो धर्म को जानना चाहते हैं उनके लिए वेद ही सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है। क्योंकि,

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ।। (मनु० २।१०)

अर्थात्, श्रुति (=वेद) और तदनुसारिणी स्मृति (=धर्मशास्त्र) से ही धर्म का प्रादुर्भाव हुआ है। इनके प्रतिपाद्य विषयों में कुतर्कणा नहीं करनी चाहिए।

---

१. तु० "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" (वैशेषिकसूत्र १।१।२)।

२. तु० "तया (=श्रुत्या) वर्णाश्रमाचारः प्रवृत्तो वेदवित्तमाः।" (सूतसंहिता १।१।४९)।

ऊपर के वचनों का अभिप्राय यही है कि अवस्था, अधिकार, स्थान, संबंध आदि के भेद से मनुष्य के जीवन में जो विभिन्न प्रसंग उपस्थित होते हैं, उन सब की दृष्टि से मार्ग-प्रदर्शन की क्षमता का होना, वैदिक धारा की मुख्य विशेषता सदा से रही है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य-जीवन के कर्तव्यों के विषय में वैदिक धारा का दृष्टि-कोण, एकांगी या एकदेशी न हो कर, सदा से व्यापक रहा है। इसीलिए विभिन्न प्रतिकूल परिस्थितियों में भी वह, लुप्त या नष्ट न हो कर, अपने को अब तक जीवित रख सकी है। यही उसके भारतीय संस्कृति के विकास में व्यापक तथा शाश्वतिक प्रभाव का रहस्य है।

उपर्युक्त वचनों में 'वेद' और 'स्मृति' से स्पष्टतः अभिप्राय वैदिक धारा के वेद, ब्राह्मण आदि समस्त वाङ्मय से है, जिसका वर्णन हम परिच्छेद ५ में कर चुके हैं। वैदिकों की परिभाषा[1] के अनुसार वेद के मंत्र-भाग और ब्राह्मण-भाग, दोनों के लिए, 'वेद' शब्द का प्रयोग चिरकाल से भारतीय साहित्यिक परंपरा में चला आया है। 'स्मृति' या 'धर्म-शास्त्र' नाम से आजकल प्रसिद्ध ग्रंथों का निर्माण भी वैदिक धर्म-सूत्रों के आधार पर ही हुआ था।

हमारी दृष्टि

ऊपर की व्याख्या से स्पष्ट हो गया होगा कि वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि के विषय में परंपरागत प्राचीन दृष्टि और हमारी अपनी दृष्टि में वास्तव में कोई गहरा भेद नहीं है। कार्यतः दोनों का अभिप्राय एक-जैसा ही है। जो थोड़ा-सा भेद है, वह वही है जो किसी भी विषय में साम्प्रदायिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोणों में होना स्वाभाविक है।

परंपरागत प्राचीन दृष्टि के अनुसार वेद स्वयं अपौरुषेय, अतएव अनादि और नित्य हैं; और इसीलिए वेद-मूलक धर्म भी सनातन तथा अपरिवर्तनशील है। उसके संबंध में किसी प्रकार के क्रमिक विकास और ह्रास के विचार के लिए कोई स्थान ही नहीं हो सकता।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार, अन्य मानवीय संस्थाओं के सदृश ही[2], वैदिक विचारधारा भी हमारे ऐतिहासिक अन्वेषण और गवेषणा का विषय है। वैदिक धारा के क्रमिक विकास में उसकी तीन अवस्थाओं का दिग्दर्शन हम

१. देखिए—"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" (आपस्तम्बयज्ञपरिभाषासूत्र ३१)।

२. तु०—"यच्चापि लौकिकं वस्तु संस्था आचारपद्धतिः। भावैः संप्रेरितस्यैव मानवस्येह सा कृतिः॥" (रश्मिमाला २८।२)

परिच्छेद ७ में करा चुके हैं। उससे यह स्पष्ट है कि, वैदिक वाङ्मय के सदृश ही, वैदिक विचार-धारा का भी विभिन्न परिस्थितियों के कारण क्रमिक विकास हुआ था। ऐसी दशा में भारतीय संस्कृति के इतिहास में उसके बहुमुखी, व्यापक और शाश्वतिक प्रभाव को न तो हम वेद को अपौरुषेय अथवा अनादि और नित्य मान कर और न वेद-मूलक धर्म को सनातन और अपरिवर्तनशील मान कर समझा सकते हैं। उसके लिए तो विभिन्न परिस्थितियों में से गुज़रती हुई सतत विकासशील वैदिक धारा की अपनी विशिष्ट प्रवृत्तियों और व्यापक दृष्टि का अध्ययन आवश्यक है।

भारतीय संस्कृति के उस अतिप्राचीनकाल में वैदिक धारा की भव्य उदात्त भावनाएँ, जिनका दिग्दर्शन हम पहले करा चुके हैं, और मनुष्य-जीवन के कर्त्तव्यों के विषय में उसकी व्यापक दृष्टि, जिसका स्पष्टीकरण हम यहाँ करना चाहते हैं, वास्तव में एक महान् आश्चर्य और विस्मय की वस्तु हैं। पृथ्वी भर की सभ्यता के इतिहास में वे अद्वितीय और अनुपम हैं। उनको देख कर सहसा **भगवद्गीता** का यह पद्य सामने उपस्थित हो जाता है—

> **आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-**
> **माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।**
> **आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति**
> **श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥** (गीता २।२६)

इसमें सन्देह नहीं कि उत्तरकाल की विभिन्न धाराओं से भी, जैसा हम आगे क्रमशः दिखाएँगे, भारतीय संस्कृति का समय-समय पर महान् उपकार हुआ है; तो भी मानवीय जीवन के लिए उपयोगी महान् प्रेरणाओं और आदर्शों की दृष्टि से, तथा विभिन्न परिस्थितियों में आदर्शवाद की रक्षा के साथ-साथ आत्म-रक्षा तथा लौकिक अभ्युदय की सफलता की दृष्टि से वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि न केवल हम भारतीयों के लिए सदा गर्व और गौरव की वस्तु रहेगी, अपितु मानव-जाति के लिए भी सार्वभौम तथा सार्वकालिक संदेश की वाहक रहेगी।

उसी व्यापक दृष्टि को हम नीचे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को ले कर क्रमशः दिखाने का यत्न करेंगे—

धार्मिक चिन्तन

वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि का सबसे उत्कृष्ट और आश्चर्यकारक उदाहरण उसके धार्मिक चिन्तन का विश्व-व्यापी आधार है। ऊपर हम **ऋत और सत्य की भावना (परिच्छेद ८) तथा वैदिक स्तोता के स्वरूप (परिच्छेद ६) की**

व्याख्या करते हुए वैदिक धारा के विश्वव्यापी अत्यन्त विशाल दृष्टिकोण का उल्लेख कर चुके हैं।

छोटे-छोटे देश, जाति या वर्ग के संकीर्ण हित में ही आस्था रखने वाले आज के सभ्यताभिमानी मानव को वैदिक धारा की विश्व-व्यापिनी दृष्टि आश्चर्य में डाले बिना नहीं रह सकती।

द्युलोक को पिता और पृथिवी को माता[1] समझने वाला वैदिक स्तोता अपने को मानो इस विशाल विश्व का ही अधिवासी समझता है। इसीलिए उसकी स्तुतियों और प्रार्थनाओं में बार-बार न केवल द्यावा-पृथिवी और अन्तरिक्ष, इन तीन लोकों का ही, अपितु इनसे भी परे स्वः और नाक जैसे लोकों का भी उल्लेख पाया जाता है।

उदाहरणार्थ,

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा
येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ (ऋग्० १०।१२१।५)

अर्थात्, जिस दैवी शक्ति ने इस विशाल द्युलोक को, इस पृथिवी को, स्वर्लोक और नाक-लोक को अपने-अपने स्वरूप में स्थिर कर रखा है और जो अन्तरिक्ष-लोक में भी व्याप्त हो रही है उसको छोड़ कर हम किस देव की पूजा करें? अर्थात्, हमको उसी महाशक्ति-रूपिणी देवता की पूजा करनी चाहिए।

वैदिक प्रार्थनाओं का क्षेत्र कितना विस्तृत और विशाल है, इसका ही एक दूसरा उदाहरण यह है—

द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष ँ शान्तिः पृथिवी
शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्ति-
र्ब्रह्म शान्तिः सर्व ँ शान्तिः शान्ति-
रेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ (यजु० ३६।१७)

अर्थात्, मेरे लिए द्युलोक, अन्तरिक्ष-लोक और पृथिवी-लोक सुख-शान्ति-दायक हों; जल, ओषधियाँ और वनस्पतियाँ शांति देनेवाली हों; समस्त देवता, ब्रह्म

---

१. तु०—"द्यौर्मे पिता जनिता...मे माता पृथिवी महीयम्" (ऋग्० १।१६४।३३)

और सब कुछ शान्तिप्रद हों। जो शान्ति विश्व में सर्वत्र फैली हुई है, वह मुझे प्राप्त हो। मैं बराबर शान्ति का अनुभव करूँ[1]।

कैसी दिव्य और विशाल दृष्टि है इन प्रार्थनाओं की! इनसे अधिक सार्वभौम और सार्वकालिक प्रार्थनाएँ और क्या हो सकती हैं? वेद में तो ऐसी ही प्रार्थनाएँ ओत-प्रोत हैं।

यह भी ध्यान देने की बात है कि वैदिक देवताओं का वर्गीकरण भी पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु-लोक इन तीन लोकों के आधार पर ही किया गया है, जैसा कि हम पहले (परिच्छेद ६ में) दिखला चुके हैं। विश्वव्यापिनी दैवी शक्ति की मानो पदे-पदे साक्षात् अनुभूति करने वाली वैदिक धारा के लिए यह स्वाभाविक ही है कि उसके देवताओं का कार्यक्षेत्र भी विश्व-व्यापी हो।

उपर्युक्त अत्यन्त विशाल धार्मिक चिन्तन के आधार पर स्थित वैदिक धारा के समस्त अंगों में व्यापक दृष्टि का होना स्वभाव-सिद्ध है, जैसा कि हम आगे स्पष्ट करेंगे।

वैदिक-धारा का मानवीय पक्ष

विश्व-शान्ति और विश्व-बंधुत्व की उदात्त भावनाओं से ओत-प्रोत वैदिक मंत्रों में मानवमात्र में परस्पर सौहार्द, मित्रता और साहाय्य की भावना का पाया जाना नितरां स्वाभाविक है। उदाहरणार्थ,

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि
भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा
समीक्षामहे॥ (यजु०३६।१८)

अर्थात्, मैं, मनुष्य क्या, सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूं। हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें।

पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः। (ऋग्० ६।७५।१४)

अर्थात्, एक दूसरे की सर्वथा रक्षा और सहायता करना मनुष्यों का मुख्य कर्तव्य है।

याँश्च पश्यामि याँश्च न
तेषु मा सुमतिं कृधि। (अथर्व० १७।१।७)

---

१. तु०—"येयं शान्तिकला दिव्या लोकानां शान्तिदायिनी। चन्द्रेऽपि चारुतां धत्ते सा मे नित्यं प्रकाशताम्॥" (रश्मिमाला ३५।१)।

अर्थात्, भगवन् ! ऐसी कृपा कीजिए जिससे मैं मनुष्यमात्र के प्रति, चाहे मैं उनको जानता हूँ अथवा नहीं, सद्भावना रख सकूं !

तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः। (अथर्व० ३।३०।४)

अर्थात्, आओ हम सब मिल कर ऐसी प्रार्थना करें, जिससे मनुष्यों में परस्पर सुमति और सद्भावना का विस्तार हो !

इस प्रकार मनुष्यमात्र के प्रति कल्याण-कामना, सद्भावना तथा सौहार्द के प्रतिपादक सैकड़ों मंत्र वेदों में पाये जाते हैं।

मनुष्यमात्र में सद्भावना और सौहार्द का हृदयाकर्षक उपदेश देने वाले अथर्ववेद तथा ऋग्वेद के सांमनस्यसूक्त[1] कदाचित् संसार के संपूर्ण वाङ्मय में अपनी उपमा नहीं रखते।

आदर्श-रक्षा तथा आत्म-रक्षा

उपर्युक्त उत्कृष्ट मानवीय पक्ष के साथ-साथ वैदिक धारा उदात्त आदर्शों की रक्षा तथा आत्म-रक्षा के लिए वीरोचित संघर्ष तथा युद्ध की आवश्यकता से भी अपरिचित नहीं है। "सत्यं वै देवाः अनृतं मनुष्याः" (अर्थात्, देवता वास्तविकता के अनुगामी होते हैं, पर मनुष्य स्वभाव से ही इसके प्रतिकूल होते हैं), इस वैदिक उक्ति के अनुसार मनुष्य का व्यवहार आदर्शवाद से प्रायः दूर ही रहता है। ऐसी परिस्थिति में, विश्वशान्ति और विश्वबन्धुत्व के मार्ग पर चलने वाले को भी, अपने उत्कृष्ट आदर्शों की रक्षा के लिए अथवा आत्म-रक्षा के ही लिए, प्रायः संघर्ष का, अपने शत्रुओं और विरोधियों के दमन का, यहाँ तक कि घोर युद्ध के मार्ग का भी अवलम्बन करना पड़ता है।

इस अपूर्ण जगत् का यह अप्रिय तथ्य वैदिक धारा से छिपा हुआ नहीं है। इसीलिए मन्त्रों में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है—

मा त्वा परिपन्थिनो विदन् (यजु० ४।३४)

अर्थात्, इस बात का ध्यान रखो कि तुम्हारी वास्तविक उन्नति के बाधक शत्रु तुम पर विजय प्राप्त न कर सकें।

योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं
वो जम्भे दध्मः। (अथर्व० ३।२७।१-६)

१, देखिए अथर्ववेद ३।३०; ६।३४, ७४, ९४ आदि। ऋग्वेद १०।१९१।

अर्थात्, जो निष्कारण हमसे द्वेष करता है, और इसी कारण जिसको हम अपना द्वेष्य समझते है, उसे हम सदा विश्व का कल्याण करने वाली दैवी शक्तियों को सौंपते हैं, जिससे वे उसको नष्ट कर दें।

इसी प्रकार आत्म-रक्षा और आदर्श-रक्षा की भावना से परिपूर्ण सहस्रों मन्त्र[1] वेदों में पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ,

इन्द्रेण मन्युना वयमभि ष्याम पृतन्यतः।
घ्नन्तो वृत्राण्यप्रति ।। (अथर्व० ७।९३।१)

अर्थात्, सत्कार्यों में बाधक जो शत्रु हम पर आघात करें हमको चाहिए कि वीरोचित क्रोध और पराक्रम के साथ हम उनका दमन करें और उनको विनष्ट कर दें।

अहमस्मि सपत्नहेन्द्र इवारिष्टो अक्षतः।
अधः सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अभिष्ठिताः ।। (ऋग्० १०।१६६।२)

अर्थात्, मैं शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाला हूँ। मैं इन्द्र के समान पराक्रमी हूँ। मुझे कोई हानि अथवा आघात नहीं पहुँचा सकता। मैं तो अनुभव करता हूँ कि मेरे सब शत्रु मेरे पैरों-तले पड़े हुए हैं[2]!

मन्त्रों में शत्रुओं के लिए प्रायः 'अव्रत' (=असंयत जीवन व्यतीत करने वाले) अथवा 'वृत्र' (=सत्कार्यों में बाधा डालने वाले) जैसे शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि वैदिक मन्त्रों में आदर्श-रक्षा की भावना ही शत्रुओं के संहार की भावना की प्रेरक थी।

मम पुत्राः शत्रुहणः (ऋग्० १०।१५९।३)

अर्थात्, मेरे पुत्र शत्रु का हनन करने वाले हों!

सुवीरासो वयं...जयेम (ऋग्० ९।६१।२३)

अर्थात्, हमारे पुत्र सुवीर हों और उनके साथ हम शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें!

---

१. तु०—"इन्द्र त्वोतास आ वयं वज्रं घना ददीमहि। जयेम सं युधि स्पृधः ।।
वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम्। सासह्याम पृतन्यतः ।।"
(ऋग्० १।८।३-४)

२. तु०—"ऋषभं मा समानानां सपत्नानां भयंकरम्। हन्तारं कुरु शत्रूणां देवि! दारिद्र्यनाशिनि ।।" (रश्मि-माला ५।५)

ऐसी प्रार्थनाएँ और अनेकानेक ऐसे सूक्त[1], जो न केवल अर्थ की दृष्टि से ही, किन्तु सुनने में भी, युद्ध-गीत और युद्ध-क्षेत्र में वीरों के आह्वान जैसे प्रतीत होते हैं, वैदिक धारा की वीरोचित भावना के सुन्दर और हृदयस्पर्शी निदर्शन हैं।

उनसे यह भी स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि स्वभावतः विश्व-शान्ति और विश्व-बन्धुत्व को चाहने वाली वैदिक धारा का दृष्टिकोण एकांगी न होकर व्यापक ही है। वह कोरे आदर्शों की ही प्रतिपादक नहीं है, अपितु मनुष्य-जीवन की पूरी परिस्थिति को समझ कर चलती है।

वैदिक धारा का सामाजिक जीवन

सामाजिक जीवन का विचार अत्यन्त व्यापक है। अनेक दृष्टियों से सामाजिक जीवन का वर्णन किया जा सकता है। स्पष्टतः यहाँ यह संभव नहीं है। इसलिए यहाँ हम कुछ प्रमुख बातों को ही ले कर सामाजिक जीवन के क्षेत्र में वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि को दिखाना चाहते हैं। सबसे पहले हम समष्टि-भावना को लेते हैं।

समष्टि-भावना

समष्टि-भावना को हम सामाजिक जीवन का प्राण अथवा मौलिक सिद्धान्त कह सकते हैं। समष्टि-भावना का अर्थ है 'दूसरों के साथ में ही अपने हित के संपादन की भावना'।

यह कौन नहीं जानता कि वर्तमान हिन्दू-धर्म में उसका केन्द्र-बिन्दु चिरकाल से बहुत कुछ व्यक्ति-परक रहा है। मनुष्य, समाज से दूर भाग कर, केवल अपनी ही भलाई को, धर्म के क्षेत्र में भी, सोचता है। यह प्रवृत्ति कब से और किन कारणों से हिन्दुओं में चल पड़ी, इसका विचार हम यहाँ नहीं करेंगे; तो भी इसमें सन्देह नहीं कि वैराग्य, संन्यास और मुक्ति की भावनाओं से इसको बल अवश्य मिला है।

इसके विरुद्ध, यह देख कर आश्चर्य होता है कि वैदिक प्रार्थनाओं की, जिनसे वेद भरे पड़े हैं, सबसे पहली विशेषता उनकी समष्टि-भावना में है। इसीलिए वे प्रायः बहुवचनों में ही होती हैं। उदाहरणार्थ,

---

१. देखिए—ऋग्० १०।१०३।१०-११—"उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत् सत्वनां मामकानां मनांसि। उद् वृत्रहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः॥ अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेषु... । अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्तु... ॥"

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद् भद्रं तन्न आ सुव ।। (यजु० ३०।३)

अर्थात्, हे देव सवितः! हमारे लिए जो वास्तविक कल्याण है, उसे हम सब को प्राप्त कराइए।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ।। (यजु० ३।३५)

अर्थात्, हम सब सवितृ-देव के उस प्रसिद्ध वरणीय तेजोमय स्वरूप का ध्यान करते हैं जो हम सब की बुद्धियों को प्रेरणा प्रदान करे।

इत्यादि प्रार्थनाओं में[1] बहुवचनों का ही प्रयोग किया गया है। स्वभावतः वैयक्तिक स्वार्थों में लिप्त मनुष्य के सामने समष्टि-भावना का यह आदर्श कितना महान् और आवश्यक है! समाज की उन्नति और रक्षा के लिए यह समष्टि-भावना कितनी आवश्यक है, यह सिद्ध करने की बात नहीं है। वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि का स्पष्टतः यह एक सुन्दर निदर्शन है।

इसके अतिरिक्त, वेदों के सांमनस्य सूक्तों में भी, जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, स्पष्टतः इस सामाजिक उत्कृष्ट भावना (=समष्टि-भावना) का सुन्दर उपदेश मिलता है। जैसे,

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते ।। (ऋग्० १०।१९१।२)

अर्थात्, हे मनुष्यो! जैसे सनातन से विद्यमान, दिव्य शक्तियों से संपन्न, सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि देव परस्पर अविरोध भाव से, मानो प्रेम से, अपने-अपने कार्य को करते हैं, ऐसे ही तुम भी समष्टि-भावना से प्रेरित हो कर एक साथ कार्यों में प्रवृत्त होओ, ऐकमत्य से रहो और परस्पर सद्भाव से बरतो।

यही नहीं, वेदमन्त्रों में तो समष्टि-भावना के व्यावहारिक प्रतीक सह-भोज तथा सह-पान तक का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। जैसे—

सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे (यजु० १८।९)

अर्थात्, अपने साथियों के साथ में सह-पान और सह-भोज मझे प्राप्त हों!

---

१. इसी प्रकार "सं गच्छध्वं सं वदध्वं...(ऋग्० १०।१९१।२), "अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्..." (यजु० ४०।१६), "भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः..." (यजु० २५।२१) इत्यादि सहस्रों मन्त्रों में बहु वचनों में प्रार्थनाएँ पायी जाती हैं।

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था[1]

वैदिक धारा के सामाजिक जीवन के प्रसंग में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के विषय में कुछ कहना अत्यंत आवश्यक है। ऊपर मनुस्मृति के उद्धरणों में स्पष्टतः कहा गया है कि ब्राह्मण आदि चारों वर्णों का प्रारंभ वेद से ही हुआ है।

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का प्रारंभ और विकास किस प्रकार हुआ, इस प्रश्न में पड़ने का यह अवसर नहीं है। सातवें परिच्छेद में वर्ण-विभाग की प्रवत्ति के प्रारंभ के विषय में हम कुछ कह चुके हैं। अगले परिच्छेद में इस विषय को कुछ अधिक स्पष्ट करेंगे।

ऊपर हमने दिखलाया है कि अपने-अपने स्वार्थ, आजीविका और पेशे की रक्षा की प्रवृत्ति से ही वैदिक धारा में वर्ण-विभाग की प्रवृत्ति का प्रारंभ हुआ और शनैः-शनैः उसके तृतीय काल में वह उसकी एक विशेषता बन गयी। तो भी, उस समय तक इस प्रवृत्ति में वह घोर रूढि-मूलकता नहीं आयी थी, जिसने आगे चल कर वैदिक-धारा के प्रवाह को काफ़ी विकृत और दूषित कर दिया।

वैदिक वाङ्मय का सुप्रसिद्ध पुरुष-सूक्त ("सहस्रशीर्षः पुरुषः...." इत्यादि) स्पष्टतया वैदिक धारा के उसी तृतीय काल की रचना है। थोड़े-बहुत भेद से यह चारों वेदों में आया है। इसी सूक्त में निम्न-लिखित मंत्र आता है—

> ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
> ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ (ऋग्० १०।९०।१२)

अर्थात्, ब्राह्मण इस विराट् पुरुष का मुख-स्थानीय है, क्षत्रिय बाहु-स्थानीय और वैश्य ऊरु-स्थानीय है। शूद्र मानो उसके पैरों से उत्पन्न हुआ है।

सब व्याख्याकारों और वैदिक आचार्यों के अनुसार निर्विवाद रूप से उक्त पुरुष-सूक्त में विश्वव्यापी विराट् पुरुष का वर्णन है। इस प्रसंग में उक्त मंत्र का वही अर्थ हो सकता है जो हमने ऊपर दिया है।

उक्त मंत्र में स्पष्टतः आलंकारिक प्रक्रिया द्वारा ब्राह्मण आदि चारों वर्णों में परस्पर अङ्गांगि-भाव के संबंध को बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि जैसे किसी जीवित शरीर में मुख से लेकर पैर तक सब अंगों में परस्पर गहरा अङ्गांगि-भाव का, परस्पर आश्रयाश्रित-भाव का, संबंध होता है, वैसे ही समाज-रूपी शरीर में चारों वर्णों का परस्पर गहरा संबंध है। शरीर में कोई अंग

---

१. इस प्रसङ्ग में इसी ग्रन्थ के द्वितीय परिशिष्ट के (च) अंश में 'वर्णभेद तथा जातिभेद का परस्पर संबन्ध' शीर्षक लेख देखिए।

दूसरे अंग की उपेक्षा नहीं करता; एक की पीड़ा में सब व्याकुल हो जाते हैं; कोई भी अंग अपने लिए नहीं, अपितु दूसरे अंगों के हित में ही काम करता है। वास्तव में किसी भी समुन्नत समाज के विभिन्न अंगों के परस्पर संबंध के विषय में इससे अच्छा दृष्टान्त हो ही नहीं सकता।

इस प्रकार उपर्युक्त मंत्र स्पष्टतया एक सभ्य और समुन्नत समाज के विभिन्न वर्गों को ब्राह्मण आदि चार भागों में बाँट कर उनमें परस्पर घनिष्ठ अङ्गाङ्गि-भाव के आदर्श संबंध का प्रतिपादन करता है। यह संबंध पारस्परिक सहयोग और सामञ्जस्य के आधार पर ही हो सकता है। किंचिन्मात्र भी संघर्ष की भावना उसको समूल नष्ट करने के लिए पर्याप्त है। समाज का इस प्रकार का चित्रण, हमारे मत में, वैदिक धारा की व्यापक और वैज्ञानिक दृष्टि का एक परम उज्ज्वल निदर्शन है।

चारों वर्णों के परस्पर संबंध में यह आदर्श स्थिति वास्तव में कब और कितने काल तक रही, यह कहना कठिन है। तो भी कम-से-कम आदर्श रूप में उसकी स्थिति में संदेह नहीं हो सकता। इसकी पुष्टि उन मंत्रों से और भी होती है, जिनमें स्पष्टतया समस्त समाज और शूद्रों सहित सब वर्णों के प्रति ममत्व-बुद्धि और हित-भावना का वर्णन मिलता है। उदाहरणार्थ,

> रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
> रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥ (यजु० १८।४८)

अर्थात्, शोभा और दीप्ति के निधान भगवन्! आप हमारे ब्राह्मणों में दीप्ति को धारण कीजिए! हमारे क्षत्रियों को दीप्तिमान् कीजिए! हमारे वैश्यों और शूद्रों को दीप्ति-युक्त कीजिए! और इस प्रकार हमारे समाज में सब ओर दीप्ति के प्रसार द्वारा मुझे सदा दीप्तिमान् कीजिए!

> प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
> प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥ (अथर्व० १९।६२।१)

अर्थात्, भगवन्! मुझे देवों में (=देवताओं में, अथवा विद्वानों में) प्रिय बनाइए! मुझे क्षत्रियों में प्रिय बनाइए! मुझे शूद्रों और वैश्यों में तथा अन्य सब प्राणियों का भी प्रिय बनाइए!

> यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
> ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्याय च...॥ (यजु० २६।२)

अर्थात्, भगवन्! मुझे ऐसा बनाइए कि मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अर्थात् सारी जनता के लिए कल्याण करने वाले ज्ञान का प्रचार और प्रसार कर सकूं।

कैसी सुन्दर और उदात्त भावना है इन वेद-मंत्रों की ! किसी एक वर्ग के लिए नहीं, किन्तु संपूर्ण समाज और सारी जनता के प्रति। वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि का इससे अच्छा प्रमाण और क्या हो सकता है ?

यह ठीक है कि यही चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था आगे चलकर क्रमशः विकृत होती हुई देश के लिए अभिशापरूप हो गयी। उसने परस्पर अविश्वास, संघर्ष और विद्वेष का रूप धारण कर लिया। शूद्र के प्रति तो कठोर दृष्टि चरमसीमा तक पहुँच गयी। परन्तु यह कितने संतोष और आह्लादकर विस्मय का विषय है कि वेदमंत्रों में उस संकीर्ण-भावना का चिह्न भी नहीं है ! चारों वेदों में शूद्र के प्रति अन्याय्य अथवा कठोर दृष्टि कहीं भी नहीं मिलेगी ! अपनी इन्हीं उदार और उदात्त भावनाओं के कारण वैदिक धारा हम भारतवासियों के लिए सदा से श्रद्धा और सम्मान की वस्तु रही है और आगे भी रहेगी।

चातुराश्रम-व्यवस्था

ऊपर दिये गये मनुस्मृति के उद्धरणों के अनुसार, ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के समान, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—इन चारों आश्रमों का प्रारंभ भी वेद से ही हुआ है। इस कथन में किस रूप में और कहाँ तक प्रामाणिकता हो सकती है, इसका विस्तृत विचार हम औपनिषद धारा के प्रसंग में करेंगे। यहाँ तो केवल इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त होगा कि जहाँ तक केवल वेद-मन्त्रों का संबंध है, हमें उनमें स्पष्ट रूप से चारों आश्रमों का उल्लेख अभी तक नहीं मिला है।

इसके अतिरिक्त, विवाह-संबंधी मन्त्रों में

> **गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं**
> **मया पत्या जरदष्टिर्यथासः**[१] (ऋग्० १०।८५।३६)

(अर्थात्, अयि वधु ! मैं सौभाग्य के लिए तुम्हारे पाणि का ग्रहण करता हूँ, जिससे तुम मुझ पति के साथ में वृद्धावस्था को प्राप्त करो) ऐसे वचनों से, तथा श्रौत कर्मकाण्ड के "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति"[२] (अर्थात्, पत्नी के साथ

---

१. तु० "ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः। मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम् ॥" (अथर्व० १४।१।५२); "इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥" (ऋग्० १०।८५।४२)

२. देखिए जैमिनीय-न्यायमाला-विस्तर (६।२।६)

में जीवन-पर्यन्त अग्निहोत्र करे), "यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत्" (अर्थात्, पत्नी के साथ में जीवनपर्यन्त दर्श और पूर्णमास यागों को करे) इत्यादि प्रकरणों में पति-पत्नी के लिए जीवन-पर्यन्त साथ-साथ याज्ञिक कर्म-काण्ड के विधान से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कम से कम मन्त्र-काल में चारों आश्रमों की व्यवस्था का प्रारम्भ नहीं हुआ था।

ऐसा होने पर भी, ब्रह्मचर्य और गृहस्थ इन दो आश्रमों के संबंध में वेद-मन्त्रों में जो उत्कृष्ट और भव्य विचार प्रकट किये गये हैं, उनको हम बिना किसी अतिशयोक्ति के भारतीय संस्कृति की स्थायी अमूल्य संपत्ति कह सकते हैं। वेदों के अनेकानेक मन्त्रों में ब्रह्मचर्य और गृहस्थ का बड़ा हृदयस्पर्शी वर्णन मिलता है। उदाहरणार्थ, अथर्ववेद के एक पूरे सूक्त (११।५) में ब्रह्मचर्य की महिमा का ही वर्णन है। जैसे—

> ब्रह्मचारी ब्रह्म[१] भ्राजद् बिभर्त्ति
> तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः ॥ (अथर्व० ११।५।२४)
> ब्रह्मचारी....श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति। (अथर्व० ११।५।४)
> ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
> आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ (अथर्व० ११।५।१७)

अर्थात्, ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करने वाला ही प्रकाशमान ज्ञान-विज्ञान को धारण करता है। उसमें मानो समस्त देवता वास करते हैं॥ ब्रह्मचारी श्रम और तप से युक्त जीवन द्वारा सारी जनता को पुष्टि प्रदान करता है॥ ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा अपने राष्ट्र की रक्षा में समर्थ होता है। ब्रह्मचर्य द्वारा ही आचार्य शिष्यों के शिक्षण की योग्यता को अपने में संपादन करता है।

यहाँ स्पष्ट शब्दों में राष्ट्र की चतुरस्र उन्नति के लिए और मानव-जीवन के विभिन्न कर्तव्यों के सफलतापूर्वक निर्वाह के लिए **श्रम और तपस्या द्वारा विद्या-प्राप्ति** (=**ब्रह्मचर्य**) की अनिवार्य आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। मन्त्र में 'श्रम' और 'तपः' ये दो शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं। क्या आजकल की अत्यन्त कठिन शिक्षा-समस्या के लिए उनसे कोई प्रेरणा और संकेत नहीं मिल सकता? श्रम और तपस्या पर निर्भर ब्रह्मचर्य-आश्रम की उद्भावना वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि का निःसन्देह एक समुज्ज्वल प्रमाण है।

---

१. तु०—"सर्वेषामपि भूतानां यत्तत्कारणमव्ययम्। कूटस्थं शाश्वतं दिव्यं, वेदो वा, ज्ञानमेव यत्॥ तदेतदुभयं ब्रह्म ब्रह्मशब्देन कथ्यते। तदुद्दिश्य व्रतं यस्य ब्रह्मचारी स उच्यते॥" (रश्मिमाला ११।५-६)

गृहस्थ-आश्रम के संबंध में सबसे उत्कृष्ट विचार हमें वेदों के विवाह-संबंधी सूक्तों[1] में तथा सांमनस्य-सूक्तों में मिलते हैं। विस्तार के भय से यहाँ केवल दो-चार उद्धरण देना पर्याप्त होगा।

> गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं...
> मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः। (ऋग्० १०।८५।३६)
> समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ। (ऋग्० १०।८५।४७)
> ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि।
> (ऋग्० १०।८५।२४)
> अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि। (ऋग्० १०।८५।२७)
> मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती।
> सुगेभिर्दुर्गमतीताम्... ... (ऋग्० १०।८५।३२)
> सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। (ऋग्० १०।८५।४६)
> इहैव स्तं मा वि यौष्टं... ... (ऋग्० १०।८५।४२)
> स्योनास्यै सर्वस्यै विशे। (अथर्व० १४।२।२७)

अर्थात्, हे वधु! हम दोनों की सौभाग्य-समृद्धि के लिए मैं तुम्हारे पाणि का ग्रहण कर रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि मैंने तुम्हें देवताओं से प्रसाद रूप में गृहस्थ-धर्म के पालन के लिए पाया है।

समस्त दैवी शक्तियाँ हमारे हृदयों को परस्पर अनुकूल, कर्तव्यों के पालन में सावधान और जलों के समान शान्त तथा भेद-भाव से रहित करें!

विवाह का लक्ष्य यही है कि पति-पत्नी दोनों गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर संयम तथा सच्चरित्रता का पवित्र जीवन व्यतीत करते हुए अपना पूर्ण विकास कर सकें।

अयि वधु! तुम पति-गृह में पहुँच कर गृहस्थ के कर्तव्य-पालन में सदा जागरूक और सावधान रहना!

वे दुर्भावनाएँ, जो प्रायः पति-पत्नी के जीवन में भेद और विराग उत्पन्न कर देती हैं, तुम दोनों के बीच में कभी न आएँ! तुम दोनों सच्चरित्रता के साथ इस कठिन गृहस्थ धर्म का पालन करो।

हे वधु! तू पतिगृह में सास-ससुर के लिए सम्राज्ञी के रूप में प्रेम और सम्मान का पात्र बन कर रहना!

---

१. देखिए—ऋग्वेद १०।८५ तथा अथर्व० १४।१, २।

पति-पत्नी तुम दोनों जीवन में एकमन होकर रहो, तुम्हारा वियोग कभी न हो !

हे वधू ! तुम्हारा गृहस्थ-जीवन सारी जनता के लिए सुख देने वाला हो !

वैवाहिक जीवन के पवित्र और महान् लक्ष्य की ओर स्पष्ट संकेत करने वाले इन उदात्त विचारों पर टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। देखना तो यह है कि भारतीय इतिहास के मध्य-काल के उन लज्जाजनक विचारों से ये कितने भिन्न हैं, जिनके अनुसार स्त्री को 'उपभोग की सामग्री', 'नरक का द्वार' (=नारी नरकस्य द्वारम्), 'ताडन का अधिकारी' और 'आदमी की दासी' तक कहा गया है।

इसी प्रकार वेदों के सांमनस्य-सूक्तों में[1], जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, गृहस्थ-जीवन के संबंध में जो सुन्दर भाव प्रकट किये गये हैं, वे भी वैदिक धारा की एक महान् निधि हैं। उदाहरणार्थ,

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥

(अथर्व० ३।३०।१-३)

अर्थात्, हे गृहस्थो ! तुम्हारे पारिवारिक जीवन में परस्पर ऐक्य, सौहार्द और सद्भावना होनी चाहिए। द्वेष की गन्ध भी न हो। तुम एक-दूसरे को उसी तरह प्रेम करो, जैसे गौ अपने तुरन्त जनमे हुए बछड़े को प्यार करती है।

पुत्र अपने माता-पिता का आज्ञानुवर्ती और उनके साथ एक-मन होकर रहे ! पत्नी अपने पति के प्रति मधुर और स्नेह-युक्त वाणी का ही व्यवहार करे !

भाई भाई के साथ और बहिन-बहिन के साथ द्वेष न करे !

तुम्हें चाहिए कि एक-मन होकर समान आदर्शों का अनुसरण करते हुए परस्पर स्नेह और प्रेम को बढ़ाने वाली वाणी का ही व्यवहार करो !

पारिवारिक जीवन में स्वर्गीय सुख और शान्ति लाने के लिए इससे अच्छा उपदेश और क्या हो सकता है ?

---

१. सांमनस्य-सूक्तों में पारिवारिक जीवन के साथ-साथ समाज तथा मानव-मात्र के प्रति भी सौहार्द और सद्भावना का प्रतिपादन किया गया है।

राजनीतिक आदर्श

राजनीतिक आदर्शों के विषय में भी वैदिक मंत्रों के अनेक ऐसे विचार हैं, जो वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि को स्पष्टतः प्रमाणित करते हैं।

सभ्यता के इतिहास में राज-संस्था अति प्राचीन काल से चली आ रही है। वैदिक काल में भी इसकी स्थिति थी, ऐसा वेद-मंत्रों से ही स्पष्ट प्रतीत होता है। ऐसा होने पर भी, वेद-मंत्रों में जन-तंत्र की भावना और जनता अथवा प्रजा के पक्ष का समर्थन यत्र-तत्र मिलता है। उदाहरणार्थ,

विशि राजा प्रतिष्ठितः (यजु० २०।९)

अर्थात्, राजा की स्थिति प्रजा पर ही निर्भर होती है।

त्वां विशो वृणतां राज्याय (अथर्व० ३।४।२)

अर्थात्, हे राजन्! प्रजाओं द्वारा तुम राज्य के लिए चुने जाओ।

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु (अथर्व० ४।८।४)

अर्थात्, हे राजन्! तुम्हारे लिए यह आवश्यक है कि समस्त प्रजाएँ तुम को चाहती हों।

एतरेय-ब्राह्मण में तो यहाँ तक कह दिया है कि

"राष्ट्राणि वै विशः" (ऐत० ब्रा० ८।२६)

अर्थात्, प्रजाएँ ही राष्ट्र को बनाती हैं।

इसके अतिरिक्त, वेद-मंत्रों में यह भावना भी स्पष्टतया देखी जाती है कि राष्ट्र की उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि उसके सब अंगों का विकास हो और समस्त जनता की समृद्धि और सुख ही उसका प्रथम ध्येय हो[1]।

राजनीतिक आदर्शों के संबंध में वेद-मंत्रों की ये उदार और उदात्त भावनाएँ वैदिक-धारा के लिए वास्तव में गर्व और गौरव का विषय हैं।

वैयक्तिक जीवन

अन्त में, वैयक्तिक जीवन के संबंध में वेद-मंत्रों की विचार-धारा का संक्षेप में निर्देश करके हम इस परिच्छेद को समाप्त करते हैं।

---

१. तु० **"आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् आ राष्ट्रे राजन्यः शूर... महारथो जायतां...जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवा...वीरो जायताम्...फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्। योगक्षेमो नः कल्पताम्॥"** (यजु० २२।२२)

वैदिक उदात्त भावनाओं आदि के विषय में जो कुछ हम कह चुके हैं, उससे वैदिक-कालीन वैयक्तिक जीवन पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है। तो भी वैयक्तिक जीवन के विकास की दृष्टि से वैदिक धारा के आदर्शों के विषय में यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता है।

ऋत और सत्य, निष्पाप-भावना, श्रद्धा, आत्म-विश्वास, ब्रह्मचर्य, व्रत, श्रम और तपस्, वीरता और शत्रु-संहार (=वृत्र-हनन) आदि की महिमा से ओत-प्रोत वेद-मंत्रों से यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि वैदिक धारा की दृष्टि से वैयक्तिक जीवन का सर्वांगीण विकास आवश्यक समझा जाता था। इसीलिए वेद-मंत्रों में बौद्धिक तथा नैतिक विकास के साथ-साथ शारीरिक स्वास्थ्य और दीर्घायुष्य के लिए भी गंभीर प्रार्थनाएँ पदे-पदे देखने में आती हैं।

वेद की बुद्धि-विषयक प्रार्थनाएँ प्रसिद्ध हैं[१], जिनमें गायत्री-मंत्र (**तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्** ॥ यजु० ३।३५) सुप्रसिद्ध है।

नैतिक प्रार्थनाओं का दिग्दर्शन हम वैदिक उदात्त भावनाओं के प्रसंग में करा चुके हैं। उसी प्रसंग में दीर्घायुष्य और पूर्णायुष्य की सुन्दर प्रार्थनाओं का भी संकेत किया जा चुका है।

शारीरिक स्वास्थ्य के लिए महत्त्व-युक्त प्रार्थनाओं के कुछ उदाहरण हम नीचे देते हैं—

> "**तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि।**
> **आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि।...**
> **...यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आ पृण॥**" (यजु० ३।१७)

अर्थात्, हे अग्ने! तुम शरीर की रक्षा करने वाले हो, मेरे शरीर को पुष्ट कीजिए। तुम आयु को देने वाले हो, मुझे पूर्ण आयु दीजिए। मेरे शारीरिक स्वास्थ्य में जो भी न्यूनता हो उसे पूरा कर दीजिए।

> **वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः।**
> **अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्।**
> **ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा...** (अथर्व० १९।६०।१-२)

अर्थात्, मेरे समस्त अंग पूर्ण स्वस्थता से अपना-अपना कार्य करें, यही मैं चाहता हूँ। मेरी वाणी, प्राण, आंख, और कान अपना-अपना काम कर सकें!

---

१. देखिए—"**मां...मेधाविनं कुरु...॥ मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः।...**" (यजु० ३२।१४-१५)

मेरे बाल काले रहें ! दातों में कोई रोग न हो ! बाहुओं में बहुत बल हो ! मेरी ऊरुओं में ओज, जांघों में वेग और पैरों में दृढ़ता हो !

"आयुर् यज्ञेन कल्पतां...प्राणो...अपानो...व्यानो...चक्षुर्...
श्रोत्रं...वाग्...मनो...आत्मा यज्ञेन कल्पतां स्वाहा ।।"
(यजु० ३२।३३)

अर्थात्, प्राकृत जगत् में काम करने वाली अग्नि, वायु आदि दैवी शक्तियों के साथ सामञ्जस्य का जीवन (=यज्ञ) व्यतीत करते हुए मैं पूर्णायुष्य को प्राप्त कर सकूँ; मेरी प्राण, अपान आदि शक्तियाँ तथा चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य ठीक तरह कर सकें; और इस प्रकार मेरे व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो—यही मेरी आन्तरिक कामना है, यही मेरी हार्दिक अभिलाषा और प्रार्थना है !

अश्मा भवतु नस्तनूः (यजु० २९।४९)

अर्थात्, हमारी प्रार्थना है कि हमारा शरीर पत्थर के समान सुदृढ हो !

जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि वैदिक धारा की सबसे बड़ी विशेषता उसकी व्यापक दृष्टि में है। वह व्यष्टि और समष्टि दोनों दृष्टियों से मानव के सर्वांगीण विकास को चाहती है। जीवन की सब परिस्थितियों में मानव सफलतापूर्वक अपना पूर्ण विकास कर सके, यही उसका प्रधान लक्ष्य है। भारतीय संस्कृति के उत्तर-कालीन शब्दों में हम कह सकते हैं कि वैदिक धारा का सदा से मुख्य ध्येय यही रहा है कि मनुष्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूपी चारों पुरुषार्थों की, अथवा अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति कर सके। इसी से मनुष्य-जीवन के कर्तव्यों के विषय में उसका दृष्टि-कोण, एकांगी या एकदेशी न होकर, सदा से व्यापक रहा है। यही उसके भारतीय संस्कृति के विकास में बहुमुखी, व्यापक और शाश्वतिक प्रभाव का रहस्य है।

दसवाँ परिच्छेद

वैदिक धारा की देन

भारतीय संस्कृति के विकास में वैदिकधारा के बहुमुखी, व्यापक तथा शाश्वतिक प्रभाव की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। इस परिच्छेद में हम इसी का स्पष्टीकरण करना चाहते हैं।

वैदिक धारा के साथ उत्तरवर्ती धाराओं का सम्बन्ध

पिछले परिच्छेद में हमने दिखलाया है कि वैदिकधारा के बहुमुखी, व्यापक तथा शाश्वतिक प्रभाव का मूल वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि में ही हो सकता है। अपनी उसी व्यापक दृष्टि के कारण वैदिक धारा, उत्तरकाल में अन्य नवीन धाराओं से प्रभावित होकर भी, प्रायेण उनको अपने में समन्वित या आत्मसात् करती हुई, अपने ही नाम से आगे बढ़ती हुई प्रतीत होती है।

उत्तरकालीन नवीन धाराएँ (जैसा कि आगे चलकर हम क्रमशः यथास्थान दिखाएँगे), भले ही उन्होंने भारतीय (या वैदिक) संस्कृति का बड़ा उपकार क्यों न किया हो, प्रायेण जीवन की किसी विशेष दृष्टि को, या समय की किसी विशेष आवश्यकता को, लक्ष्य में रखकर ही प्रवृत्त हुईं। दूसरे शब्दों में, उनकी दृष्टि एकांगी ही थी। इसीलिए जीवन की अन्य अपेक्षित दृष्टियों के सम्बन्ध में उन्हें बरबस वैदिक परम्परा का ही अवलम्बन करना पड़ा। वास्तव में इसी बात को लक्ष्य में रखकर मनु ने कहा है—

> **या वेदबाह्याः स्मृतयो...**
> **उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च...** (मनु० १२।९५-९६)

अर्थात्, वैदिक धारा से भिन्न स्मृतियाँ या धाराएँ समय-समय पर बनती-बिगड़ती रहती हैं।

वैदिक वाङ्मय में वैदिक-धारा के प्रवर्तक ऋषियों को 'पथिकृत्' या 'जीवन-यात्रा के लिए मार्ग को बनाने वाला' प्रायः कहा गया है। उदाहरणार्थ,

> इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः
> पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः। (ऋग्० १०।१४।१५)

अर्थात्, हमारे पूर्वज ऋषियों के लिए, जिन्होंने प्रारम्भ में जीवन के मार्ग को बनाया, हमारा नमस्कार है।

> लोककृतः पथिकृतो यजामहे
> ये देवानां हुतभागा इह स्थ। (अथर्व० १८।३।२५-३५)

अर्थात्, हम जीवन के मार्ग को बनाने वाले तथा समाज का कल्याण करने वाले अपने पूर्वजों का यजन करते हैं। यज्ञों में देवताओं के समान ही वे भी हमारे लिए पूजनीय और यजनीय हैं।

ऐसे वचनों का यही अभिप्राय हो सकता है कि व्यापक दृष्टि से भारतीय जीवन के मार्ग या मर्यादाओं के निर्माण का श्रेय वैदिक धारा को ही देना चाहिए। ऐसी स्थिति में, समय के प्रभाव से उन मर्यादाओं के नष्ट-भ्रष्ट या संकीर्ण हो जाने पर, बहुत करके उनको 'सुधारने' का काम ही उत्तरकालीन धाराओं ने किया है। इसी दृष्टि से उन धाराओं के प्रवर्तकों को 'सुधारक' नाम से ही प्रायः स्मरण किया जाता है।

इसके अतिरिक्त, प्रायेण प्राचीन परम्परागत संस्कृति (अथवा वेद या वैदिक धारा) के नाम पर ही उन्होंने अपने-अपने सिद्धान्तों या सुधारों का प्रतिपादन किया है। उदाहरणार्थ, पौराणिक धारा के प्रमुख ग्रन्थ श्रीमद्भागवत के विषय में उसके माहात्म्य में कहा गया है—

> तत्कथासु तु वेदार्थः श्लोके श्लोके पदे पदे ॥
> वेदोपनिषदां साराज्जाता भागवती कथा ॥
> (भागवत-माहात्म्य २।६५,६७)

अर्थात्, श्रीमद्भागवत की कथाओं में प्रत्येक श्लोक और पद में वेदों का तात्पर्य भरा पड़ा है। भागवती कथा का निर्माण वेद और उपनिषदों के सार से हुआ है।

> निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
> शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।

पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ।।
(भागवत-माहात्म्य ६।८०)

इस सुप्रसिद्ध पद्य में भागवत को वेद-रूपी कल्पवृक्ष के अमृत-द्रव-संयुत फल के रूप में वर्णन किया गया है।

इसी प्रकार, बौद्ध-धारा के मान्य ग्रन्थ धम्मपद में "आराधये मग्गमिसिप्पवेदितं" (=आराधयेद् मार्गमृषिप्रवेदितम् । अर्थात्, मनुष्य को चाहिए कि वह प्राचीन ऋषियों द्वारा बतलाये हुए मार्ग का अनुसरण करे), इस तरह स्पष्टतया प्राचीन परम्परागत संस्कृति (अथवा वैदिक धारा) के प्रति मान्यता प्रदर्शित की गयी है।

इसी प्रकार, सिक्ख-धर्म की मान्य पुस्तक श्रीगुरु ग्रन्थ साहिब में वेद के विषय में परम्परा-मूलक मान्यता की भावना यत्र-तत्र पायी जाती है। जैसे—

"साम वेदु रिगु जुजरु अथरबणु
ब्रह्मे मुखि माइया है त्रैगुण ।
ता की कीमति कहि न सकै कोइ
तिउ बोले जिउ बोलाइदा ।।"
(मारू सोलहे म० शब्द ८७)

"हरि सिमरन लागे वेद उपाए ।"
(गौडी सुखमनि १)

इस प्रकार प्रायः प्रत्येक उत्तर-वर्त्ती धारा के वाङ्मय में वेद के प्रति आस्था की भावना पायी जाती है।

जैन, बौद्ध जैसे 'अवैदिक' कहे जाने वाले संप्रदायों की भी, हम समझते हैं, मूल में वेद-विरोधिनी दृष्टि नहीं थी। जैन साहित्य में 'वेय' (=वेद), 'वेयन्नू' (=वेदज्ञः) और बौद्ध साहित्य में 'वेदगू' (=वेदज्ञः), 'वेदपारगू' (=वेदपारगः) जैसे शब्दों के अच्छे अर्थों में प्रयोग से इसी धारणा को बल मिलता है। स्वार्थ-परायण साम्प्रदायिकों के हठ और पक्षपात के कारण ही उनमें वेद और वैदिक धारा के प्रति उपेक्षा और विरोध की भावनाओं ने स्थान पाया, यह हम आगे यथास्थान दिखाने का यत्न करेंगे।

ऊपर जो कुछ कहा है उससे स्पष्ट है कि उत्तरवर्ती किसी धारा या धाराओं को वैदिक धारा का प्रतिद्वन्द्वी कहना या समझना भूल है। अपने-अपने मूल रूप में हम उनको अधिक से अधिक वैदिक धारा का पूरक कह सकते हैं।

जैसे शरीर के ढाँचे को अस्थियाँ बनाती हैं, अथवा किसी पुराने मकान की नीवों पर नया मकान बनाया जाता है, या किसी देश के पर्वत और नदियाँ उसके शाश्वतिक भौगोलिक रूप को बना देते हैं, इसी प्रकार भारतवर्ष की धार्मिक, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक व्यवस्था की मानो रूपरेखा का अंकन वैदिक धारा द्वारा हुआ है। उसी रूपरेखा के अन्दर विभिन्न धाराओं ने समय-समय पर अपना-अपना चित्रण करके, अपना-अपना रंग भर कर, उसको नया भव्य रूप देने का यत्न किया है।

वैदिक धारा के साथ उत्तरवर्ती धाराओं का बहुत कुछ ऐसा ही संबन्ध हमें प्रतीत होता है, जैसा कि क्रमशः आगे हम स्पष्ट करेंगे।

खेतों की मेड़ों की तरह हमारे जीवन की व्यवस्थाओं और मर्यादाओं का आधार बहुत कुछ वैदिक धारा पर है, इस बात को हम जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को लेकर दिखला सकते हैं। सबसे पहले हम धार्मिक क्षेत्र को ही लेते हैं—

धार्मिक क्षेत्र

धार्मिक क्षेत्र का विस्तार बहुत बड़ा है; क्योंकि 'धर्म' शब्द का अर्थ अत्यन्त व्यापक है।

सामान्य रूप से धर्म में आचार-विचार, दोनों का संमिश्रण समझा जाता है। जहाँ तक विचार का संबन्ध है, उसको भी दो भागों में बाँटा जा सकता है, नैतिक विचार और उनके आधारभूत दार्शनिक विचार। परिच्छेद ६ और ८ में हम दोनों प्रकार के विचारों पर पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं।

नैतिक तथा दार्शनिक विचार

वैदिक धारा की दार्शनिक भूमिका (परिच्छेद ६) को दिखाते हुए हमने कहा है कि यद्यपि आपाततः वैदिक देवता अपनी-अपनी स्वतन्त्र या पृथक् सत्ता रखते हुए प्रतीत होते हैं, तो भी वैदिक मन्त्रों के गम्भीर अध्ययन से उन देवताओं के पीछे रहने वाली उनकी **मौलिक आध्यात्मिक एकता** स्पष्ट दिखायी देती है। इसी बात को **निरुक्तकार यास्क** ने अपने शब्दों में इस प्रकार कहा है:

"माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा
बहुधा स्तूयते।" (निरुक्त ७।४)

अर्थात्, देवता वास्तव में एक ही है। उसी एक देवता की, अपने माहाभाग्य या माहात्म्य के कारण तत्तद्देवता के भेद को लेकर, अनेक प्रकार से स्तुति **की जाती है।**

वेदों के सैकड़ों मन्त्रों में स्पष्ट रूप से उसी मौलिक सत्ता या अध्यात्म-तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। आगे चलकर औपनिषद धारा ने इसी सिद्धान्त का प्रधान रूप से प्रतिपादन किया था, जैसा कि हम यथा-स्थान स्पष्ट करेंगे।

वैदिक उदात्त भावनाओं (परिच्छेद ८) की व्याख्या करते हुए हमने वैदिक धारा के सुपुष्ट नैतिक आधार को दिखाने का यत्न किया है। हमने दिखाया है कि वास्तव में ऋत और सत्य की भावना ही अन्य वैदिक उदात्त भावनाओं की जननी है। जिस प्रकार वैदिक देवतावाद का लक्ष्य एकसूत्रीय अध्यात्म-(या परमात्म-) तत्त्व की अनुभूति है, उसी प्रकार ऋत और सत्य के सिद्धान्त का अभिप्राय सारे विश्व-प्रपञ्च में व्याप्त उसके नैतिक आधार से है।

इस सारे विश्व-प्रपञ्च का संचालन शाश्वत नैतिक आधार पर हो रहा है, ऐसी धारणा मनुष्य में स्वभावतः समुज्ज्वल आशा-वाद, भद्र-भावना और आत्म-विश्वास को उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकती।

उपर्युक्त दार्शनिक और नैतिक विचार वास्तव में एक ही मौलिक सत्य[1] की दो दृष्टियाँ हैं। वैदिक धारा का शाश्वतिक महत्त्व बहुत-कुछ इन्हीं विचारों पर निर्भर है।

उत्तर-वर्ती विभिन्न धाराओं ने अनेक प्रकार से भारतीय संस्कृति का उपकार किया है। परन्तु उपर्युक्त विचारों के लिए वे सब वैदिक धारा की ऋणी रही हैं। सब ने उपर्युक्त मौलिक तथ्य को, किसी-न-किसी रूप में, अवश्य स्वीकार किया है।[2] यही भारतीय संस्कृति को सदा के लिए वैदिक धारा की मौलिक देन है।

गृह्य कर्मकाण्ड

आचार-पक्ष की दृष्टि से भारतीय संस्कृति के लिए वैदिक धारा की देन का और भी अधिक महत्त्व है। नैतिक तथा दार्शनिक विचारों का संबन्ध सर्व-

---

१. तु० "सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये। सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः॥" (भागवत १०।२।२६)

२. तु० "सत्यं ब्रह्म परं धाम कर्म 'धर्म' प्रजापतिः। सवितमाता शिवो विष्णू राम ओंकार एव च॥ प्रेमेत्यादि पदं मूलतत्त्ववाचि न संशयः।" (रश्मिमाला ६०।१५–१६)

साधारण की अपेक्षा तत्त्व-विचारकों से ही अधिक होता है। परन्तु धार्मिक कर्म-काण्ड के रूप में आचार का संबन्ध प्रायेण समस्त जनता से होता है।

परिच्छेद ५ में हमने दिखलाया है कि जहाँ प्रथम तीन वैदिक संहिताओं का संबन्ध बहु-द्रव्य-साध्य श्रौत (=वैदिक) यज्ञों से है, वहाँ अथर्व-वेद का संबन्ध प्रायेण गृह्य कर्म-काण्ड (जैसे जन्म, विवाह या मृत्यु से संबद्ध संस्कार आदि) से है। श्रौत यज्ञों का प्रतिपादन श्रौत-सूत्रों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में किया गया है, और गृह्य कर्मकाण्ड का गृह्य-सूत्रों में।

वैदिक धारा के ह्रास के साथ-साथ श्रौत यज्ञों का भी ह्रास हुआ। वास्तव में श्रौत यज्ञों की अत्यधिक यान्त्रिक कृत्रिमता ही वैदिक धारा के ह्रास की प्रधान कारण सिद्ध हुई और इसमे ही श्रौत यज्ञों की परम्परा भी स्वयं प्रायेण विलुप्त हो गयी, जैसा कि हम अगले परिच्छेद में दिखाएँगे।

परन्तु वैदिक गृह्य कर्मकाण्ड, वैदिक धारा के ह्रास के हो जाने पर भी, किसी-न-किसी रूप में जीवित ही रहा। प्रारम्भ से ही उसका संबन्ध सर्व-साधारण के जीवन से था। उसमें श्रौत-यज्ञों-जैसी कृत्रिमता कभी नहीं आयी। गृहस्थ-जीवन को व्यवस्थित और सुसंस्कृत करना ही गृह्य कर्मकाण्ड का प्रधान लक्ष्य सदा से माना गया है। इसलिए वैदिक धारा के अनन्तर आने वाली जैन, शैव, वैष्णव आदि सांप्रदायिक धाराओं में भी वैदिक गृह्य कर्मकाण्ड किसी-न-किसी रूप में बराबर चलता ही रहा। किसी सांप्रदायिक धारा ने कोई विशेष विरोध उसका नहीं किया।

यह सब कोई जानते हैं कि कुछ ही समय पहले तक जैनियों में भी विवाहादि संस्कार वैदिक पद्धति के अनुसार ही कराये जाते थे। कुछ ही दिनों से इसका कुछ विरोध होने लगा है; वह भी प्राय: केवल वैदिक मन्त्रों के प्रयोग के संबन्ध में, न कि सामान्य पद्धति के विषय में।

वैदिक संस्कार

गृह्य कर्मकाण्ड में प्रमुख स्थान जन्म से (अथवा गर्भाधान से) मृत्यु-पर्यन्त किये जाने वाले अनेकानेक **संस्कारों** का है।

प्राणि-जीवन-शास्त्र और जनन-विज्ञान आदि विज्ञानों के अनुसन्धानों के कारण अब गर्भाधानादि संस्कारों के महत्त्व को सिद्धान्त रूप से स्वीकार किया जाने लगा है। साधारण से पौधे के पालन-पोषण में जितना ध्यान दिया जाता है,

स्पष्टतः मनुष्य के जीवन की देख-भाल में उससे कहीं अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। यही तो अधिकतर संस्कारों का अभिप्राय है।[१]

विधि-पूर्वक या अविधि-पूर्वक, समझ कर या बिना समझे, आज भी हमारे घरों में अधिकतर वैदिक संस्कार मनाये जाते हैं। उनकी सहस्रों वर्षों की परम्परा आज भी चल रही है; भारत के किसी एक या दो प्रान्तों में नहीं, किन्तु समस्त भारत में! यह साधारण बात नहीं है। वैदिक धारा की यह देन, जो भारत-जैसे विशाल देश को एक ग्रन्थन में बाँधे हुए है, कितनी बड़ी है! कितनी अद्भुत है!

विवाह संस्कार

संस्कारों में सबसे प्रधान स्थान **विवाह-संस्कार** का है। उसका सारा ढाँचा समस्त भारत में वैदिक धारा के ही आधार पर है। वही सहस्रों वर्षों से आने वाली पद्धति आज भी चल रही है। पाणि-ग्रहण, वह्नि-प्रदक्षिणा, सप्तपदी, लाजा-होम आदि के वही पुराने पवित्र वेद-मन्त्र, समझ कर या बिना समझे, पर श्रद्धा के साथ, आज भी समस्त भारत में उसी तरह पढ़े जाते हैं, जैसे सहस्रों वर्षों पहले पढ़े जाते थे।

जीवन के इस गम्भीरतम अवसर पर वधू का पाणिग्रहण करते हुए आज भी वर कहता है—

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं
मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धि-
र्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥

(ऋग्० १०।८५।३६)

अर्थात्,

सौभाग्य की समृद्धि के लिए मैं तुम्हारे हाथ को पकड़ता हूँ,
जिससे हम दोनों पूर्णायुष्य को प्राप्त कर सकें!
भग, अर्यमा, और दानशील सवितृ-देवता—
इन्हीं देवताओं ने प्रसाद-रूप में तुम्हें
गृहस्थ-धर्म के पालन के लिए मुझे दिया है॥

---

१. तु० "**वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्। कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥ गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः। बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते।**" (मनुस्मृति २।२६-२७)

आज भी वर-वधू एक-दूसरे से प्रतिज्ञा कराते हैं—

मम व्रते ते हृदयं दधामि
मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व
प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥
(पारस्कर-गृह्यसूत्र १।८)

अर्थात्

तुम्हारा हृदय मेरे व्रत के अनुकूल हो!
तुम्हारा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल हो!
मेरे कथन को तुम प्रेम से एक-मन होकर सुनो!
भगवान् प्रजापति तुमको मुझमें युक्त या अनुरक्त करें!

यदेतद् हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम।
यदिदं हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव॥
(मन्त्रब्राह्मण १।३।९)

अर्थात्,

यह जो तुम्हारा हृदय है वह मेरा हृदय हो जाए!
यह जो मेरा हृदय है वह तुम्हारा हृदय हो जाए!

वैदिक विवाह-संस्कार कई प्रकार से अपनी विशेषता रखता है। उसमें वर-वधू की पारस्परिक प्रतिज्ञाओं से यह तो स्पष्ट ही है कि दोनों वर-वधू में अपने नवीन जीवन के महान् उत्तर-दायित्व को समझने और उठाने की योग्यता होनी चाहिए। इसलिए वास्तव में वैदिक विवाह-संस्कार बच्चों का तो हो ही नहीं सकता।

वैवाहिक जीवन की सफलता के लिए जिन बातों की आवश्यकता है उन सबका बड़ा हृदयाकर्षक वर्णन सप्तपदी के मन्त्रों में[1] आ जाता है। सप्तपदी में वर वधू से क्रमशः कहता है कि प्रिये! हमारे वैवाहिक जीवन के लक्ष्य होंगे—(१) अन्नादि आवश्यक सामग्री, (२) बल, (३) आर्थिक संपत्ति,

१. देखिए—"इषे एकपदी भव। सा मामनुव्रता भव। विष्णुस्त्वानयतु पुत्रान् विन्दावहै बहून्। ते सन्तु जरदष्टयः॥१॥ ऊर्जे द्विपदी भव० ॥२॥ रायस्पोषाय त्रिपदी भव० ॥३॥ मयोभवाय चतुष्पदी भव० ॥४॥ प्रजाभ्यः पञ्चपदी भव० ॥५॥ ऋतुभ्यः षट्पदी भव० ॥६॥ सखे सप्तपदी भव० ॥७॥" (पारस्कर-गृह्यसूत्र १।८)

(४) सुख और मनःप्रसाद, (५) सन्तान-पालन, (६) दीर्घायुष्य, और (७) परस्पर प्रेम।

सफल गृहस्थ-जीवन का इससे अधिक सुन्दर चित्रण नहीं हो सकता।

वैदिक विवाह-संस्कार के **प्रधान-होम** में कई प्रकार की आहुतियाँ दी जाती हैं। उनमें **राष्ट्रभृत्** (१२ आहुतियाँ), **जया-होम** (१३ आहुतियाँ), और **अभ्यातान-होम** (१८ आहुतियाँ) नामक आहुतियों का बड़ा महत्त्व है।

राष्ट्रभृत् आहुतियों द्वारा प्रार्थना की जाती है कि सारे व्यक्त जगत् की विभूतियाँ हमारे राष्ट्र की ज्ञान-संपत्ति (=ब्रह्म) और बल-संपत्ति (=क्षत्र) को बढ़ाने में हमारी सहायक हों![1]

जया-होम के मन्त्रों में, विभिन्न मानसिक आदि शक्तियों और संपत्तियों के वर्णन के साथ, अन्त में कहा गया है कि परमात्मा जीवन-संग्राम में उसी को विजय-प्रदान करते हैं, जो अपनी शक्तियों को पूर्णतया विकसित करता है। ऐसे पुरुष के सम्मुख सब कोई विनय का प्रदर्शन करते हैं।[2]

अभ्यातान–(=एक प्रकार का युद्ध-गीत)–**होम** द्वारा प्रार्थना की जाती है कि इस विश्व-प्रपञ्च में सृष्टि के विभिन्न विभागों को नियम में रखने वाली दैवी शक्तियाँ हमारी सहायक हों, जिससे हम मनुष्य-जीवन में सब प्रकार से शक्ति-संपन्न होकर सफलता को प्राप्त कर सकें!

यह है वैदिक विवाह के स्वरूप का कुछ दिग्दर्शन।

इसके अनुसार विवाह विषयोपभोग के असंयत जीवन का प्रारम्भ नहीं है। वह तो, वास्तव में, गृहस्थ-जीवन के पूर्ण उत्तर-दायित्व को समझने वाले दम्पती के लिए, जीवन-संघर्ष में और राष्ट्र की सेवा में प्रवृत्त और प्रविष्ट होने का एक महान् प्रतीक है।

वैदिक संस्कारों की उत्कृष्ट आदर्श-दृष्टि का यह केवल एक उदाहरण है।[3] **इसी दृष्टि से इनको हम वैदिक धारा की एक महान् देन समझते हैं। मनुष्य को वास्तविक अर्थों में मनुष्य बनाने का विज्ञान और रहस्य इन संस्कारों में निहित है।**

---

१. दे० "स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु" (यजु० १८।३८)

२. दे० "प्रजापतिर्जयानिन्द्राय वृष्णे प्रायच्छदुग्रः पृतनाजयेषु। तस्मै विशः समनमन्त सर्वाः स उग्रः स इ हव्यो बभूव॥" (पारस्कर-गृह्यसूत्र १।५)

३. उपनयन और वेदारम्भ संस्कारों की चर्चा हम आगे ब्रह्मचर्य-आश्रम के प्रसङ्ग में करेंगे।

पञ्च महायज्ञ

संस्कारों के साथ ही गृह्य-सूत्रों में पञ्च-महायज्ञों का विधान किया गया है। संस्कारों के समान ही इनकी परम्परा भी किसी-न-किसी रूप में आज भी समस्त भारत में चल रही है। हिन्दुओं के प्रायः समस्त संप्रदायों की इनमें मान्यता है। इनका स्वरूप अब भी बहुत-कुछ वैदिक धारा के आधार पर ही है। अब भी इनमें वैदिक मन्त्रों का प्रयोग, कम से कम पाठ-मात्र, किया जाता है।

पञ्च-महायज्ञ हैं—

(१) ब्रह्म-यज्ञ, (२) देव-यज्ञ, (३) पितृ-यज्ञ, (४) भूत-यज्ञ, और (५) मनुष्य-यज्ञ।

इनकी विशेष विधियाँ, कर्म-काण्ड के रूप में, गृह्य-सूत्रों आदि में दी हुई हैं। प्रत्येक द्विज को ये पाँच महायज्ञ प्रतिदिन करने चाहिएँ, ऐसा शास्त्रीय विधान है।

कर्मकाण्ड की दृष्टि को छोड़कर, इनका मौलिक अभिप्राय यही है कि प्रत्येक शिक्षित और प्रबुद्ध मनुष्य का कर्तव्य है कि वह समष्टि-दृष्टि और सर्व-भूत-हित के आदर्शों के प्रकाश में ही अपने वैयक्तिक जीवन का निर्वाह करे। उसको ज्ञान और विद्या की उन्नति में (=ब्रह्मयज्ञ), विश्व को नियन्त्रण में रखने वाली दैवी शक्तियों में (=देवयज्ञ), अपने पितृ-पितामह आदि की परम्परा में (=पितृयज्ञ), प्राणियों के हित में (=भूतयज्ञ), और मानव के महत्त्व तथा मानव-कल्याण में (=मनुष्ययज्ञ) बराबर आस्था रखनी चाहिए।

स्पष्टतः अपने इस मौलिक अभिप्राय की दृष्टि से पञ्च-महायज्ञों का व्यक्ति और समाज दोनों के लिए बड़ा महत्त्व है। इस रूप में उनको सार्वकालिक तथा सार्वभौम महत्त्व भी प्राप्त हो जाता है।

ये आदर्श भारतीय संस्कृति को वैदिक धारा से ही प्राप्त हुए हैं, यह हमारे गर्व और गौरव का विषय है।

अग्नि-देवता और पौरोहित्य

वैदिक धारा की देन में अग्नि-देवता और पुरोहित-प्रथा को हम कभी नहीं भूल सकते। वैदिक कर्मकाण्ड का मौलिक आधार अग्नि देवता है[1] और उस कर्म-काण्ड का निरीक्षण अथवा संचालन पुरोहित के अधीन होता था।

१. तु० "अग्निर्वै देवानां मुखम्" (ऐतरेय-ब्राह्मण ७।१६)। "अग्निर्वै देवानां होता" (ऐतरेय-ब्राह्मण १।२८)। "अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य" (शतपथ-ब्रा० ३।१।३।२८)। "अग्नौ वै सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति" (शतपथ-ब्रा० ३।१।३।१)।

आज भी भारतीय संस्कृति की परम्परा में धार्मिक कर्मकाण्ड में अग्नि का प्रमुख स्थान है। वैदिक कर्मकाण्ड में तो अग्नि का सर्वोत्कृष्ट महत्त्व है ही; तान्त्रिक कर्मकाण्ड में भी अग्नि-होम उतना ही आवश्यक समझा जाने लगा है। साधारण से साधारण पूजा में भी 'अगियारी' का महत्त्व माना जाता है।

वैदिक काल में पुरोहित-प्रथा का बड़ा महत्त्व था। आज भी भारत के गाँव-गाँव में पुरोहित-प्रथा प्रचलित है। उसमें वैदिक समय की न तो वास्तविकता है, न उस समय-जैसा यजमान-पुरोहित का घनिष्ठ सस्नेह संबन्ध। तो भी वह प्रथा अभी तक किसी प्रकार जीवित है, यह वैदिक धारा की ही देन है।

पर्व-त्यौहार और देवता-गण

वर्तमान पौराणिक हिन्दू-धर्म के पर्व-त्यौहार और देवता-गण वैदिक धारा से बहुत-कुछ भिन्न हो गये हैं। तो भी होली, श्रावणी जैसे त्यौहारों और पर्वों का आधार स्पष्टतया वैदिक धारा में मिलता है। इसी प्रकार पौराणिक धर्म के शिव, विष्णु और सूर्य जैसे प्रधान देवताओं का आधार भी वैदिक धारा में मिलता है।

ऊपर जो कुछ कहा है उससे वर्तमान भारत के धार्मिक क्षेत्र में वैदिक धारा का प्रभाव स्पष्ट है। यह प्रभाव इतना गहरा और व्यापक है कि उसकी सीमा का निर्धारण करना भी अत्यन्त कठिन है। वर्तमान हिन्दू-धर्म प्राचीन वैदिक धर्म से बहुत अंशों में भिन्न है, यह हमने प्रथम परिच्छेद में दिखलाया है। ऐसा होने पर भी, उस पर वैदिक धारा के अत्यन्त व्यापक प्रभाव का पाया जाना कुछ कम आश्चर्य की बात नहीं है।

सामाजिक व्यवस्था

सामाजिक व्यवस्था के संबन्ध में वैदिक धारा के प्रभाव और देन को ठीक-ठीक समझने के लिए आवश्यक है कि पहले वर्तमान हिन्दू-समाज की व्यवस्था के स्वरूप को समझ लिया जाए।

वर्तमान हिन्दू-समाज की सबसे बड़ी विशेषता उसका जाति-भेद और वर्ण-भेद है। **जाति-भेद** से हमारा अभिप्राय हिन्दू-समाज की उन सैकड़ों विभिन्न जातियों या बिरादरियों से है जो विवाहादि के व्यवहार में एक-दूसरे से प्रायः बिलकुल असंबद्ध हैं। **वर्ण-भेद** से अभिप्राय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, न चार भेदों से है।

वर्ण-भेद और जाति-भेद का परस्पर क्या संबन्ध है, यह एक विचारणीय प्रश्न है।

साधारणतया लोगों की धारणा है कि वर्ण-भेद और जाति-भेद म कोई मौलिक भेद नहीं है। अधिक से अधिक वे जाति-भेद को वर्ण-भेद का ही अवान्तर भेद या उपभेद मान लेते हैं। इधर चिरकाल से ब्राह्मणादि वर्णों के लिए भी 'जाति' शब्द का व्यवहार चल पड़ा है। इस कारण से भी, वर्ण-भेद और जाति-भेद में कोई मौलिक भेद नहीं है, इस धारणा को पुष्टि मिली है।

पाश्चात्य विद्वानों का भी कुछ ऐसा ही विचार रहा है। उक्त दोनों प्रकार के भेदों के लिए वे 'कास्ट' (caste=जाति) शब्द का प्रयोग करते हैं। उनकी देखा-देखी हमारा भारतीय शिक्षित समाज भी जाति-भेद और वर्ण-भेद दोनों को सामान्य रूप से एक प्रकार का जाति-भेद ही समझने लगा है।

प्राचीन परम्परा के अनुगामी पण्डित लोगों की धारणा है कि मूल में चार वर्णों की ही सृष्टि हुई थी; कालान्तर में उन्हीं के भेदों और उपभेदों के कारण अनेकानेक जातियाँ बन गयीं। मनु ने कहा है—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः॥[1]

(मनुस्मृति १०।४)

अर्थात्, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीन वर्णों को द्विजाति समझना चाहिए। चौथा वर्ण शूद्र कहलाता है। उसकी गणना द्विजातियों में नहीं होती। इन चार से अतिरिक्त पञ्चम वर्ण नहीं है।

उक्त मत के मान लेने पर यह प्रश्न होता है कि ऐसी दशा में आजकल की अनेकानेक जातियाँ कहाँ से आ गयीं? इसका उत्तर यही दिया जाता है कि इन जातियों में से कुछ तो उपर्युक्त चार वर्णों की ही भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं, और कुछ की उत्पत्ति चारों वर्णों के परस्पर संकर से हुई हैं। मनुस्मृति आदि में इसी प्रकार से **मागध, वैदेह, आभीर, चण्डाल** आदि जातियों की उत्पत्ति बतलायी है।[2]

दूसरा मत आज-कल के अनेक सुधारकों का है। वे कहते हैं—प्रारम्भ में गुण-कर्मानुसार केवल चार वर्ण थे। पीछे से अनेक आर्थिक, सामाजिक तथा स्थानीय आदि कारणों से अनेकानेक जातियाँ बन गयीं।

---

१. तु० "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥" (यजु० ३१।११)

२. देखिए—मनुस्मृति का दसवाँ अध्याय।

उक्त दोनों मत प्रारम्भ में केवल वर्ण-भेद को मानकर, पीछे से वर्णों में से ही जातियों की उत्पत्ति मानते हैं।

पर हमारे मत में वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। हमारे विचार में सामान्य रूप से जाति-भेद का वर्ण-भेद से कोई मौलिक संबन्ध नहीं है। जाति-भेद का कारण वर्ण-संकरता बहुत ही कम, प्रायः नहीं, है। वास्तविक कारण आर्थिक, सामाजिक तथा स्थानीय हो सकते हैं। मनुष्य-जाति-भेद से भी उनका संबन्ध हो सकता है। बहुत अंशों में अनेकानेक जातियाँ वर्ण-विभाग से पूर्व की भी हो सकती हैं। इसलिए जातियों को वर्णों का विकृत या परिवर्त्तित रूप न मान कर, यही कहना ठीक प्रतीत होता है कि अनेकानेक कारणों से स्वतन्त्रतया सिद्ध और कई अंशों में वर्ण-व्यवस्था से पूर्ववर्त्ती जातियों पर बाहरी वर्ण-व्यवस्था का आरोप किया गया है।[१]

यह ध्यान देने योग्य बात है कि यजुः-संहिता में ही जहाँ एक ओर[२] ब्राह्मण आदि चार वर्णों की विराट् पुरुष से उत्पत्ति का वर्णन किया गया है, वहाँ दूसरी ओर[३] सूत, रथकार, मागध, चर्मकार, मणिकार, गोपाल, चांडाल आदि जातियों का भी वर्णन है।

'शूद्र' कहलाने वाली जातियों को देखिए। उनके लिए जाति-भेद तो वास्तविक है। वे 'शूद्र' हैं, इसको न तो वे कहती हैं, न जानती ही हैं। वास्तव में 'शूद्र' शब्द उनकी बोली या भाषा में कोई स्थान नहीं रखता। स्पष्टतया 'शूद्र' शब्द उनके ऊपर इसी तरह शास्त्रीय पण्डितों द्वारा 'लादा' जाता रहा है, जैसे 'नेटिव' शब्द का समारोप हमारे ऊपर विदेशी शासक किया करते थे। हिन्दू-समाज में अब भी अनेकानेक ऐसी जातियाँ हैं जिनके विषय में एक-मत से यह नहीं कहा जा सकता कि उनका किस वर्ण से संबन्ध है।

उपर्युक्त कारणों से हमें तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि हमारे समाज में वर्ण-भेद और जाति-भेद का जो द्वन्द्वात्मक द्वैविध्य दीखता है उसको हम वैदिक और वैदिकेतर धाराओं के साहाय्य के बिना नहीं समझ सकते। जैसा प्रथम परिच्छेद में हम कह चुके हैं, वर्तमान हिन्दू-समाज की उक्त दोनों प्रवृत्तियों में से वर्ण-भेद का संबन्ध स्पष्टतया वैदिक परम्परा से है; परन्तु जाति-भेद की

---

१. इस विषय के विशेष विचार के लिए इसी ग्रन्थ के द्वितीय परिशिष्ट के (च) अंश को देखिए।

२. देखिए—यजु० ३१।११।

३. देखिए—यजु० ३०।५, ६, ७, ११, १५, २१।

मौलिक प्रवृत्ति को समझने के लिए हम वैदिकेतर या प्राग्वैदिक परम्परा का ही आश्रय लेना पड़ेगा।

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था

वर्तमान हिन्दू-समाज में पाये जाने वाले जाति-भेद का मौलिक कारण जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि उसमें चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के रूप में पाये जाने वाले वर्ण-भेद का संबन्ध परम्परया वैदिक धारा से ही है।

पिछले परिच्छेदों में वर्ण-विभाग की प्रवृत्ति के प्रारम्भ के विषय में और चारों वर्णों में परस्पर घनिष्ठ अङ्गाङ्गि-भाव के आदर्श-संबन्ध के विषय में हम कह चुके हैं।

हमने यह भी दिखलाया है कि वैदिक धारा की तृतीय अवस्था में, जिसको हमने वैदिक धारा के उत्कर्ष का मध्याह्न-काल कहा है, तात्कालिक परिस्थितियों के कारण रूढि-मूलक वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भ हो गया था।

धीरे-धीरे राजनीतिक स्थिति के शान्त और स्थिर हो जाने पर, और साथ ही वैदिक कर्म-काण्ड के अति जटिल हो जाने पर, रूढि-मूलक वर्ण-विभाग की प्रवृत्ति को अधिकाधिक प्रोत्साहन और अनुकूल वातावरण मिला।

ऐसी परिस्थिति में वर्ण-विभाग की प्रवृत्ति में क्रमशः अधिकाधिक रूढि-मूलकता का आना, न केवल अपने हस्तगत स्वार्थों और महत्त्व की रक्षा की सहज प्रवृत्ति के कारण, अपितु तात्कालिक समाज के लिए अनेक प्रकार की सुविधा के कारण भी, बिलकुल स्वाभाविक था।

उस समय की परिस्थिति में उस वर्ण-व्यवस्था से अनेक लाभ भी थे; जैसे—

प्रथम तो, राष्ट्र में अनेकानेक वर्गों या जाति-सदृश भेदों में बँटी हुई जनता को अङ्गाङ्गि-भावना से युक्त **केवल** चार वर्णों में वर्गीकृत करना;

दूसरे, उक्त वर्ण-व्यवस्था के प्रथमतः आजीविका-मूलक होने से, जनता में आर्थिक संघर्ष और प्रतिस्पर्धा को अवसर न देना;

तीसरे, राष्ट्र की समुन्नति और रक्षा के लिए आवश्यक अङ्गों में विशेषज्ञता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना, और तदनुकूल वातावरण को उत्पन्न करना।

किसी राष्ट्र की सर्वतोमुखी उन्नति के लिए उक्त बातों का कितना अधिक महत्त्व है, यह कहने की बात नहीं है। निम्न-निर्दिष्ट वैदिक प्रार्थना में यही राष्ट्रीय भावना प्रतिध्वनित हो रही है :—

> **आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्।**
> **आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी**
> **महारथो जायताम्।**

दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा
जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य
यजमानस्य वीरो जायताम् ।
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु ।
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् ।
योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ (यजु० २२।२२)

अर्थात्,

भगवन् हमारे राष्ट्र में—
वेदाध्ययन-शील ब्राह्मण उत्पन्न हों !
शूर, शस्त्रास्त्र-विद्या में दक्ष, शत्रु-संहारक
और महारथी क्षत्रिय अधिकाधिक उत्पन्न हों !
दुग्ध देने वाली गौएँ, भारवाही पुष्ट बैल
और शीघ्रगामी घोड़े पाये जाएँ !
सर्व-गुण-संपन्न सुशील सुन्दर स्त्रियाँ हों !
यजमानों के पुत्र विजय-शील, युद्धार्थ सन्नद्ध,
सभ्य, समर्थ और वीर हों !
हमारी आवश्यकता के अनुसार मेह बरसा करें !
अन्न की खेती से हमें यथासमय प्रभूत अन्न प्राप्त हो !
हमारा योग-क्षेम हो !

वर्ण-व्यवस्था आगे चलकर कितनी ही जीर्ण-शीर्ण अथवा विकृत क्यों न हो गयी हो, इस समय तक वह अपने स्वर्ण-युग में थी। तभी तो उस युग में चारों वर्णों में परस्पर वह ममत्व-भावना विद्यमान थी जिसका हम पिछले परिच्छेद में उल्लेख कर चुके हैं। उसी युग में यजमान-पुरोहित का अथवा गुरु-अन्तेवासी का वह अलौकिक मधुर स्नेह-संबन्ध संभव था, जिसका वर्णन प्राचीन साहित्य में अनेकत्र मिलता है, पर आज के कृत्रिम संघर्ष के वातावरण में जिस की कल्पना भी करना हमारे लिए कठिन है।

उसी समय के वर्ण-व्यवस्था-विषयक आदर्श-वाद को लेकर तत्तद् वर्णों के विषय में महान् उदात्त विचार और प्रशंसा-वाद प्राचीन साहित्य में पाये जाते हैं।[१]

---

१. देखिए—"एतस्मिन्नार्यावर्ते निवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारंगतास्तत्र भवन्तः शिष्टाः" (महाभाष्य ६।३।१०९)। तथा, "यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्। सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥" (गीता २।३२)।

पर "प्रभुता पाय काहि मद नाहीं" इस उक्ति के अनुसार, समाज में विशेष महत्त्व और गौरव को पाने वाले वर्ग बराबर कर्तव्य-भावना और न्याय्य-बुद्धि से ही काम करते रहें, यह नहीं हो सकता। इसलिए उक्त स्थिति आगे चलकर बिगड़े बिना नहीं रह सकती थी।

अपनी प्रारम्भिक अवस्था में वर्ण-व्यवस्था में काफ़ी लचीलापन था। एक वर्ण से दूसरे वर्ण में आना-जाना असंभव नहीं था।[1] अनिर्ज्ञात-पितृक सत्यकाम[2] और सत्यवती-सुत कृष्णद्वैपायन व्यास को भी उन दिनों समाज में अत्यन्त संमानित पद मिल सकता था। वास्तव में इसी लचीलेपन में उस समय की वर्ण-व्यवस्था की वास्तविकता और दृढ़ता निहित थी।

परन्तु धीरे-धीरे वह लचीलापन नष्ट होने लगा और वर्ण-व्यवस्था में अधिकाधिक कृत्रिमता और कट्टरपना आने लगा।

प्रायः यही समय था जब कि 'वर्ण' के स्थान में 'जाति' शब्द का व्यवहार प्रारम्भ हुआ होगा। हमें अभी तक वैदिक संहिताओं में 'जाति' शब्द नहीं मिला है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी शतपथ-ब्राह्मण (१।८।३।६) के एक संदिग्ध स्थल को छोड़कर 'वर्ण' के अर्थ में प्रयुक्त 'जाति' शब्द हमको नहीं मिला है।

वैदिक धारा के द्वारा में वर्ण-व्यवस्था की उक्त कृत्रिमता का कहाँ तक हाथ था, इसका विचार हम अगले परिच्छेद में करेंगे। यहाँ तो हमें यही दिखलाना है कि हमारे समाज में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था, चाहे वह अच्छी है या दोष-पूर्ण, परम्परया बहुत-कुछ वैदिक धारा की ही देन है।

ऐतिहासिक दृष्टि से हम उसकी नितरां उपेक्षा नहीं कर सकते। उसके साथ आदर्शों और इतिहास का सम्बन्ध रहा है। भारतवर्ष के सतत-परिवर्तन-शील

---

१. इतिहास-पुराण में सैकड़ों उदाहरण वर्ण-परिवर्तन के दिये हुए मिलते हैं। गोत्रों तक ने अपना वर्ण बदल डाला। इस सम्बन्ध में भागवत (९।२,३,२१); महाभारत, आदिपर्व (१३७।१४); हरिवंशपुराण (११।६५९); महाभारत, वनपर्व (२१२।११-१२); महाभारत, शल्यपर्व (४०।१-११); आदि आदि देखिए।

२. देखिए—"सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयांचक्रे ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि किंगोत्रोऽहमस्मीति ॥१॥ सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि। बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि......" (छान्दोग्योपनिषद् ४।४।१-२)।

लम्बे इतिहास में उसने अच्छा-बुरा दोनों प्रकार का प्रभाव दिखलाया है। उसके प्रारम्भ, स्वरूप और क्रमिक विकास को वैदिक धारा के अध्ययन के बिना हम नहीं समझ सकते।

> **निश्चय ही घोर कृत्रिमता के अपने वर्तमान रूप में वह आगे नहीं चल सकती। किसी व्यवस्था के रूप में वह पहले ही मर चुकी है। उसमें न तो अब कोई वास्तविकता है, न कोई आदर्शवाद। आज उसके रूप में यदि एक ओर मिथ्या अभिमान है, तो दूसरी ओर घोर अपमान और आत्म-ग्लानि! जीवन के संघर्ष में उसका कोई वास्तविक योग-दान भी नहीं है।**

हमारा कर्तव्य है कि राष्ट्र के पुनर्निर्माण में पूर्वोक्त वैदिक आदर्शों से प्रेरित **वास्तविक** वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त से काम लें, जिससे देश के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्वाभाविक उदात्त प्रवृत्तियों के आधार पर पूर्ण विकास का अवसर प्राप्त हो सके। यह तो प्रत्येक अवस्था में परम आवश्यक है कि वर्तमान कृत्रिम वर्ण-व्यवस्था (जो वास्तव में अव्यवस्था ही है) के नाम पर न तो किसी के विकास में बाधा डाली जाए, न मिथ्या अभिमान के कारण किसी को तुच्छ समझा जाए, और न उसके कारण हमारे चरित्र में **"अन्तः-शाक्ता बहिःशैवाः"** के अनुसार किसी प्रकार का मानसिक पाखण्ड, छद्म या द्वैधी-भाव हो।

ऊपर हमने 'वैदिक आदर्शों से प्रेरित वास्तविक वर्ण-व्यवस्था' का उल्लेख किया है। इसका अभिप्राय यही है कि उसका मौलिक आधार **मानवता के सम्मान और गौरव की भावना** पर होना चाहिए। मनुष्य का स्थान दृश्य जगत् के समस्त प्राणियों से ऊँचा है। वैदिक मन्त्रों आदि में अनेकत्र मानवता के गौरव की चर्चा है।[1] वेद में वर्णों के स्वरूप को विराट् पुरुष के अङ्गों से आलंकारिक उत्पत्ति के रूप में बतलाया गया है, यह हम ऊपर दिखला चुके हैं। उस विराट् पुरुष की प्रति-मूर्त्ति मानव के रूप में ही बतलायी जा सकती है। इसलिए मनुष्य मनुष्य है, इसी में उसका अद्वितीय महत्त्व निहित है। इसीलिए वास्तविक वर्ण-व्यवस्था का तात्पर्य मानवता के गौरव की भावना को पुष्ट करने में ही हो सकता है, न कि उसके प्रति किसी प्रकार की हीन-भावना के प्रसार में।

---

१. देखिए—**"अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्"** (अथर्व० १२।१।५४)। **"यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः"** (अथर्व० ६।५८।३)। **"पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्"** (शतपथ-ब्रा० २।५।१।१)।

उपर्युक्त दृष्टि से वास्तविक वर्ण-व्यवस्था में नीच-ऊँच की भावना के लिए कोई स्थान हो ही नहीं सकता। पर चिरकाल से हमारी कृत्रिम वर्ण-व्यवस्था ने इसी भावना को पुष्ट किया है और मानवता के गौरव की भावना के कुचलने में ही अपनी कृतकृत्यता दिखलायी है!

वैदिक (अथवा वैज्ञानिक) वर्ण-व्यवस्था मानवता के संमान और उसके अबाधित विकास के सिद्धान्त पर आश्रित है। उसकी दृष्टि में 'ब्राह्मण', 'क्षत्रिय', 'वैश्य' और 'शूद्र' इन रूढ अतएव निर्जीव और निष्प्राण **शब्दों का** कोई विशेष महत्त्व नहीं है। महत्त्व है केवल उनके वास्तविक अभिप्रायों का और मौलिक आदर्शों का।

इसी अर्थ में वर्ण-व्यवस्था का सिद्धान्त वैदिक धारा की वास्तविक देन कही जा सकती है।

चातुराश्रम्य-व्यवस्था

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के समान ही चातुराश्रम्य-व्यवस्था का भी प्रारम्भ वैदिक धारा से हुआ है, ऐसा कथन प्रायः हमारे प्राचीन धर्मशास्त्र आदि के साहित्य में मिलता है। इस विषय में विशेष विचार हम **औपनिषद धारा** के प्रसंग में करेंगे। पिछले परिच्छेद में हमने कहा है कि कम से कम मन्त्र-काल में चारों आश्रमों की व्यवस्था का प्रारम्भ नहीं हुआ था। उस प्रसङ्ग में हमने **ब्रह्मचर्य** और **गृहस्थ** इन दो आश्रमों के संबन्ध में वेद-मन्त्रों के उत्कृष्ट और भव्य विचारों को भी दिखलाया है।

वास्तव में उक्त दोनों आश्रमों के उत्कृष्ट आदर्श-वाद को हम वैदिक धारा की बहु-मूल्य और अद्भुत देन कह सकते हैं।

ब्रह्मचर्य-आश्रम

ब्रह्मचर्य की महिमा का बड़ा हृदय-स्पर्शी वर्णन **अथर्ववेद** के एक पूरे सूक्त (११।५) में दिया गया है, यह हम पिछले परिच्छेद में बतला चुके हैं।

ब्रह्मचर्य का प्रारम्भ उपनयन तथा वेदारम्भ संस्कारों से होता था। उपनयन के समय बालक प्रतिज्ञा करता है:—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयम्।
तेनर्ध्यासम्। इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि॥ (मन्त्र-ब्राह्मण १।६।९)

अर्थात्, हे व्रतपते अग्नि-देव! मैं अनृत अथवा अज्ञान से सत्य अथवा प्रकाश की ओर चलना चाहता हूँ। आज से यही मेरा व्रत होगा। मैं इस व्रत को

पूर्णतया पालन करता हुआ उन्नति के मार्ग पर बराबर अग्रसर होता रहूँ, यही मेरी प्रार्थना है। आप मुझे इस व्रत पर बराबर आरूढ़ रहने का सामर्थ्य प्रदान करें।

भिन्न-भिन्न दैवी शक्तियों से—वायु, सूर्य और चन्द्रमा से—और अन्त में 'व्रतानां व्रतपति' परमात्मा से वह यही प्रार्थना करता है।

उसी अवसर पर आचार्य उस बालक को अपने संरक्षण में लेता हुआ कहता है:—

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु ।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ।।
(पारस्कर-गृह्यसूत्र २।२)

अर्थात्,

मेरे व्रत में तुम्हारी आस्था हो!
तुम्हारे विचार मेरे विचार के अनुकूल हों!
मेरे कथन को तुम एक-मन होकर सुनो!
विद्याओं के प्रेरक भगवान् तुमको मुझमें अनुरक्त करें!

अन्त में आचार्यादि सब मिलकर बालक को आशीर्वाद देते हैं:—

त्वं जीव शरदः शतं वर्धमानः ।
आयुष्मान् तेजस्वी वर्चस्वी भूयाः !

अर्थात्, तुम बराबर उन्नति के मार्ग पर चलते हुए सौ वर्ष की आयु को प्राप्त करो। तुम तेजस् और वर्चस् को प्राप्त करो और पूर्ण आयु को प्राप्त होओ!

वेदारम्भ के अवसर पर आचार्य ब्रह्मचारी को जो उपदेश देता है उसका कुछ अंश यह है:—

कर्म कुरु। दिवा मा स्वाप्सीः। आचार्याधीनो भवान्यत्राधर्माचरणात्। नित्यं युक्ताहारविहारवान् विद्योपार्जने च यत्नवान् भव।

अर्थात्, सदा कर्मशील बनो। दिन में न सोओ। अधर्माचरण को छोड़कर आचार्य के अधीन होकर रहो। आहार-विहार में यथोचित नियमों का पालन करते हुए, सदा विद्योपार्जन में यत्नशील रहो।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य-आश्रम में श्रम और तपस्या का जीवन व्यतीत करते हुए, और आचार्य के स्नेह-मूलक अनुशासन में रहते हुए, दत्तचित्त होकर, विद्यो-

पार्जन करने का आदर्श रखा गया था ।[1] गुरु-शिष्य का संबन्ध पिता-पुत्र के संबन्ध से भी कहीं अधिक घनिष्ठ और स्नेहमय होता था। सहस्रों वर्षों तक भारतवर्ष में वैदिक धारा के इस महान् आदर्श का अनुसरण किया जाता रहा। उसी के परिणाम-स्वरूप भारतवर्ष के अमूल्य और अद्वितीय प्राचीन महान् वाङ्मय की सृष्टि हुई और वह बहुत-कुछ आज भी सुरक्षित है।

देश के सामने आजकल जो अत्यन्त कठिन शिक्षा-समस्या घोर-रूप में उपस्थित है उसका एकमात्र समाधान, हमारी समझ में, वैदिक धारा के ब्रह्मचर्य-आश्रम के श्रम-तपः-प्रधान आदर्श में निहित है। वह आदर्श आज की परिस्थिति में किस रूप में कार्यान्वित हो सकता है, यह शिक्षा-शास्त्र के विशेषज्ञों के विचार का विषय है।

गृहस्थ-आश्रम

गृहस्थ-आश्रम के विषय में भी वैदिक धारा के संदेश या देन के रूप में, जो कुछ ऊपर कहा है उसके अतिरिक्त, एक-दो और बातों की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। वे ये हैं—

इधर चिरकाल से हमारा गृहस्थाश्रम और वैवाहिक जीवन आदर्श-हीन-सा रहा है। स्त्री-जाति का पद भी बराबर गिरता गया है। हमारे दार्शनिक ग्रन्थों तक में स्त्री को घर की अन्य उपभोग की सामग्री की समानता दी गयी है।[2] स्त्री के विषय में अनेक प्रकार के दुर्वचनों से हमारे इधर के ग्रन्थ भर-पूर हैं।

इस विषय में यह स्पष्ट कर देने की आवश्यकता है कि वैदिक धारा का संदेश इस संबन्ध में बिल्कुल इसके विपरीत है। पिछले परिच्छेद में दिखाये गये विवाह-संबन्धी मन्त्रों से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है। इसी संबन्ध में निम्न-लिखित वचनों को भी देखिए:—

जायेदस्तम्। (ऋग्० ३।५३।४)

अर्थात्, पत्नी ही घर को बनाती है, या उसका सर्वस्व होती है।

---

१. तु० "य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन्। तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह ।।" (निरुक्त २।४)

२. देखिए—"मानसस्यापि संतापस्य प्रतीकाराय मनोज्ञस्त्रीपानभोजनविलेपन-वस्त्रालंकारादिविषयसंप्राप्तिलक्षणः सुकरः।" (सांख्यतत्त्वकौमुदी १)

अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया।...
यावज्जायां न विन्दते...असर्वो हि तावद्भवति।

(शतपथब्राह्मण ५।२।१।१०)

अर्थात्, स्त्री पुरुष का अर्द्ध-भाग होती है। इस लिए जब तक पुरुष स्त्री को नहीं पाता है, तब तक उसमें पूर्णता नहीं आती।

पुरुषो जायां वित्त्वा कृत्स्नतरमिवात्मानं मन्यते।

(ऐतरेयारण्यक १।३।५)

अर्थात्, स्त्री के बिना पुरुष के व्यक्तित्व में अधूरापन रहता है। पत्नी को पाकर ही उसमें पूर्णता आती है।

वैदिक कर्मकाण्ड के संपादन के लिए पति-पत्नी दोनों का साथ होना आवश्यक समझा जाता था। वास्तव में 'पत्नी' शब्द का अर्थ ही यह है कि जो पति के साथ में यज्ञों का संपादन करे।[1]

संस्कृत भाषा का नियम है कि कई शब्दों के द्वन्द्व समास में अभ्यर्हित (जो अधिक मान्य हो) वाची शब्द पहले रहता है।[2] "माता-पितरौ" में 'माता' शब्द इसीलिए पहले आता है। यही कारण है जिससे आजकल भी हम 'राधाकृष्ण', 'सीताराम', 'गौरीशंकर' आदि समस्त शब्दों में 'राधा' आदि शब्दों को पहले रखते हैं।

अभिप्राय यह है कि वैदिक धारा के अनुसार स्त्री का पद एक प्रकार से पुरुष से भी ऊंचा माना जाता था।[3] वह भावना अब भी अनेक रूपों में हमारे साहित्य और भाषा में सुरक्षित है।

---

१. देखिए—"पत्युर्नो यज्ञसंयोगे" (पाणिनि-सूत्र ४।१।३३)।

२. देखिए—"अभ्यर्हितं च पूर्वं निपततीति वक्तव्यम्। मातापितरौ।" (पाणिनि-सूत्र २।२।३४ पर वार्त्तिक)।

३. वैदिक-काल में स्त्री का पद आज-कल की अपेक्षा कहीं ऊँचा था, इसके प्रमाण पिछले काल के धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में भी मिलते हैं। उदाहरणार्थ, स्मृतिचन्द्रिका, संस्कारकाण्ड, पृष्ठ ६२ पर यम के नाम से उद्धृत, निम्न-श्लोक को देखिए—

"पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते। अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा॥"

स्त्री जाति के विषय में वैदिक धारा की इस भावना को पुनर्जीवित करने की आवश्यकता है।

पिछले परिच्छेद में वैवाहिक मन्त्रों के आधार पर हम दिखला चुके हैं कि गृहस्थाश्रम का बड़ा भारी उत्तरदायित्व है। साथ ही मन्त्रों में यह प्रार्थना है कि पति-पत्नी को **जीवन-पर्यन्त** साथ रहकर गृहस्थ-धर्म का पालन करना चाहिए।

जहाँ तक वैदिक कर्मकाण्ड का, विवाह-संस्कार का, और वैदिक संहिताओं का संबन्ध है, यह स्पष्ट है कि वैदिक-धारा का सन्देश गृहस्थाश्रम तक समाप्त हो जाता है। उसमें वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों के लिए कोई स्थान नहीं है।[1] इन दोनों आश्रमों की प्रवृत्ति औपनिषद धारा के प्रभाव-वश हुई होगी, जैसा हम उस धारा के प्रसङ्ग में दिखलाएँगे।

इसमें सन्देह नहीं कि गृहस्थ-आश्रम में रहते हुए अपने कर्तव्यों के करने में मनुष्य को त्याग, तपस्या, श्रम आदि के अत्यन्त कठिन व्रतों का पालन करना पड़ता है। अनेक प्रकार से राष्ट्र और समाज की उन्नति और रक्षा में सहयोग देना पड़ता है। महान् से महान् नैतिक आदर्शों के अनुसरण का अवसर मिलता है। इसलिए वैदिक धारा के अनुसार **आजीवन साथ में रहकर** गृहस्थ-धर्म के महान् उत्तरदायित्व का निर्वाह करना ही पति-पत्नी का महान् कर्तव्य है।

यह ध्यान में रखने की बात है कि वैदिक धारा के प्रवर्तक ऋषिलोग, जिनको वेद-मन्त्रों में '**पथिकृद्**' और '**लोककृद्**' कहा गया है, सब के सब गृहस्थाश्रमी होते थे। ऋषियों के दाम्पत्य की कथाओं से पुराण भरे पड़े हैं। वैदिक धारा के काल में किसी संन्यासाश्रमी ऋषि की कथा हमको विदित नहीं है।

---

१. इस सम्बन्ध में इन प्रमाणों को भी देखिए—"**ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या अप्रजननत्वादितरेषाम्...**" (बौधायनधर्मसूत्र। २।६।११।२९—३०)। "**एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रम्। जरया वा ह्येवास्मान् मुच्यन्ते मृत्युना वा।**" (शतपथब्रा० १२।४।१।१)। न्यायसूत्र के ४।१।५९ से ४।१।६२ तक सूत्रों में और उनके वात्स्यायन-भाष्य में भी इस **जरामर्यवाद** पर विचार किया गया है। मुख्यतः औपनिषद धारा के प्रमाणों के आधार पर ही वहाँ जरामर्यवाद तथा ऐकाश्रम्यवाद का खण्डन करके चातुराश्रम्य-सिद्धान्त की स्थापना की है। उससे भी हमारे इस प्रतिपादन की, कि मूल वैदिक धारा में वानप्रस्थ तथा संन्यास का विधान नहीं था, पुष्टि ही होती है।

एक प्रकार से भगवद्गीता का भी यही संदेश है।[१]

अपने कर्तव्यों से घबड़ाकर, समाज को हेय समझकर, केवल अपने व्यक्तिगत संभावित कल्याण की भावना से संन्यास-आश्रम-ग्रहण प्रायेण अकर्मण्यता में ही पर्यवसित होता है। औपनिषद धारा के प्रसङ्ग में इस प्रश्न पर हम पुनः विचार करेंगे।

गृहस्थाश्रम की उपर्युक्त उत्तरदायित्व-पूर्ण भावना भी वैदिक धारा की एक महान् देन है और हमारे आदर्श-हीन वर्तमान गृहस्थ-जीवन के लिए एक पवित्र संदेश है।

साहित्यिक देन

ऊपर विभिन्न क्षेत्रों में वैदिक धारा के प्रभाव और देन का हमने वर्णन किया है। साहित्यिक दृष्टि से वैदिक धारा की देन का महत्त्व उनमें से किसी से कम नहीं है।

पाँचवें परिच्छेद में हमने वैदिक-धारा के वाङ्मय की रूपरेखा को दिखलाया है। उस वाङ्मय में से यदि हम केवल ऋग्वेद को ही ले लें, तो उसका भी महत्त्व संसार के किसी भी प्राचीन स्मारक से कहीं अधिक है; न केवल अपनी अत्यन्त प्राचीनता के ही कारण, न केवल अपने साहित्यिक या भाषा-विज्ञान-संबन्धी महत्त्व के ही कारण, अपितु मनुष्य-जीवन में नवीन प्राणप्रद और आशामय स्फूर्ति को देने वाले अपने सार्वभौम और सार्वकालिक संदेश के कारण भी। भारतवर्ष के लिए तो उस समस्त वाङ्मय का अनेक दृष्टियों से बड़ा महत्त्व है। उसी वाङ्मय में पाणिनि मुनि की अष्टाध्यायी जैसे अद्भुत ग्रन्थ-रत्न भी सम्मिलित हैं, जिनकी अपने-अपने क्षेत्र में उत्कृष्टता विदेशी विद्वानों को आज भी आश्चर्यान्वित करती है।

परन्तु वैदिक धारा की साहित्यिक देन और प्रभाव का क्षेत्र उसके अपने वाङ्मय से ही परिमित नहीं है। वैदिक वाङ्मय के अतिरिक्त भी, संस्कृत साहित्य का जो महान् विस्तार हुआ है उस पर भी, साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप से, वेदों का तथा वैदिक धारा का महान् प्रभाव पड़ा है। उदाहरणार्थ,

---

१. देखिए—"काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।... यज्ञदानतपः-कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च। कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥" (गीता १८।२, ५-६)

आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व-वेद और अर्थशास्त्र, ये चार उपवेद माने जाते हैं। 'उपवेद' शब्द से ही इनका वैदिक आधार या संबन्ध स्पष्ट है। प्राचीन परम्परा के अनुसार भी इनका क्रम से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद से संबन्ध माना जाता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र का निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध है—

> व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः ।
> त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ॥
> (अर्थशास्त्र, विद्यासमुद्देश)

अर्थात्, आर्य-मर्यादाएँ जिसमें व्यवस्थित हैं, वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म जिसमें पाये जाते हैं, जो वेदों से रक्षित है, ऐसा लोक प्रसन्न ही रहता है, दुःख को नहीं पाता।

उपनिषदों के जगत्प्रसिद्ध महान् साहित्य का वैदिक धारा से घनिष्ठ संबन्ध है। प्राचीन परम्परा तो उसको वेदों में ही सम्मिलित मानती है।

दार्शनिक साहित्य में 'आस्तिक' कहे जाने वाले छहों दर्शनों का वैदिक-धारा से संबन्ध इसी से स्पष्ट है कि वे प्रायः वैदिक परम्परा को पुष्ट करने के लिए ही बने हैं, या, कम से कम, वेदों का प्रामाण्य मानकर ही चलते हैं।

पुराण और धर्मशास्त्र का विस्तृत साहित्य भी, चाहे उसका प्रतिपाद्य कुछ भी हो, बराबर वेदों की महिमा के गीत गाता है। यही बात रामायण और महाभारत के संबन्ध में भी कही जा सकती है। भागवत का निर्माण वेदों और उपनिषदों के सार से हुआ है, इस धारणा का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं।

नाट्य-शास्त्र का आपाततः वेदों से कोई संबन्ध नहीं दीखता। तो भी उसके ग्रन्थकार का कहना है—

> नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसंभवम् ।
> जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च ।
> यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥
> (नाट्यशास्त्र १।१५, १६)

अर्थात्, पाठ्य को ऋग्वेद से, गीत को सामवेद से, अभिनयों को यजुर्वेद से और रसों को अथर्ववेद से लेकर नाट्य-वेद की रचना की गयी है।

इसी प्रकार, तन्त्रशास्त्र का बहुत-कुछ आधार अथर्ववेद में है, ऐसा कहा जाता है।

साम्प्रदायिक साहित्य में भी बहुत अंश तक वेदों के प्रामाण्य को माना जाता है। उनके शास्त्रार्थों का विषय प्रायः यह रहता है कि उनके अपने-अपने सिद्धान्त वेदानुकूल हैं या नहीं।

भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में जो धार्मिक, साम्प्रदायिक या दार्शनिक साहित्य लिखा गया है उसका भी, इसी प्रकार, वैदिक धारा से किसी-न-किसी रूप में संबन्ध दिखलाया जा सकता है।

तात्पर्य यह है कि अन्यान्य क्षेत्रों के समान, साहित्यिक क्षेत्र में भी वैदिक धारा का व्यापक प्रभाव दिखलाया जा सकता है!

उपसंहार

जो कुछ ऊपर कहा है उससे स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति के विकास में अपनी अद्भुत देन के कारण वैदिक धारा हम भारतीयों के लिए, सच्चे अर्थों में, सर्वदैव सदभिमान की वस्तु रहेगी। भारतीय संस्कृति की दृष्टि से वेद ऐसे प्रकाश-स्तम्भ हैं जिनकी ज्योति सदा ही हमारे जीवन के लिए मार्ग-प्रदर्शन करती रहेगी।[1]

—:०:—

१. तु० "स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।" (अथर्व० १९।७१।१); तथा "मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्। प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे ॥" (अथर्व० ६।१०८।२)।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

वैदिक धारा का ह्रास

पिछले परिच्छेदों में वैदिक धारा का जो वर्णन दिया गया है उससे भारतीय संस्कृति के विकास में वैदिक धारा का अद्वितीय महत्त्व स्पष्ट है। न केवल जीवन में सुखद, स्वस्थ, भव्य और स्वर्गीय भावना के माधुर्य-रस का संचार करने वाली अपनी अद्भुत दार्शनिक दृष्टि के कारण ही, न केवल अपनी उदात्त नैतिक भावनाओं के कारण ही, न केवल मनुष्य-जीवन के कर्तव्यों के विषय में अपनी व्यापक दृष्टि के कारण ही, अपितु भारतीय संस्कृति के विकास में अपने बहुमुखी, व्यापक और शाश्वतिक प्रभाव के कारण भी, वैदिक धारा, निस्सन्देह, सदा के लिए, हमको ही नहीं, किन्तु समस्त मानव-जाति को भी, प्रेरणा और प्रकाश देनेवाली रहेगी।

यह आश्चर्य और खेद का भी विषय है कि उक्त उत्कृष्ट गुणों से युक्त होने पर भी, वैदिक धारा आज चिरकाल से **एक जीवित परम्परा के रूप में** हमारे देश से विलुप्त-सी हो गयी है।

भारतीय संस्कृति की प्रगति और विकास पर विचार करते हुए ऐसा स्पष्ट दिखायी देता है कि वैदिक धारा, जिससे **व्यक्त रूप में** भारतीय संस्कृति का प्रारंभ होता है, आगे चलकर, विनशन-प्रदेश में ऐतिहासिक सरस्वती नदी की तरह,[1] प्रायेण लुप्त हो जाती है और उसके स्थान में अन्य धाराएँ बहती हुई दीखती हैं।

भारतीय संस्कृति की प्रगति और विकास को एक अविच्छिन्न धारा-वाहिक जीवित परम्परा के रूप में समझने के लिए, और साथ ही वैदिक धारा के अनन्तर आनेवाली धाराओं के उदय को, तात्कालिक परिस्थिति की

---

१. सातवें परिच्छेद का प्रारम्भ देखिए।

आवश्यकता के रूप में, बुद्धि-गत करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उन कारणों का पता लगाएँ जिनसे वैदिक धारा का अपना प्रवाह मन्द पड़ गया और भारतीय संस्कृति के प्रवाह में एक नया वेग लाने के लिए नई धारा या धाराओं के योग-दान की आवश्यकता हुई।

इस परिच्छेद में हम मुख्यतः यही दिखलाना चाहते हैं।

वैदिक धारा के ह्रास के कारण

जैसा हम पहले कह चुके हैं, किसी ऐतिहासिक विकास या ह्रास के अध्ययन में हमें प्रथमतः उस के अपने अन्दर के कारणों को ही ढूँढना चाहिए। इसलिए स्वभावतः वैदिक धारा के ह्रास और मन्दता के कारणों को हमें वैदिक धारा में ही देखने का यत्न करना चाहिए।

याज्ञिक कर्मकाण्ड का मौलिक रूप

सातवें परिच्छेद में वैदिक धारा की तीन अवस्थाओं को दिखलाते हुए हमने कहा है कि वैदिक धारा के द्वितीय काल में, जातीय जीवन को सुव्यवस्थित और सुसंगठित करने की प्रवृत्ति के आधार पर, याज्ञिक कर्मकाण्ड का, एक विशिष्ट कर्मकाण्ड के रूप में, प्रारम्भ हुआ था। वैदिक धारा के तृतीय काल में उसी वैदिक (या श्रौत) कर्मकाण्ड को व्यवस्थित किया गया।

वैदिक धारा के उत्कर्ष के दिनों में याज्ञिक कर्मकाण्ड ही उसका महान् प्रतीक माना जाता था।

याज्ञिक प्रथा का विकास आर्य-जनता की अन्तरात्मा से हुआ था। उस समय उसमें स्वाभाविकता और सार्थकता विद्यमान थी। श्रद्धा, भक्ति और उल्लास की भावनाओं का मूर्तीकरण ही उसका आधार था।

अपने उत्कर्ष के दिनों में भी वह समस्त आर्यजाति के जीवन को प्रतिबिम्बित करती थी।

उसकी सारी व्यवस्था में ब्रह्म, क्षत्र और विश् का (पीछे से ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों का) पदे-पदे सहयोग स्पष्टतया दिखायी देता है; यहाँ तक कि याज्ञिक मन्त्रों के छन्दों का और याज्ञिक देवताओं का भी उक्त तीनों वर्णों के आधार पर वर्गीकरण किया गया था। उदाहरणार्थ, गायत्री, त्रिष्टुभ् और जगती इन वैदिक छन्दों का संबन्ध क्रमशः ब्रह्म, क्षत्र और विश् से समझा जाता था।[1] इसी

---

१. तु० "गायत्रो वै ब्राह्मणः", "त्रैष्टुभो वै राजन्यः", "जागतो वै वैश्यः" (ऐतरेय-ब्राह्मण १।२८)।

तरह, अग्नि, इन्द्र और मरुतों का (तथा अन्यान्य देवताओं का भी) संबन्ध क्रमशः उक्त तीनों वर्णों से माना जाता था।[1]

इसका अर्थ कमसे कम यह तो है ही कि याज्ञिक कर्म-काण्ड में समस्त आर्य-जनता का ममत्व और सहयोग था। उस समय के यज्ञों को केवल ब्राह्मणों की देव-पूजा ही न समझना चाहिए। उनमें आर्य-जनता के सब वर्गों के लिए आकर्षण, रञ्जन और मनोविनोद का संभार रहता था। उदाहरणार्थ, वाजपेय-याग में मध्याह्न में 'रथों की दौड़' (=आजि-धावनम्)[2] नामक विचित्र दृश्य उपस्थित होता था, जो इस यज्ञ का प्रधान अङ्ग माना जाता था। राजसूय-यज्ञ में द्यूत का विधान है।[3] इसी प्रकार अश्वमेध-यज्ञ में पारिप्लव-नामक[4] उपाख्यान (या कहानी) अनेकों दिनों तक चलता था। उसमें सारी प्रजा, स्त्री और पुरुष, युवा और वृद्ध, आकर इकट्ठे होते थे। वीणा बजाने-वालों के झुँडों के झुँड आ जुटते थे। इस प्रकार के नाना-प्रदर्शनों से युक्त उन दिनों के यज्ञ, पूजा के स्थानीय होने के साथ-साथ, आज-कल के नाटकों और 'सिनेमाओं' आदि का भी काम करते थे।

उनमें जिन वैदिक मंत्रों का प्रयोग किया जाता था उनमें उपयुक्तता के साथ-साथ सार्थकता या वास्तविकता भी रहती थी। उनको कहने वाले और सुनने वाले भी इसी तरह समझते होंगे, जैसे आजकल के नाटकों में पात्रों के वचनों को सब समझते हैं।

निम्न-लिखित वचन उसी समय के यज्ञ के स्वरूप को प्रकट करते हैं—

"यजमानो वै यज्ञः" (ऐतरेय-ब्राह्मण १।२८)

अर्थात्, यजमान का स्वरूप ही यज्ञ में प्रतिफलित होता है।

"आत्मा वै यज्ञस्य यजमानोऽङ्गान्यृत्विजः" (शतपथ० ९।५।२।१६)

अर्थात्, यजमान ही यज्ञ का आत्मा होता है। ऋत्विज् अङ्ग होते हैं।

"यत्र वा व यजमानवशो भवति, कल्पते एव यज्ञोऽपि। तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् यजमानो वशी यजते।" (ऐतरेय-ब्राह्मण ३।१३)

अर्थात्, यज्ञ में तभी तक वास्तविकता रहती है जब तक वह विद्वान् यजमान की अनुकूलता या अधीनता में रहता है। उसी दशा में वह जनता का हित संपादन कर सकता है।

---

१. तु० "ब्रह्माग्निः" (शतपथब्रा० १।३।३।१९)। "क्षत्रं वै वरुणो विशो मरुतः" (शतपथ० २।५।२।६)। "क्षत्रं वा इन्द्रो विशो मरुतः" (शतपथ० २।५।२।२७)। "ब्रह्म वा अग्निः क्षत्रमिन्द्रः। (शतपथ० २।५।४।८)।

२. देखिए—शतपथ-ब्राह्मण (५।१।४)।

३. देखिए—शतपथ-ब्राह्मण (५।४।४।२३)।

४. देखिए—शतपथ-ब्राह्मण (१३।४।३)।

याज्ञिक कर्मकाण्ड का अपकर्ष

धीरे-धीरे यज्ञों में जनता का वास्तविक सहयोग और सार्थकता घटने लगी। भावना का, जो कि किसी भी कर्म में प्राण-स्थानीय होती है[1], विलोप होने लगा। इसी से उनमें यान्त्रिकता का रूप आने लगा। उनमें परोक्ष-वाद[2] और जादूपने का प्रभाव बढ़ने लगा। अर्थ के स्थान में मन्त्रों के शब्दों को ही अधिकाधिक महत्त्व दिया जाने लगा।

ऐसा समझा जाने लगा कि यज्ञों में जो मन्त्र प्रयुक्त होते हैं, 'उनका क्या अर्थ या उपयुक्तता है' इसके ज्ञान की कोई आवश्यकता या उपयोगिता नहीं है। मन्त्रों के शब्दों में ही कोई ऐसी अद्भुत अथवा परोक्ष शक्ति है जिसके कारण सारे अभीप्टों की प्राप्ति यज्ञों द्वारा हो सकती है।[3]

ऐतरेयब्राह्मण (३।२२) के एक प्रसङ्ग में कहा है कि अभिमन्त्रित तृण को फेंकने से ही शत्रु-सेना को भगाया जा सकता है![4]

ऐसी स्थिति में याज्ञिक कर्म-काण्ड की छोटी-से-छोटी बातों को (जैसे, कौन-सी आहुति कैसे और कब देनी चाहिए; किस यज्ञ-पात्र का किस प्रकार उपयोग आदि करना चाहिए) बड़ा महत्त्व दिया जाना स्वाभाविक था।[5]

---

१. तु० "श्रा त्वेव श्रद्धायै होतव्यम्" (ऐतरेयब्रा० ५।२७)।
तथा "मनसा वै यज्ञस्तायते मनसा क्रियते" (ऐतरेयब्रा० ३।११)

२. तु० "परोक्षप्रिया इव हि देवाः" (ऐतरेयब्रा० ३।४३)

३. तु० "ब्रह्म हि देवान् प्रच्यावयति" (शतपथ० ३।३।४।१७)

४. देखिए—"तद्यथैवादः स्नुषा श्वशुराल्लज्जमाना निलीयमानैति, एवमेव सा सेना भज्यमाना निलीयमानैति यत्रैवं विद्वांस्तृणमुभयतः परिच्छिद्येतरां सेनामभ्यस्यति।" (ऐतरेयब्रा० ३।२२)

५. उदाहरणार्थ देखिए—"स वै स्रुवमेवाग्रे संमार्ष्टि। अथेतराः स्रुचः। योषा वै स्रुग्वृषा स्रुवस्तस्मात्। यद्यपि बह्व्य इव स्त्रियः सार्धं यन्ति। य एव तास्वपि कुमारक इव पुमान् भवति स एव तत्र प्रथम एति, अनूच्य इतराः। तस्मात् स्रुवमेवाग्रे संमार्ष्टि। अथेतराः स्रुचः।" (शतपथ० १।३।१।९)। यहाँ स्रुवा और स्रुचों (भिन्न-भिन्न प्रकार के चम्मचों जैसे यज्ञपात्र) में से पहले किसको साफ़ करना चाहिए, इस प्रश्न का विचित्र तर्क द्वारा निर्णय किया गया है।

इस तरह के विचार ब्राह्मण-ग्रन्थों में भरे पड़े हैं।

याज्ञिक कर्म-काण्ड के प्रतिपादक ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में उस कर्म-काण्ड के संबन्ध में थोड़ी-से-थोड़ी च्युति या त्रुटि के लिए प्रायश्चित्तों का विधान पाया जाता है। उससे जहाँ एक ओर उस समय के कर्म-काण्ड की यान्त्रिकता स्पष्ट प्रतीत हो जाती है, वहाँ दूसरी ओर उस पर हँसी भी आती है।

उदाहरणार्थ, **ऐतरेय-ब्राह्मण** के ३२ वें अध्याय में, अग्निहोत्री गौ (=जिसका दूध अग्निहोत्र-हविः के काम में आता था) के, दूध दुहते समय, बैठ जाने पर, रँभाने पर, अथवा छटककर अलग खड़े हो जाने पर, या गरम करते हुए दूध के गिर जाने पर, तरह-तरह के प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है।

याज्ञिक कर्मकाण्ड के अपकर्ष के कारण

याज्ञिक कर्म-काण्ड के विषय में दृष्टि का यह खेद-जनक परिवर्तन क्यों और कैसे हो गया, यह एक विचारणीय प्रश्न है। जहाँ तक हमने इस प्रश्न पर विचार किया है हम यही समझते हैं कि राजनीतिक आदि कारणों से देश की क्रमशः बदलती हुई परिस्थिति में आर्य-जाति के स्वरूप में कुछ ऐसे मौलिक परिवर्तन हुए जिनसे याज्ञिक कर्म-काण्ड, जनता के जीवन नियन्त्रण और बुद्धि-पूर्वक सहयोग से क्रमशः दूर होते हुए, अपनी ही उत्तरोत्तर बढ़ती हुई पारिभाषिक जटिलता के कारण, प्रायेण जन्म-मूलक पुरोहित-वर्ग के ही **अनियन्त्रित एकाधिकार** की वस्तु बन गया।

सातवें परिच्छेद में वैदिक धारा के क्रमिक उत्कर्ष की जिन तीन अवस्थाओं का हमने वर्णन किया है उनका प्रभाव स्वभावतः आर्य-जाति के उत्साहमय, उल्लासमय, कर्मशील और सुसंगठित जीवन में दिखायी देता था। पर **प्रत्येक राजनीतिक उत्कर्ष की प्रतिक्रिया प्रायेण अकर्मण्यता, आलस्य, आदर्शहीनता और रूढ़िपरता के जीवन में हुआ करती है।** इसलिए वैदिक-धारा के तृतीय काल के अनन्तर, जब कि बाह्य और आन्तरिक संघर्ष के प्रायेण समाप्त हो जाने से आर्य-जाति के विभिन्न वर्ग सुख और चैन का जीवन व्यतीत करने लगे थे, उनमें अकर्मण्यता, आलस्य आदि की पतनोन्मुख प्रवृत्तियों का आ जाना स्वाभाविक था। साथ ही, जिसको जो महत्त्व, पद, अथवा विशेषाधिकार प्राप्त हो चुका था, वह उसी के स्थायित्व और पुष्टि में लगा था। यदि क्षत्रिय अपने राज-नीतिक महत्त्व को स्थायी करना चाहता था, तो ब्राह्मण भी अपने पौरोहित्य के लाभों को सुरक्षित और दृढ़ करने में संलग्न था। इसी वातावरण में, शक्ति और प्रभाव के केन्द्रीभूत होने से, तत्तद् पदों और वर्गों में रूढ़ि और स्थिरता आने लगी, और सामान्य आर्य-जनता (=विश् या प्रजा) में से ही रूढ़िमूलक

ब्राह्मण-वर्ग तथा क्षत्रिय-वर्ग के साथ-साथ वैश्य-वर्ग का भी प्रारम्भ हुआ। दूसरे शब्दों में, यही रूढ़ि-मूलक वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भ था।[1]

वर्ण-व्यवस्था में रूढ़ि-मूलकता के आ जाने पर, तत्तद् वर्गों में स्वार्थ तथा अकर्मण्यता की प्रवृत्ति का बढ़ना स्वाभाविक था। इसी परिस्थिति में क्षत्रिय वर्ग में क्रमशः ऐश्वर्य के उपभोग की प्रवृत्ति बढ़ने लगी और, न केवल धार्मिक कर्मकाण्ड में ही, अपितु राज्य अथवा राष्ट्र के संचालन में भी, वह अधिकाधिक पुरोहित-वर्ग पर निर्भर होने लगा। वेद में राजाओं की प्रायः अतिशयोक्ति-पूर्ण जो **दान-स्तुतियाँ**[2] पायी जाती हैं, और ब्राह्मण-ग्रन्थों में पुरोहितों की जो अत्यधिक महिमा गायी गयी है[3], वे स्पष्टतः उक्त परिस्थिति की ही द्योतक हैं।

---

१. याज्ञिक कर्मकाण्ड के विकास से ही रूढ़ि-मूलक वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ था, इस बात को पुराणों ने अपनी भाषा में स्पष्ट रूप से कहा है। उदाहरणार्थ, देखिए—

"त्रेतायुगमुखे ब्रह्मा कल्पस्यादौ द्विजोत्तम। सृष्ट्वा.. ऋचश्चैव.. यजूंषि..असृजत्.. सामानि..अथर्वाणम्.." (विष्णुपुराण १।५।५०–५६)। तथा **"यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार वै। चातुर्वर्ण्यं महाभाग यज्ञसाधनमुत्तमम्॥"** (विष्णुपुराण १।६।७)।

अर्थात्, ब्रह्मा ने त्रेता-युग के प्रारम्भ में (संहिता-रूप में) ऋग्—, यजुः—, साम— तथा अथर्व-वेद की सृष्टि की। तदनन्तर, यज्ञ के साधन-भूत चातुर्वर्ण्य को ब्रह्मा ने यज्ञ-निष्पत्ति के लिए बनाया।

श्रीमद्भागवत (११।५।२४–२५) में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि वैदिक परम्परा में यज्ञों की प्रवृत्ति त्रेता में हुई थी। देखिए—**"त्रेतायां...तं तदा मनुजा देवं...यजन्ति विद्यया त्रय्या..."** इत्यादि।

इसी प्रसङ्ग में ऐतरेय-ब्राह्मण (७।१९) को देखिए—**"प्रजापतिर्यज्ञमसृजत। यज्ञं सृष्टमनु ब्रह्मक्षत्रे असृज्येताम्"** इत्यादि। अर्थात्, प्रजापति ने पहले यज्ञ की सृष्टि की और तत्पश्चात् ब्रह्म और क्षत्र की।

२. उदाहरणार्थ देखिए—ऋग्० १।१२६।

३. तु० **"तस्मै विशः संजानते संमुखा एकमनसः। यस्यैवं विद्वान् ब्राह्मणो राष्ट्रगोपः पुरोहितः॥ तस्य राजा मित्रं भवति द्विषन्तमपबाधते। यस्यैवं विद्वान् ब्राह्मणो राष्ट्रगोपः पुरोहितः॥"** (ऐतरेयब्राह्मण ८।२५,२७)। तथा **"न ह वा अपुरोहितस्य राज्ञो देवा अन्नमदन्ति। तस्माद् राजा यक्ष्यमाणो ब्राह्मणं पुरो दधीत देवा मेऽन्नमदन्निति।"** (ऐतरेयब्रा० ८।२४)। तथा **"अग्निर्वा एष वैश्वानरः पञ्चमेनिर्यत् पुरोहितः।...स एनं (=राजानं) शान्ततनुरभिहुतोऽभिप्रीतः स्वर्गं लोकमभिवहति क्षत्रं च बलं च राष्ट्रं च विशं च। स एवैनमशान्ततनुरनभिहुतोऽनभिप्रीतः स्वर्गाल्लोकान्नुदते क्षत्राच्च बलाच्च राष्ट्राच्च विशश्च।"** (ऐतरेयब्रा० ८।२४)। तथा **"ब्रह्म क्षत्रेण पृक्तं देवपितृमनुष्यान् धारयतीति विज्ञायते"** (गौतमधर्मसूत्र ११।२९)

उक्त वातावरण में ही, याज्ञिक कर्मकाण्ड में आर्य-जाति की परम्परागत श्रद्धा[1] के आधार पर, उसको अधिकाधिक जटिल, यान्त्रिक और कृत्रिम बनाया गया।

इसका कारण स्पष्ट था।

जैसा ऊपर कहा है, रूढ़ि-मूलक वर्गों में स्वार्थमयी प्रवृत्ति का क्रमशः बढ़ना स्वाभाविक होता है। अतएव वे अपने कर्तव्यों को व्यवसाय की दृष्टि से देखने लगते हैं। उनको समाज के हित की उतनी परवा नहीं रहती जितनी अपने और स्ववर्गीय लोगों के हित-साधन की। इसी नियम के अनुसार यह स्पष्ट है कि रूढ़ि-मूलक पुरोहित-वर्ग का हित याज्ञिक कर्म-काण्ड की अधिकाधिक जटिलता और यान्त्रिकता में ही निहित था।

याज्ञिक कर्मकाण्ड की परिधि और जटिलता का विस्तार कहाँ तक बढ़ता गया इसका अनुमान उन अनेकानेक प्रकार की कामनाओं से किया जा सकता है जिनकी प्राप्ति के लिए इष्टियाँ या यज्ञ किये जा सकते थे। जिन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए याज्ञिक कर्मकाण्ड का आश्रय लिया जा सकता था उनमें से कुछ ये हैं—स्वर्ग, आयु, पुष्टि, वीर्य, अन्नाद्य, प्रजा, पशु, ग्राम (=जमींदारी), धन-संपत्ति, प्रतिष्ठा, वर्षा, युद्ध में विजय, पुत्र-लाभ, शत्रु-नाश, स्त्री-वशीकरण, आदि, आदि।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य की ऐसी कोई भी कामना (नैतिक या अनैतिक) नहीं थी जिसकी प्राप्ति का उपाय यज्ञ द्वारा न बतलाया जा सकता था। यहाँ तक कि यदि कोई नौकर नौकरी से भाग जाना चाहता था, तो उसको रोकने का (अत्यन्त बीभत्स) उपाय भी एक याज्ञिक बतला सकता था![2]

एक पंसारी के पास जैसे हर रोग के लिए पुड़िया होती है, उसी प्रकार याज्ञिक के पास प्रत्येक कामना की प्राप्ति के लिए कर्मकाण्डीय पुड़िया वर्तमान रहती थी!

---

१. तु० "न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः।" (ऋग्० १०।४४।६), "यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म" (शतपथब्रा० १।७।१।५)। "यज्ञो वै सुतर्मा नौः" (ऐतरेयब्रा० १।१३)

२. देखिए—पारस्कर-गृह्यसूत्र (३।७)—"उत्तूलपरिमेहः। स्वपतो जीवविषाणे स्वं मूत्रमासिच्यापसलवि त्रिः परिषिञ्चन् परीयात्...।" यहाँ किसी जीते हुए जानवर के सींग में अपने मूत्र को भरकर डालते हुए, सोते हुए दास के चारों ओर तीन बार मन्त्र-विशेष को पढ़ते हुए वाम तरफ़ से घूमने का विधान है।

वैदिक (=श्रौत) यज्ञों का विस्तार इतना बढ़ गया था कि उनमें प्रायः अनेक (१६ या १७ तक) ऋत्विजों की आवश्यकता होती थी। वे सप्ताहों तक, कभी-कभी एक वर्ष से भी अधिक काल तक, चलते थे। उनके करने में इतना संभार करना पड़ता था और इतनी अधिक दक्षिणाएँ देनी पड़ती थीं कि साधारण वित्त के लोग तो उनको कर ही नहीं सकते थे। दूसरे शब्दों में, धर्म को संपन्न-वर्ग ही कर सकता था! गीता में इसीलिए वैदिक यज्ञों को **द्रव्य-यज्ञ** कहा है।

बेचारी निम्न जनता को तो यज्ञों के करने का अधिकार ही नहीं था। **शतपथ-ब्राह्मण** में कहा है—

"ब्राह्मणो वैव राजन्यो वा वैश्यो वा ते हि यज्ञियाः। ...न वै देवाः सर्वेणेव संवदन्ते। ब्राह्मणेन वैव राजन्येन वा वैश्येन वा। ते हि यज्ञियाः।"
(शतपथ-ब्रा० ३।१।१।९-१०)

अर्थात्, देवता लोग सब किसी से बात-चीत नहीं करते! वे केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य से ही बातें करते हैं; क्योंकि इनको ही यज्ञ करने का अधिकार है।

इस **याज्ञिक कर्मकाण्ड** में स्वभावतः **पुष्कल दक्षिणा** (=ऋत्विजों की फ़ीस) पर बड़ा बल दिया जाता था। "**हतं यज्ञमदक्षिणम्**" (अर्थात्, दक्षिणा-रहित यज्ञ कभी सफल नहीं होता), यह यज्ञों का मौलिक सिद्धान्त था।[1]

शतपथ-ब्राह्मण (२।२।३।२८) में कहा है—

"तस्य हिरण्यं दक्षिणा। आग्नेयो वा एष यज्ञो भवति।"

अर्थात्, इस यज्ञ (=अग्निहोत्र) में **सोने की दक्षिणा** देनी चाहिए, क्योंकि यह यज्ञ अग्नि-देवता के लिए किया जाता है।

कात्यायन-श्रौतसूत्र (१०।२।३४) में कहा है—

"न रजतं दद्याद् बर्हिषि "पुरास्य संवत्सराद् गृहे रुदन्ती"ति श्रुतेः।"

अर्थात्, यज्ञ में चाँदी के रूप में दक्षिणा नहीं देनी चाहिए; क्योंकि श्रुति

---

१. तु० **"दक्षिणा वै यज्ञानां पुरोगवी। यथा ह वा इदमनोऽपुरोगवं रिष्यति, एवं हैव यज्ञोऽदक्षिणो रिष्यति"** (ऐतरेयब्रा० ६।३५)। अर्थात्, जैसे बिना बैल के गाड़ी नहीं चलती, ऐसे ही बिना दक्षिणा के यज्ञ भी आगे नहीं बढ़ता, नष्ट हो जाता है।

(=तैत्तिरीयसंहिता १।५।१) में कहा है कि जो ऐसा करता है उसके घर में एक वर्ष के अन्दर ही रोना हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि दक्षिणा में सुवर्ण ही देना चाहिए!

इसी प्रकार के सैकड़ों वचन ब्राह्मणादि ग्रन्थों में यज्ञों में पुष्कल दक्षिणा देने के समर्थन में पाये जाते हैं।[1]

इसके अतिरिक्त, आश्वलायन-श्रौतसूत्र (१२।९) आदि में[2] यज्ञ में बलि किये हुए सवनीय पशु के अङ्गों को ऋत्विजों आदि में किस प्रकार बाँटना चाहिए, इसका भी विस्तृत विधान दिया हुआ मिलता है। जैसे—

"तस्य विभागं वक्ष्यामः। हनू सजिह्वे प्रस्तोतुः। श्येनं वक्ष उद्गातुः। ...तां वा एतां पशोर्विभक्तिं श्रौत ऋषिर्देवभागो विदांचकार..."

अर्थात्, अब हम सवनीय पशु के अङ्गों के विभाग के विषय में कहेंगे। जिह्वा के सहित दोनों जबड़े प्रस्तोता के लिए। श्येन-सदृश वक्षः-स्थल उद्गाता के लिए।...पशु के इस प्रकार के विभाग का परिज्ञान श्रौत ऋषि देवभाग को हुआ था....

ऋत्विजों में पशु के अङ्गों के बाँटने की व्यवस्था का प्रश्न इसीलिए उठा होगा, जिससे उनमें बँटवारे को लेकर कोई झगड़ा न हो।

इस प्रसङ्ग में 'दक्षिणा' के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। यज्ञों में ऋत्विजों को जो दक्षिणा दी जाती थी, वह वास्तव में उनकी 'फ़ीस' या 'मजदूरी' ही होती थी। पूर्वमीमांसा में ऋत्विजों को स्पष्टतया **'दक्षिणा-क्रीत'**[3] (अर्थात्, दक्षिणा से खरीदा गया) कहा गया है।

धर्मशास्त्रों में भी ब्राह्मणादि वर्णों के याजन (=यज्ञ कराना), प्रतिग्रह

---

१. देखिए—**"अभिषेचनीये तु द्वात्रिंशतं द्वात्रिंशतं सहस्राणि..."; "साहस्रो दशपेयः", "सौवर्णी स्रगुद्गातुः"** (आश्वलायन-श्रौतसूत्र ९।४।३, ७, ९)। **"चतस्रो वै दक्षिणाः। हिरण्यं गौर्वासोऽश्वः"** (शतपथब्रा० ४।३।४।७)

२. देखिए—**गोपथ-ब्राह्मण** (१।३।१८)

३. देखिए—**मीमांसासूत्र** (३।७।२०—२१), तथा उन सूत्रों पर **जैमिनीय-न्याय-मालाविस्तर**—**"ये यजमानेन क्रीताः कर्तार ऋत्विजः..."**।

(=दान लेना) आदि जो विशिष्ट कर्म कहे गये हैं उनको स्पष्टतया 'आजीविका' या 'वृत्ति' के रूप में ही माना गया है।[1]

ऐसी स्थिति में पौरोहित्य का काम, कोई पारमार्थिक कर्म न होकर, अन्य पेशों के समान, एक पेशा या व्यवसाय ही था। यह ठीक ही था; क्योंकि पुरोहित कोई 'मिशनरी' या 'श्रमण' (=जैन या बौद्ध भिक्षु) तो थे नहीं। उनको भी अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करना पड़ता था। इसलिए उनका दक्षिणा लेना बिल्कुल न्याय्य और समुचित था; विशेषतः जब कि वे आर्य-जाति की प्राचीन धार्मिक और सांस्कृतिक परम्परा के निर्वाहक और संरक्षक थे।

दक्षिणा या पौरोहित्य-संस्था पर कोई आपत्ति नहीं हो सकती। उस समय की वह एक आवश्यकता थी। पौरोहित्य-संस्था ने, जैसा हम ऊपर (परिच्छेद १० में) दिखला चुके हैं, यजमान-पुरोहित के घनिष्ठ मधुर स्नेह-संबन्ध के उदाहरण प्रायः उपस्थित किये हैं।

हमारा केवल यही कहना है कि भारतीय संस्कृति के इतिहास में जबसे पौरोहित्य के पेशे का संबन्ध एक रूढ जन्म-मूलक वर्ग-विशेष से हो गया,[2] तब से उसमें रूढि-मूलक वर्गों की अच्छी-बुरी सारी प्रवृत्तियों का आ जाना स्वाभाविक था, जैसा कि आगे चलकर हम स्पष्ट करेंगे। यहाँ तो हमारा इतना ही अभिप्राय है कि वैदिक कर्मकाण्ड के अपकर्ष को समझने के लिए उस समय के पौरोहित्य के उक्त स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसके आधार पर वैदिक कर्मकाण्ड के अपकर्ष के कारण ये थे—

(१) वैदिक धारा के तृतीय काल के अनन्तर राजनीतिक उत्कर्ष की प्रतिक्रिया के रूप में आर्यजाति के विभिन्न वर्गों में अकर्मण्यता, आलस्य और आदर्श-हीनता की प्रवृत्तियों का प्रारम्भ;

---

१. देखिए—"...षट् कर्माण्यग्रजन्मनः ॥ षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका। याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥..." (मनुस्मृति १०।७५–८०)

२. प्रारम्भ में पौरोहित्य ब्राह्मण ही करे, यह आवश्यक नहीं था। राजवंश के देवापि ने अपने भाई शंतनु का पुरोहित बनकर यज्ञ कराया था, यह कथा वैदिक वाङमय में सुप्रसिद्ध है; देखिए—निरुक्त (२।१०)। ऐतरेय-ब्राह्मण में तो स्पष्टतः कहा है—"सैषा स्वगर्याहुतिर्यदग्न्याहुतिः। यदि ह वा अप्यब्राह्मणोक्तो...यजतेऽथ हैवाहुतिर्गच्छत्येव देवान्" (ऐत० ब्रा० १।१६)

(२) उक्त उत्कर्ष की अवस्था में प्राप्त महत्त्व, पद या विशेषाधिकारों को सुरक्षित और पुष्ट करने की प्रवृत्ति से रूढ़ि-मूलक वर्ण-व्यवस्था का क्रमशः विकास;

(३) उक्त परिस्थिति में वैदिक कर्मकाण्ड पर रूढ़ि-मूलक पुरोहित-वर्ग के अनियन्त्रित एकाधिकार की प्रवृत्ति; और

(४) जनता के नियन्त्रण और जीवन से पृथक् हो जाने से तथा वास्तविकता और सार्थकता के अभाव से वैदिक कर्मकाण्ड में अधिकाधिक विस्तार, कृत्रिमता और यान्त्रिकता की प्रवृत्ति का प्रवेश।

याज्ञिक कर्मकाण्ड के अपकर्ष का दुष्प्रभाव

सातवें परिच्छेद में वैदिक धारा की तीन अवस्थाओं को दिखलाते हुए हमने वैदिक धारा के तृतीय काल को उसका मध्याह्न-काल और अतएव परम उत्कर्ष का काल कहा है। उसके अनन्तर उसका क्रमशः अपकर्ष शुरू हो जाता है, ठीक उसी तरह जैसे मध्याह्न-काल में सूर्य का प्रकाश और तेज अपने चरम उत्कर्ष में पहुँच कर तदनन्तर अपकर्ष की ओर चलने लगता है और अपराह्ण के पश्चात् तो अस्तोन्मुख ही होने लगता है।

वैदिक धारा के उत्कर्ष के दिनों में याज्ञिक कर्मकाण्ड को, जिसमें उस समय का जातीय जीवन प्रतिबिम्बित था, हमने उसका महान् प्रतीक कहा है। इसी दृष्टि से याज्ञिक कर्मकाण्ड को हम **वैदिक धारा का मानदण्ड** भी कह सकते हैं। इसलिए ऊपर दिखलाये गये कारणों से याज्ञिक कर्मकाण्ड में अपकर्ष के आने पर समस्त वैदिक धारा में अपकर्ष का आ जाना स्वाभाविक था। इसी बात को हम नीचे स्पष्टतया दिखाना चाहते हैं।

याज्ञिक कर्मकाण्ड के अपकर्ष का दुष्प्रभाव अतिव्यापक था। उसको यहाँ हम विशेष रूप से निम्न-निर्दिष्ट विषयों को लेकर दिखाना चाहते हैं—

(१) वेदों के अध्ययनाध्यापन की परम्परा,
(२) देवता-विषयक भावना,
(३) रूढ़ि-मूलक वर्णवाद की प्रवृत्ति,
(४) नैतिकता का ह्रास।

वेदों की अध्ययनाध्यापन-परम्परा का अपकर्ष

वैदिक संस्कृति के उषः-काल में मन्त्रात्मक वेद और आर्य-जाति के जीवन में एक प्रकार से एकरूपता थी, यह हमने ऊपर (परिच्छेद ७ में) कहा है। उस

समय उसका जीवन वेद था और वेद ही जीवन था, क्योंकि एक से दूसरे की व्याख्या की जा सकती थी।

द्वितीय काल में, एक विशिष्ट कर्मकाण्ड के रूप में, याज्ञिक कर्मकाण्ड का प्रारम्भ हुआ। उस समय उसमें पूर्णतया स्वाभाविकता और सार्थकता वर्तमान थी। उसके साथ जिन भी वैदिक मन्त्रों का प्रयोग किया जाता था, वह पूरी तरह उनके अर्थ को और उपयुक्तता को समझकर ही किया जाता था। यही अवस्था उसकी वैदिक धारा के तृतीय काल में थी, जब कि याज्ञिक कर्मकाण्ड अपने चरम उत्कर्ष की अवस्था में था।

इस तृतीय काल में वैदिक मन्त्रों के अर्थ-ग्रहण में कदाचित् कुछ कठिनाई का अनुभव किया जाने लगा था। इसी लिए निरुक्त में कहा है—

"उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्म-ग्रहणायेमं
ग्रन्थं समाम्नासिषुः। वेदं च वेदाङ्गानि च।" (निरुक्त १।२०)

अर्थात्, वैदिक परम्परा की तृतीय अवस्था में मन्त्रार्थ के समझने की कठिनता के कारण ही निरुक्त का तथा अन्य वेदाङ्गों का संग्रन्थन किया गया।

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि उस तृतीय काल में व्याकरण, निरुक्त आदि के साथ ही वेदाध्ययन किया जाता था। इसी अवस्था का वर्णन महाभाष्य में इन सुन्दर शब्दों में किया गया है—

"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च"
(पस्पशाह्निक)

अर्थात्, ब्राह्मण को छह अङ्गों के सहित ही वेद को पढ़ना और समझना चाहिए। यह उसका निष्कारण धर्म है।

इसलिए वैदिक धारा के तृतीय काल तक याज्ञिक कर्मकाण्ड में वैदिक मन्त्रों का प्रयोग उनके अर्थों को समझकर और उपयुक्तता को देखकर ही किया जाता था, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

यही बात नीचे दिये हुए प्रमाणों से भी सिद्ध होती है—

"एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं
यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति" (निरुक्त १।१६)

अर्थात्, याज्ञिक कर्म की संपन्नता या पूर्ण-रूपता इसी में है कि उसमें जो ऋग्वेद या यजुर्वेद के मन्त्र प्रयुक्त होते हैं वे वास्तव में उस काम को बतलाते भी हैं जो यज्ञ में किया जाता है।

"यद् यज्ञेऽभिरूपं तत्समृद्धम्" (ऐतरेयब्रा० १।१६)

अर्थात्, मन्त्र और कर्मकी अनुरूपता में ही यज्ञ की संपन्नता रहती है।

"मनसा वै यज्ञस्तायते मनसा क्रियते" (ऐतरेयब्रा० ३।११)

अर्थात्, (मन्त्रों के) अर्थ को समझकर ही यज्ञ किया जाता है।

यह स्पष्ट है कि उस समय मन्त्रों के अर्थ का ही प्राधान्य था। उसकी अपेक्षा कर्मकाण्ड गौण था।

ऐसी अवस्था में कर्मकाण्ड की महत्ता उसके अपने क्रिया-कलाप में न होकर, उसके पीछे रहनेवाली भावना में ही हुआ करती है। इसी बात को उपनिषदों की भाषा में हम इस प्रकार कह सकते हैं—

'न वा अरे कर्मकाण्डस्य कामाय कर्मकाण्डं प्रियं भवति, जनताया राष्ट्रस्य तु कामाय कर्मकाण्डं प्रियं भवति'[1]

अर्थात्, अरे भाई कर्मकाण्ड कर्मकाण्ड होने के कारण प्रिय नहीं होता है, किन्तु इसलिए प्रिय होता है कि उससे जनता या राष्ट्र के कल्याण में सहायता मिलती है।

वास्तव में उस समय याज्ञिक कर्मकाण्ड की महत्ता इसी लिए समझी जाती थी कि उसके द्वारा जनता की वैदिक उदात्त भावनाओं को पुष्टि मिलती थी।

परन्तु इस स्थिति ने पलटा खाया। आर्य-जनता में, और विशेषकर संपन्न वर्ग में, उदात्त वैदिक भावनाओं के स्थान में अकर्मण्यता आदि अनार्य भावनाओं का प्रभाव बराबर बढ़ने लगा।

वैदिक मन्त्रों और कर्मकाण्ड की परम्परा के निर्वाहक पुरोहित-वर्ग में भी, ऊपर दिखलाये हुए कारणों से, जहाँ एक ओर आलस्य और बुद्धि की मन्दता का साम्राज्य बढ़ा, वहाँ दूसरी ओर याज्ञिक क्रिया-कलाप में रूढ़िप्रयुक्त श्रद्धातिरेक से वैदिक मन्त्रों के अर्थ को समझने की तरफ से उपेक्षा भी बढ़ने लगी।[2]

यह समझा जाने लगा कि ऋत्विजों में, उनके द्वारा प्रयुक्त मन्त्रों के शब्दों में, और यज्ञ के क्रिया-कलाप में ही ऐसी कोई अदृष्ट शक्ति है जिससे बल-पूर्वक अपनी अभीष्ट कामना की सिद्धि की जा सकती है।

"ब्रह्म हि देवान् प्रच्यावयति" (शतपथब्रा० ३।३।४।१७)

---

१. तु० "न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति।" इत्यादि (बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।५)

२. तु० "अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्। आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति" (मनुस्मृति ५।४)

अर्थात्, मन्त्र में ऐसी शक्ति है कि वह देवों को भी झुका सकती है।

"द्वया वै देवाः। देवा अहैव देवाः। अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः" (शतपथब्रा० २।२।२।६)

अर्थात्, देव दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जिनको देव कहा जाता है। दूसरे विद्वान् ब्राह्मण, जिनको 'मनुष्य-देव' कहना चाहिए।

इत्यादि वचन ऋत्विजों की उसी मानसिक स्थिति के द्योतक हैं।[१]

इस मनोवृत्ति का वेदों के अध्ययनाध्यापन पर अनर्थ-कारी प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। अब तो यह समझा जाने लगा कि

(१) वेदोंके मन्त्रोंका केवल यही प्रयोजन है कि उनका यज्ञों में प्रयोग किया जाय[२];

(२) मन्त्रों के शब्द-मात्र में शक्ति है, यहाँ तक कि वास्तव में मन्त्र का कोई अर्थ ही नहीं होता।[३]

याज्ञिकों की इसी खेद-जनक प्रवृत्ति को देखकर महाभाष्य में कहा था—

"वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति" (पस्पशाह्निक)

अर्थात्, याज्ञिक लोग व्याकरणादि की उपेक्षा करके वेद के केवल शब्दों को रट कर अपने को कृतकृत्य समझ लेते हैं।

वेद-मन्त्रों के अर्थ की ओर से याज्ञिकों की इस उपेक्षा को देखकर वैदिक काल में ही विद्वानों ने अर्थ-ज्ञान पर बहुत कुछ बल देना प्रारम्भ कर दिया था। उदाहरणार्थ, निरुक्त में ही उद्धृत इन प्राचीन वचनों को देखिए[४]—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूद-
धीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥ (निरुक्त १।१८)

---

१. तु० "एते वै देवा अहुतादो यद् ब्राह्मणाः।...आहुतिभिरेव देवान् हुतादः प्रीणाति, दक्षिणाभिर्मनुष्यदेवान्। तेऽस्मै प्रीता इषमूर्जं नियच्छन्ति।" (गोपथ-ब्राह्मण २।१।६)।

२. तु० "वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः" (याजुषज्योतिष ३);
"मन्त्राश्च कर्मकरणाः" (आश्वलायन-श्रौतसूत्र १।१।२१);
"आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्" (पूर्वमीमांसा १।२।१)।

३. तु० "अनर्थका हि मन्त्राः" (निरुक्त १।१५)।

४. तु० "अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्" (ऋग्० १०।७१।५)

अर्थात्, वेद को पढ़कर उसके अर्थ को न जानने वाला भार से लदे हुए केवल एक स्थाणु के समान है। जिस मन्त्र आदि को बिना अर्थ के समझे केवल पाठ-मात्र से पढ़ा जाता है उसका कोई फल नहीं होता, उसी तरह जैसे सूखा ईंधन भी बिना आग के कभी नहीं जलता।

परन्तु उक्त प्रवृत्ति का यह सारा प्रतिवाद केवल अरण्य-रोदन के समान था। **यज्ञों के और मन्त्रार्थ के संबंध में कर्मकाण्डियों की उक्त प्रवृत्ति बराबर बढ़ती ही गयी। ऐसी स्थिति में वैदिक कर्मकाण्ड खूब बढ़ा तो सही, पर वह धीरे-धीरे निष्प्राण शुष्क क्रिया-कलाप में परिवर्तित होता गया। और अन्त में, जैसा हम आगे क्रमशः स्पष्ट करेंगे, ऐसा समय आया जब कि वह एक ओर औपनिषद धारा आदि के, और दूसरी ओर जैन बौद्ध आदि के, प्रतिवाद और विरोध की आँधी में स्वयं नष्ट हो गया।**

उक्त प्रवृत्ति[1] का दुष्प्रभाव यहीं समाप्त नहीं हुआ। इसके अनन्तर वेद-मन्त्रों की जो दुर्दशा हुई वह और भी हृदय-विदारक है।

---

१. (१) यह विचित्र बात है कि पूर्वमीमांसा आदि के विचारों में, जहाँ वैदिक मन्त्रों का उल्लेख आवश्यक होना चाहिए वहाँ भी उनकी उपेक्षा करके, ब्राह्मण-वाक्यों को ही उद्धृत कर उनपर विचार किया जाता है। उदाहरणार्थ, वेदों में अनित्य ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम के आने से वेद अनित्य हो जाएँगे, इस आपत्ति के प्रसंग में, वैदिक मन्त्रों के सुप्रसिद्ध अगस्त्य, लोपामुद्रा, सुदास् आदि नामों का उल्लेख न करके, केवल ब्राह्मण-वाक्यान्तर्गत 'बबर' जैसे नामों पर विचार किया गया है (देखिए—**सायणाचार्य** की **ऋग्वेदभाष्योपक्रमणिका** में **मीमांसा-सूत्र** १।१।२८–३०, तथा १।२।६ की व्याख्या)। इस उपेक्षा का कारण हमें वेदों के अध्ययनाध्यापन की घोर शिथिलता ही प्रतीत होती है।

(२) एक दूसरी बात का निर्देश करना भी यहाँ आवश्यक है। वह यह है—वेदों पर और वैदिक कर्मकाण्ड पर जो विरोधियों के आक्षेप होते रहे हैं, उनके उत्तर में **पूर्वमीमांसा** आदि में 'वेद पुरुषार्थ के अलौकिक उपाय को बतलाते हैं', और 'वैदिक कर्मकाण्ड एक अपूर्व या अदृष्ट का जनक होता है', यही कहा जाता रहा है। वैदिक उदात्त भावनाओं का या राष्ट्र अथवा समाज की भलाई या उत्कर्ष का उल्लेख उनके समर्थन में प्रायः नहीं किया गया। इससे भी वेदों के वास्तविक अध्ययनाध्यापन की उपेक्षा ही प्रतीत होती है। **अपूर्ववाद** की युक्ति तो स्पष्टतः अत्यन्त दुर्बल है। मनुष्य का विचार-पूर्वक किया हुआ ऐसा कौन-सा कार्य है जिससे अपूर्व उत्पन्न नहीं होता?

वैदिक धारा की परम्परा में याज्ञिक (श्रौत) कर्मकाण्ड तो शनैः-शनैः समाप्त-प्राय ही हो गया; पर शुष्क तथा अर्थहीन कर्मकाण्ड की प्रवृत्ति भारतवर्ष में बराबर बढ़ती ही रही। वह प्रवृत्ति आज भी हिन्दू-समाज में पूरे वेग के साथ प्रचलित है; जैसा हम आगे चलकर वर्तमान हिन्दू-धर्म की धारा के प्रसङ्ग में स्पष्ट करेंगे।

वर्तमान हिन्दू-धर्म में नये देवताओं के साथ-साथ नये कर्मकाण्ड का भी विकास हुआ। नवग्रह-पूजा आदि बिलकुल नयी पूजाएँ चलीं। परन्तु इस नवीन कर्मकाण्ड में बहुत करके उन्हीं प्राचीन वैदिक मन्त्रों से काम लिया गया; इसकी परवा ही नहीं की गयी कि उनके प्रयोग में कोई सार्थकता या वास्तविकता भी है या नहीं। अधिक से अधिक केवल देवता के नाम में और मन्त्र में शब्द-मात्र या अक्षर-मात्र का साम्य ही पर्याप्त मान लिया गया!

उदाहरणार्थ, नवग्रहों में से शनि की पूजा में **"शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु०"** (ऋग्० १०।९।४) इस मन्त्र का (जो कि वास्तव में 'आपः' या 'जलों' के संबन्ध का मन्त्र है) प्रयोग किया जाने लगा; केवल इस आधार पर कि 'शनि' में और मन्त्र के 'शन्नो' शब्दों में 'शन्' की ध्वनि समान है! इसी तरह के सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं।

वेदों की अध्ययनाध्यापन-परम्परा में इस प्रकार की घोर और अक्षम्य अनास्था के आ जाने पर, वेदों के विषय में **"त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्त-निशाचराः"** (अर्थात्, वेदों को भाँड़, धूर्त और राक्षसों ने बनाया है), **"वेद पढ़त ब्रह्मा मरे चारों वेद कहानि"** इस प्रकार के निराधार और अज्ञान-मूलक विचारों का फैलना स्वाभाविक था!

देवता-विषयक भावना का अपकर्ष

परिच्छेद ६ तथा १० में हमनें कहा है कि यद्यपि आपाततः वैदिक देवता अपनी-अपनी स्वतन्त्र पृथक् सत्ता रखते हुए प्रतीत होते हैं, तो भी वेदों के मन्त्रों में यत्र-तत्र स्पष्ट रूप से उनकी मौलिक आध्यात्मिक एकता का प्रतिपादन किया गया है। मन्त्रार्थ-ज्ञान-पूर्वक वैदिक यज्ञों के करने के समय तक, निश्चय ही **विद्वान् याज्ञिकों को** उस मौलिक आध्यात्मिक एकता का भान रहता होगा। तभी तो कहा जाता था—

"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" (ऋग्० १।१६४।४६)।

"सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभि-
रेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति"। (ऋग्० १०।११४।५)

अर्थात्, विद्वान् लोग एक ही मौलिक सत्ता या अध्यात्म-तत्त्व को भिन्न-भिन्न इन्द्र, मित्र, अग्नि आदि नामों से कहते हैं।

मन्त्रों में प्रायः आता है कि वैदिक देवता अपना-अपना कार्य परस्परोपकारक या सामञ्जस्य के भाव से ही करते हैं, विरोध-भाव से कभी नहीं।[1] इससे भी उनकी मौलिक आध्यात्मिक एकता ही प्रतीत होती है। ऐसा न होने पर, भिन्न-भिन्न वैदिक देवताओं में और उनके माननेवालों में पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष और तन्मूलक विरोध-भावना का पाया जाना स्वाभाविक होता।

उसी मौलिक तत्त्व के विषय में मन्त्रों में कहा गया है—

"स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु" (यजु० ३२।८)।
"वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोता इमाः प्रजाः" (अथर्व० १०।८।३८)

अर्थात्, मौलिक आध्यात्मिक तत्त्व सर्वत्र फैला हुआ है और ये सारी प्रजाएँ या सृष्टि उसी में ओत-प्रोत हैं।

बढ़ती हुई कृत्रिमता के दिनों में वैदिक कर्मकाण्ड में मन्त्रों के अर्थज्ञान की उपेक्षा का एक बड़ा दुष्परिणाम यह हुआ कि देवताओं की मौलिक एकता की भावना क्रमशः अधिकाधिक ओझल होती गयी, और अन्त में प्रायः बिलकुल ही लुप्त हो गयी।

यही नहीं, आगे चलकर तो, एक प्रकार से देवताओं के अपने अस्तित्व को भी मीमांसकों ने नहीं माना। पूर्वमीमांसा का सिद्धान्त है कि देवता मन्त्रमय होते हैं। अर्थात्, तत्तद् देवता के जो मन्त्र हैं वही देवता हैं; उनसे पृथक् देवता अपनी सत्ता नहीं रखते। कई प्रकार की युक्तियाँ इस सिद्धान्त के पक्ष में दी जाती हैं। परन्तु वास्तव में इस सिद्धान्त का मूल इसी विश्वास में है कि, किसी यन्त्र या मैशीन की तरह, याज्ञिक क्रिया-कलाप में ही स्वयं फल देने की शक्ति है। फिर चेतन देवता की आवश्यकता ही क्या है? प्रत्युत, चेतन देवता अपनी स्वतन्त्रता के कारण उस क्रियाकलाप की यान्त्रिक शक्ति में बाधा ही डाल सकता है। इसी कारण से मीमांसक लोग, देवता क्या, ईश्वर को भी नहीं मानते! मानते हैं केवल याज्ञिक क्रिया-कलाप की अक्षुण्णता को!

इस प्रकार याज्ञिक कर्म-काण्ड की अत्यधिक यान्त्रिकता क्रमशः, न केवल वैदिक देवता-वाद के लिए ही, किन्तु उसके आध्यात्मिक एकतावाद के लिए भी सर्व-नाश-कार सिद्ध हुई। इस स्थिति का नैतिक भावनाओं पर जो दुष्प्रभाव पड़ा, उसको हम आगे स्पष्ट करेंगे।

---

१. तु० "देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते" (ऋग्० १०।१९१।२)।

रूढ़िमूलक वर्ण-वाद की प्रवृत्ति का दुष्प्रभाव

वैदिक धारा के तृतीय काल में वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ और उसके अनन्तर धीरे-धीरे उसमें रूढ़ि-मूलकता की वृद्धि होने लगी, यह हमने ऊपर कहा है। उस परिस्थिति में उस व्यवस्था के गुण-दोष की कुछ चर्चा भी हम कर चुके हैं।

उक्त रूढ़ि-मूलकता के लाने में और उसको दृढ़ करने में याज्ञिक कर्मकाण्ड की अत्यधिक जटिलता का विशेष हाथ था, यह भी हम ऊपर दिखला चुके हैं।

भारतवर्ष के इतिहास में इस काल को हम एक प्रकार से याज्ञिक कर्मकाण्ड का काल कह सकते हैं। इस काल में देश के सामने कोई महान् राजनीतिक कार्य-क्रम नहीं दीखता। प्रायेण छोटे-छोटे राज्यों पर पुरोहितों की सहायता से राज्य करनेवाले राजा लोग, अपने भाग्य से पूर्णतया सन्तुष्ट होकर, एक प्रकार से आदर्श-हीन, पर चैन का जीवन व्यतीत करने लगे थे। उन दिनों देश में कोई बड़ी चर्चा थी, तो वैदिक यज्ञों की, उनमें दी जाने वाली बड़ी-बड़ी दक्षिणाओं की और पुरोहितों की।[१]

> ऐसे वातावरण में पनपता हुआ रूढ़िमूलक वर्ण-वाद अन्ततोगत्वा न तो तत्तद् वर्णों के लिए, न देश के लिए ही, हितकर सिद्ध होता है। यह सार्वत्रिक नियम है कि स्वच्छन्द-प्रवाह नदी-जल की अपेक्षा सर्वतः रुका हुआ तालाब का जल गन्दा हो ही जाता है। उसमें वह जीवनी शक्ति ही नहीं रहती जो नदी-जल में होती है। दूसरे, जीवन में खुली प्रतियोगिता की भावना के न रहने पर मनुष्य को आगे बढ़ने की प्रेरणा ही नहीं मिलती।

इसलिए रूढ़ि-मूलक वर्ण-व्यवस्था वास्तव में याज्ञिकों के लिए भी हितकर सिद्ध नहीं हो सकती थी। इससे कारण उनमें भी आलस्य, बुद्धि-मान्द्य आदि दोषों का आ जाना स्वाभाविक था, जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं। ऋग्वेद-संहिता में ही एक जगह कहा है—

"मो षु ब्रह्मेव तन्द्रयुर्भुवः" (ऋग्० ८।९२।३०)

---

१. देखिए—ऐतरेय-ब्राह्मण (८।२०—२३)।

यह मन्त्र अथर्ववेद (२०।६०।३) में भी आया है। इसका अर्थ है कि 'हे इन्द्र! तुम एक याज्ञिक ब्राह्मण की तरह आलसी न हो जाओ।'

एक दूसरे मन्त्र में बिना अर्थ-ज्ञान के वेद के मन्त्रों का पाठ-मात्र करने वालों के विषय में कहा है—

अधेन्वा चरति माययैष
वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्।
(ऋग्० १०।७१।५)

अर्थात्, पुष्प-फल-रूपी अर्थ के बिना जो केवल शब्दमात्र से (वेद-मन्त्र-रूपी) वाणी को पढ़ता है वह मानो दूध न देनेवाली कृत्रिम गौ के साथ घूमता-फिरता है।

आगे चलकर वेदाभ्यास जडता या मन्दता का प्रतीक ही माना जाने लगा था। तभी तो महाकवि कालिदास ने अपने विक्रमोर्वशी-नाटक (१।१०) में प्रजापति को भी 'वेदाभ्यासजडः' कहने का साहस किया है![1]

रूढ़ि-मूलक वर्ण-वाद से जो सबसे बड़ी हानि देश को हुई वह विभिन्न वर्णों में पृथक्त्व-भावना के बढ़ाने की थी।

वैदिक धारा के इतिहास में एक समय था जब कि समस्त आर्यजाति एकता की भावना से अनुप्राणित थी। उसके विस्तार और राजनीतिक उत्कर्ष का मुख्य आधार उसी एकता पर था। उसके पश्चात् जब वर्ण-भेद की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ उस समय भी, परम्परागत एकजातित्व की भावना के कारण, परस्पर घनिष्ठ अङ्गाङ्गि-भाव के आदर्श को ही वर्ण-व्यवस्था का आधार समझा जाता था। इसी कारण से वैदिक मन्त्रों में समस्त समाज और शूद्रों

---

१. इसी संबंध में वेद को बिना समझे रटनेवाले वैदिक को 'मन्द-प्रज्ञ' और 'अविपश्चित्' कहनेवाले इस प्रसिद्ध पद्य को भी देखिए—

"श्रोत्रियस्येव ते राजन्मन्दकस्याविपश्चितः। अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी॥" (महाभारत, शान्तिपर्व १०।१)। कुछ पाठ-भेद से यही पद्य महाभारत, उद्योगपर्व (१३२।६) में भी आया है।

इसी प्रसंग में भागवत (६।३।२५) का यह वचन भी देखने योग्य है—"प्रायो जडीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः।" यहाँ भी वेदाभ्यासी याज्ञिक को स्पष्टतः 'जडीकृतमति' कहा गया है।

सहित सब वर्णों के प्रति ममत्व-बुद्धि और हित-भावना का वर्णन मिलता है, जैसा कि हम परिच्छेद ९ में दिखला चुके हैं।

परन्तु यह स्थिति चिरकाल तक नहीं रही। वर्ण-भेद की प्रवृत्ति में रूढ़ि-मूलकता के बढ़ने के साथ-साथ विभिन्न वर्णों में पृथक्त्व-भावना के बढ़ाने का प्रयत्न स्पष्ट दिखायी देता है।

उदाहरणार्थ, गृह्य-सूत्रों के उपनयन-प्रकरण के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ प्राचीन गृह्यसूत्रों में विभिन्न वर्णों के ब्रह्मचारियों के लिए मेखला, दण्ड, वस्त्र आदि का कोई भेद प्रायः नहीं रखा गया है, वहाँ नवीन गृह्य-सूत्रों में वर्ण-भेद से विभिन्न मेखला आदि का विधान पाया जाता है।

अन्य क्षेत्रों में भी यही प्रवृत्ति बराबर बढ़ती हुई दिखायी देती है।

इस प्रवृत्ति का सबसे अधिक खेद-जनक प्रभाव शूद्र और आर्य के परस्पर संबंध पर पड़ा। परिच्छेद ९ में हम दिखला चुके हैं कि चारों वेदों में शूद्र के प्रति अन्याय्य अथवा कठोर दृष्टि कहीं नहीं पायी जाती। यही नहीं, वेद-मन्त्रों में तो अन्य वर्णों के समान शूद्र के प्रति भी सद्भावना और ममत्व का वातावरण स्पष्ट दिखायी देता है।

परन्तु वर्ण-भेद में रूढ़ि-मूलकता के बढ़ जाने पर उक्त स्थिति में मौलिक परिवर्तन दिखायी देने लगता है। उदाहरणार्थ, गौतमधर्मसूत्र के निम्न-लिखित वचनों को देखिए—

अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्र-प्रतिपूरण-
मुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः।
(गौ० ध० सू० २।३।४)

अर्थात्, वेद के सुनने पर शूद्र के कानों में राँगा या लाख भरवा देनी चाहिए, वेद के उच्चारण करने पर जिह्वा कटवा देनी चाहिए, और धारण करने पर शरीर (=हाथ) को कटवा देना चाहिए।

पिछले वैदिक काल में शूद्र के प्रति कठोर दृष्टि का यह केवल एक उदाहरण है। मनुस्मृति आदि में इसी प्रकार की अशोभन दृष्टि के अनेकानेक उदाहरण मिल सकते हैं।

हमारी समझ में शूद्रों के प्रति दृष्टि के इस महान् परिवर्तन का आधार वर्ण-भेद की बढ़ती हुई रूढ़ि-मूलकता की प्रवृत्ति पर ही हो सकता है। वर्णों में बढ़ती हुई पृथक्त्व-भावना का चरम उत्कर्ष इसी में हो सकता था।

आर्यजाति की मौलिक एकजातीयता की स्पृहणीय भावना के मुकाबले में पिछली खेद-जनक पृथक्त्व-भावना के लिए तनिक शतपथ-ब्राह्मण के निम्न-लिखित उद्धरण को देखिए—

"अथेतराः पृथङ् नानायजुर्भिरुपदधाति विशं तत्क्षत्रादवीर्यतरां करोति पृथग्वादिनीं नानाचेतसम्" ।

(शत० ब्रा० ८।७।२।३)

अर्थात्, चयन में वह दूसरी इष्टकाओं को पृथक् पृथक् यजुर्वेद के मन्त्रों से रखता है, जिससे क्षत्र की अपेक्षा पृथक्-पृथक् अर्थात् अनैक्य से बोलने वाली और विभिन्न-चित्तवाली प्रजा में दुर्बलता रहे।

यहाँ प्रजा के विषय में यह भावना कि उसमें किसी प्रकार एकता और एकचित्तता न आ सके और वह राजशक्ति के सामने दुर्बल ही रहे कितनी हीन और खेद-जनक है !

जनता के प्रति उपेक्षा और तिरस्कार की भावना के ऐसे ही अनेकानेक उदाहरण[1] ब्राह्मण-ग्रन्थों में पाये जाते हैं।

नैतिकता का ह्रास

सातवें परिच्छेद में हम बतला चुके हैं कि कोई भी धार्मिक कर्मकाण्ड मनुष्य की तद्विषयक स्वाभाविक प्रवृत्ति से प्रारम्भ होकर प्रायेण धीरे-धीरे बढ़ता हुआ पुरोहित-वर्ग के एकाधिकार की वस्तु बन जाता है। यह अवस्था अन्त में पुरोहित-वर्ग और जनता दोनों के लिए हानिकर सिद्ध होती है। इससे जहाँ एक ओर अकर्मण्यता, मूढ-ग्रह और अन्ध-विश्वास की वृद्धि होती है, वहाँ दूसरी ओर व्यावसायिक और दूकानदारी की अनियन्त्रित प्रवृत्ति के बढ़ने से नैतिकता के प्रायः सर्वनाश की स्थिति उपस्थित हो जाती है।

अत्यधिक बढ़ा हुआ याज्ञिक कर्मकाण्ड भी इस नियम का अपवाद नहीं हो सकता था, इसके लिए अनेक प्रमाण हमको प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं। उन्हीं में से कुछ प्रमाणों को यहाँ देना हम उचित समझते हैं।

ऋत्विजों की व्यावसायिक प्रवृत्ति का उल्लेख ऋग्वेद में ही इस प्रकार मिलता है—

तक्षा रिष्टं रुतं भिषग् ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छति। (ऋग्० ९।११२।१)

---

१. तु० "अत्ता वै क्षत्रियः। अन्नं विट्।" (शत० ब्रा० ६।१।२।२५)

अर्थात्, जैसे कारीगर (या मिस्तरी) टूटी हुई वस्तु के लिए, अथवा वैद्य बीमारी के लिए, इसी प्रकार ब्राह्मण ऋत्विज् सोम-याग करनेवाले के लिए इच्छुक रहता है।

ऋत्विज् किस प्रकार अपने ही यजमान का नाश कर सकता है या उसको हानि पहुँचा सकता है, इस विषय में **ऐतरेय-ब्राह्मण** से लिया गया नीचे का उद्धरण देखने योग्य है—

"यं कामयेत प्राणेनैनं व्यर्धयानीति वायव्यमस्य लुब्धं शंसेत्, ऋचं वा पदं वातीयात्। तेनैव तल्लुब्धम्। प्राणेनैवैनं तद् व्यर्धयति। ....यं कामयेत चक्षुषैनं व्यर्धयानीति मैत्रावरुणमस्य लुब्धं शंसेत्, ऋचं वा पदं वातीयात्। तेनैव तल्लुब्धम्। चक्षुषैवैनं तद् व्यर्धयति।" (ऐत० ब्रा० ३।३)

इस लम्बे प्रकरण में विस्तार से बतलाया है कि होता यदि चाहे तो अपने मन्त्रों (यहाँ 'प्रउग-शस्त्र') के पाठ में किसी प्रकार की गड़बड़ करके यजमान को अनेक प्रकार की हानि पहुँचा सकता है; यहाँ तक कि उसको अन्धा कर सकता है या उसको मार भी सकता है।

कर्मकाण्ड के नैतिक पतन की यह पराकाष्ठा है कि ऋत्विज् **अपने ही यजमान को** किसी भी प्रकार की हानि पहुँचाने की कामना करे!

ऋत्विजों द्वारा यजमानों को ठगने या लूटने की प्रवृत्ति का भी वर्णन **ऐतरेय-ब्राह्मण** में ही इस प्रकार मिलता है—

"यथा ह वा इदं निषादा वा सेलगा वा पापकृतो वा वित्तवन्तं पुरुषमरण्ये गृहीत्वा कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति, एवमेव त ऋत्विजो यजमानं कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति यमनेवंविदो याजयन्ति। एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह जनमेजयः पारीक्षितः:—एवंविदं हि वै मामेवंविदो याजयन्ति तस्मादहं जयामि...."

(ऐत० ब्रा० ८।११)

अर्थात्, जैसे दुष्ट चोर या लुटेरे जंगल में किसी धनवान् पुरुष को पकड़कर उसे गढ़े में फेंक कर उसका धन लेकर चम्पत हो जाते हैं; ऐसे ही मूर्ख ऋत्विज् उस यजमान को, जिसका वे यजन कराते हैं, गढ़े में ढकेलकर उसके धन को लेकर चम्पत हो जाते हैं। (इसीलिए) परीक्षित् के पुत्र जनमेजय ने कहा था कि मैं स्वयं याज्ञिक कर्मकाण्ड को जानता हूँ। विद्वान् ऋत्विज् ही मेरा यजन कराते हैं। इसी कारण से मेरी जय होती है।

अभिप्राय यह है कि यज्ञ के वास्तविक स्वरूप को न जानकर जो ऋत्विक् कर्म कराते हैं, वे वास्तव में यजमान को लूटने वाले लुटेरे होते हैं, या लुटेरों की प्रवृत्ति उनमें आ जाती है।

इसी प्रकार ऐतरेय-ब्राह्मण (३।४६) में ही ऐसे ऋत्विजों की निन्दा की है जो लोभादि निम्न-प्रवृत्तियों के वशीभूत होकर यज्ञ कराते हैं।

ऐतरेय-ब्राह्मण उस समय का ग्रन्थ है जबकि याज्ञिक कर्मकाण्ड अपने पूरे उत्कर्ष में रहा होगा। उस समय भी उसमें काफ़ी अनैतिकता की संभावना आ गयी थी, ऐसा ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट प्रतीत होता है। ऐसी दशा में उसके अपकर्ष के दिनों में अनैतिकता किस सीमा तक पहुँची होगी, इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है।[1]

वैदिक धारा का ह्रास और प्राचीन दृष्टि

प्रथम इसके कि हम प्रकृत विषय का उपसंहार करें यह उचित प्रतीत होता है कि वैदिक धारा के ह्रास की परिस्थिति को थोड़ा-बहुत प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों के शब्दों में ही दिखला दिया जाए।

उपनिषदों के निम्नलिखित प्रमाण निष्प्राण याज्ञिक क्रियाकलाप से उद्विग्नता को स्पष्टतया प्रकट करते हैं—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥ (मुण्डकोपनिषद् १।२।७)
अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥[2] (कठोपनिषद् १।२।५)

अर्थात्, ये आदर्श-हीन जटिल यज्ञ-रूपी कर्म अदृढ नौका के समान हैं। अविवेकी लोग इनको ही जीवन का लक्ष्य बनाकर अपनी अन्ध-वासनाओं के

---

१. पिछले काल में याज्ञिकों के नैतिक पतन के संबन्ध में संस्कृतज्ञ विद्वानों में प्रसिद्ध निम्नलिखित वचन को भी देखिए—

"महाश्चर्यं महाश्चर्यं यज्ञे कमठबन्धनम्!!
महामूर्खस्य यागोऽयं महिषीशतदक्षिणः।
तवार्धं च ममार्धं च मा विघ्नं कुरु पण्डित!"

२. यह पद्य मुण्डकोपनिषद् (१।२।८) में भी कुछ पाठ-भेद से आया है।

भँवर में ही पड़े रहते हैं और वास्तविक कल्याण को नहीं प्राप्त कर सकते। मूढ लोग, अपने को पण्डित और बुद्धिमान् समझते हुए, पर वास्तव में अज्ञानवश आदर्शहीन याज्ञिक क्रिया-कलाप में फँसे हुए, आध्यात्मिक उन्नति के सरल-सीधे मार्ग में अग्रसर नहीं हो पाते। वे मान, दम्भ, मोह के टेढ़े मार्ग में ही फँसकर अपने जीवन को नष्ट करते हैं। उनकी दशा वास्तव में अन्धे के पीछे चलने-वाले अन्धों के समान ही होती है।

शुष्क आदर्श-हीन याज्ञिक कर्म-काण्ड को ही लक्ष्य में रखकर, वेदों के और वैदिक यज्ञों को करने-कराने वालों के विषय में कहे गये, भगवद्गीता के कुछ वचन नीचे दिये जाते हैं—

> यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः :
> वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥
> कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
> क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥
> यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
> तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥
> (गीता २।४२, ४३, ४६)

> आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
> यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥
> (गीता १६।१७)

अर्थात्, वैदिक वादों में विश्वास रखनेवाले अविद्वान् लोग ही विभिन्न कामनाओं से प्रेरित होकर, भोग और एश्वर्य की प्राप्ति के लिए, जटिल याज्ञिक क्रिया-कलाप के साथ, बिना समझे हुए, केवल सुनने में रमणीय वैदिक मन्त्रों का पाठ करते हैं। सर्वतः जल के उपलब्ध होने पर छोटे-से जलाशय आदि की जैसी उपयोगिता होती है, वैसी ही उपयोगिता तात्त्विक दृष्टि रखनेवाले विद्वान् के लिए सब वेदों की है। अपने को बड़ा माननेवाले, विनय से रहित और धन-मान के मद से युक्त अज्ञानी लोग, दम्भ के साथ, अविधि-पूर्वक नाम-मात्र के वैदिक यज्ञों को किया करते हैं।

अन्तमें, श्रीमद्भागवत से वैदिक याज्ञिकों की तात्कालिक दुरवस्था और अनैतिकता को वर्णन करनेवाले कुछ अंशों को देकर हम इस विषय को समाप्त करते हैं—

.............मुह्यन्त्याम्नायवादिनः ॥
कर्मण्यकोविदाः स्तब्धा मूर्खाः पण्डितमानिनः ।
रजसा घोरसंकल्पाः कामुका अहिमन्यवः ।
दाम्भिका मानिनः पापाः.........॥

वदन्ति तेऽन्योन्यमुपासितस्त्रियो
गृहेषु मैथुन्यपरेषु चाशिषः ।
यजन्त्यसृष्टान्नविधानदक्षिणं
वृत्त्यै परं घ्नन्ति पशूनतद्विदः ॥

(भाग० ११।५।५–८)

अर्थात्, याज्ञिक कर्मकाण्ड को करनेवाले वैदिक लोग मूढावस्था में पड़े हुए होते हैं। अभिमानी, मूर्ख, अपने को पण्डित समझनेवाले वे कर्मकाण्ड के तत्त्व को नहीं जानते। वे कामी, सर्प के समान क्रोधी, दम्भी, मानी और पापी होते हैं। रजो-गुणी होने के कारण उनके संकल्प क्रूर होते हैं। वे स्वयं एक-दूसरे की स्त्रियों का सेवन करते हुए, उन्हीं घरों में आशीर्वादात्मक मन्त्रों का पाठ करते हैं जो विषयोपभोग-परायण होते हैं। शास्त्र की दृष्टि से उचित-अनुचित का विचार छोड़कर वे केवल आजीविका की दृष्टि से यज्ञ कराते हैं और हिंसा की परवा न करके यज्ञों में पशुओं की बलि देते हैं।

श्रीमद्भागवत के ही एक दूसरे प्रकरण में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण, भक्ति ज्ञान आदि के स्वाभीष्ट मार्गों की व्याख्या के प्रसङ्ग में, याज्ञिक-कर्मकाण्ड की दुरवस्था को दिखाते हुए कहते हैं—

हिंसाविहारा ह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया ।
यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन् खलाः ॥

रजःसत्त्वतमोनिष्ठा रजःसत्त्वतमोजुषः ।
उपासत इन्द्रमुख्यान् देवादीन् न तथैव माम् ॥

इष्ट्वेह देवता यज्ञैर्गत्वा रंस्यामहे दिवि ।
तस्यान्त इह भूयास्म महाशाला महाकुलाः ॥

एवं पुष्पितया वाचा व्याक्षिप्तमनसां नृणाम् ।
मानिनां चातिस्तब्धानां मद्वार्तापि न रोचते ॥

(भाग० ११।२१।३०, ३२–३४)

अर्थात्, खल लोग अपने सुख की इच्छा से प्रेरित होकर यज्ञों में बलि दिये

हुए पशुओं की हिंसा में विहार करते हैं।[1] वे उक्त प्रकार के हिंसामय यज्ञों से देवताओं का तथा पित्रादि का यजन करते हैं। रजस् सत्त्व और तमस् में आस्था रखनेवाले वे इन्द्र आदि देवों की उपासना करते हैं, भगवान् की नहीं। 'इस जन्म में यज्ञों द्वारा देवताओं का यजन करके हम स्वर्ग में जाकर रमण करेंगे, और तदनन्तर पुनः इस लोक में बड़े कुलों में जन्म लेकर ऐश्वर्य का उपभोग करेंगे'—इस प्रकार की आपाततः रमणीय बातों से जिनके चित्त चञ्चल हैं ऐसे अभिमानी तथा अतिस्तब्ध लोगों को मेरी (=भगवान् के संबन्ध की) बात भी नहीं रुचती।

ऊपर के वचनों पर किसी प्रकार की टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। आदर्श-हीन शुष्क याज्ञिक कर्मकाण्ड के कारण लोगों की वेदों में अनास्था का और सामान्य रूप से याज्ञिकों की खेद-जनक अनैतिकता के साथ-साथ निन्द-नीय व्यावसायिक बुद्धि का इससे अधिक प्रमाण और क्या हो सकता है!

वैदिक धारा के ही क्यों, किसी भी सांस्कृतिक धारा के ह्रास के लिए ऐसे कारण पर्याप्त होते हैं।

उपसंहार

जो कुछ ऊपर कहा है उससे स्पष्ट है कि वैदिक धारा के ह्रास का मुख्य कारण अत्यधिक जटिलता और विस्तार को पहुँचा हुआ उसका आदर्शहीन शुष्क कर्मकाण्ड ही था। आर्यजाति में रूढ़ि-मूलक वर्ण-वाद की प्रवृत्ति के लाने में और उसको दृढ़ करने में भी उक्त कर्मकाण्ड का विशेष हाथ था। इसी के कारण, जहाँ एक ओर विभिन्न वर्णों में पृथक्त्व-भावना की वृद्धि हुई, वहाँ दूसरी

---

१. तु० "इज्यायज्ञश्रुतिकृतैर्यो मार्गैरबुधोऽधमः। हन्याज्जन्तून् मांसगृध्नुः स वै नरकभाङ् नरः॥ (महाभारत, अनुशासन-पर्व, ११५।४७)।

याज्ञिक कर्मकाण्ड में पशुओं की बलि के प्रसंग ब्राह्मण-ग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में भरे पड़े हैं। सवनीय पशु के अवयवों को ऋत्विजों में बाँटने के विधान का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। महाभारत में वर्णित राजा रन्तिदेव के सत्र में प्रतिदिन सहस्रों पशुओं की बलि दी जाने की कथा प्रसिद्ध है। यहाँ जो प्रमाण हमने दिये हैं उनसे यह स्पष्ट है कि याज्ञिक लोग प्रायः मांसाहार के प्रलोभन से यज्ञों में प्रवृत्त होते थे। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि वैदिक यज्ञों की बढ़ती हुई पशु-हिंसा की प्रवृत्ति भी वैदिक धारा के ह्रास में एक प्रमुख कारण थी।

और शूद्रों के प्रति कठोर और अशोभन दृष्टि का सूत्रपात हुआ। इसीने विशेष रूप से रूढि-मलक पुरोहित-वर्ग को जन्म दिया, जिसकी क्रमशः बढ़ती हुई व्यावसायिक बुद्धि और अनैतिकता ने वैदिक धारा की ह्रासोन्मुखता को और भी बढ़ा दिया। आदर्श-हीन याज्ञिक कर्मकाण्ड और नैतिकता की भावना से शून्य-प्राय ऋत्विजों के कारण वेदों के अर्थ-ज्ञान-पुरस्सर अध्ययनाध्यापन की परम्परा और उनकी उदात्त भावनाओं का वातावरण दोनों नष्ट-प्राय हो गये।

यह समय ऐसा था जब कि जनता को कोई धार्मिक प्रेरणा और जीवन-प्रद सन्देश कहीं से भी मिलना प्रायः बन्द हो गया था, और वैदिक धारा का प्रवाह अत्यन्त मन्द पड़ गया था।

धार्मिक और नैतिक वातावरण की यही महान् शून्यता अथवा रिक्तता वास्तव में औपनिषद तथा जैन-बौद्धादि धाराओं के अगले आन्दोलनों की जननी हुई।

प्रकृति का नियम है कि वातावरण के निस्तब्ध हो जाने पर ही आँधी आती है।

वैदिक धारा के ह्रास की कहानी हम यहीं समाप्त करते हैं। यह अत्यन्त हृदय-विदारक है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं है। पर यह सत्य है, इसमें भी सन्देह नहीं है। इसको मानना ही पड़ेगा; इसको माने बिना न तो हम भारतीय संस्कृति की अगली प्रगति को समझ सकते हैं, न अगली धाराओं के उदय को।

हमारा कर्तव्य

वैदिक धारा का ह्रास एक ऐतिहासिक सत्य है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वेद और वैदिक वाङ्मय का महत्त्व अभिनव भारत के लिए नहीं है।

यह हमारा परम सौभाग्य है कि वे अब भी सुरक्षित हैं। उनकी हमने अक्षम्य महान् उपेक्षा की है, सहस्रों वर्षों से। पर **अब समय आ गया है जब कि आवश्यकता है उनके वास्तविक अनुशीलन और स्वाध्याय की; किसी संकीर्ण सांप्रदायिक दृष्टि से नहीं, किन्तु अत्यन्त उदार मानवीय भावना से।**

वेद हमारे राष्ट्र की अमूल्य शाश्वत निधि तो हैं ही; पर अपनी अद्वितीय उदात्त भावनाओं और अमूल्य जीवन-संदेश के कारण उनका सार्वकालिक और सार्वभौम महत्त्व भी है। इस का गर्व और गौरव **प्रत्येक भारतीय** को होना चाहिए।

यह सदा स्मरण रखने की बात है कि वेदों के विषय में संकीर्ण सांप्रदायिक दृष्टि न केवल उनके महत्त्व को घटाती है, अपितु उनको दूसरी सांस्कृतिक धाराओं के साथ प्रतिस्पर्धा के बहुत निम्न धरातल पर भी ले आती है।

संकीर्ण सांप्रदायिक दृष्टि के दोषों की विशेष व्याख्या हम पहले ही (परिच्छेद १–४ में) कर चुके हैं। उनको यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

अन्त में हम यही कहना चाहते हैं—

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे ॥ (अथर्व० ६।१०८।२)

अर्थात्, ऋषियों द्वारा संस्तुत, ब्रह्मचारियों से सेवित, वैदिक मन्त्रों को प्रकाश में लाने वाली, **वेदमय प्रथम मेधा** का हम आवाहन करते हैं जिससे समस्त दैवी शक्तियों का सान्निध्य और संरक्षण हमको मिल सके!

इसका अर्थ यही है कि वह **दिव्य मेधा**, जिसने ऋषियों द्वारा वैदिक धारा को प्रवाहित किया था, जिस ने भारतीय संस्कृति के उषः-काल में विश्व में व्याप्त उस मौलिक तत्त्व का साक्षात्कार किया था जिसकी दिव्य विभूतियों का वैदिक देवताओं के रूप में मन्त्रों में गान किया गया है, और जिसने मानो प्रकाशमय आनन्दमय लोकों से लाकर मानव-जीवन के लिए दिव्य संदेशों को श्रुति-मधुर पवित्र शब्दों में सुनाया था, **भारतीय संस्कृति के अमृत-स्रोत के रूप** में अब भी वैदिक मन्त्रों में सुरक्षित है।

शुष्क आदर्श-हीन याज्ञिक कर्म-काण्ड के रूप में वैदिक धारा के ह्रास के हो जाने पर भी, वह स्वयं अजर और अमर है। हमारा पवित्र कर्तव्य है कि हम परम-तीर्थ-रूप उस अमृत-स्रोत तक पहुँच कर, उसमें अवगाहन कर, उसकी दिव्य पवित्रता और संजीवनी शक्ति का स्वयं अनुभव करें; और भारतीय संस्कृति के लिए उसकी व्यापक देन की बेल को, जो उस अमृत-प्रवाह से विच्छिन्न होकर सूख रही है, उस अमृत-स्रोत से पुनः संबन्ध स्थापित कर, उसको फिर से उज्जीवित और हरा-भरा करें; जिससे अभिनव भारत के लिए वह पुनः फूले और फले और साथ ही अपने सौरभ और प्रसाद से विश्व को प्रसन्नता, सन्तोष और शान्ति प्रदान कर सके। वेद ने स्वयं कहा है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याᳬ शूद्राय चार्या-
य च स्वाय चारणाय च।
प्रियो देवानां दक्षिणायै दा-
तुरिह भूयासम्। अयं मे
कामः समृध्यताम्।
उप मादो नमतु।
(यजु० २६।२)

—×—

प्रथम परिशिष्ट

(क) वैदिक धारा का अमृत-स्रोत

(ख) वैदिक-सूक्ति-मञ्जरी

(ग) ब्राह्मणीय-सूक्ति-मञ्जरी

(घ) व्रत से आत्म-शुद्धि

(ङ) ब्रह्मचर्य

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः।
(यजु० ३२।३)

उसका यश सर्वत्र फैला हुआ है। उसकी प्रतिमा या उपमान नहीं हो सकता।

सब देवता उसी की विभूति हैं

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्य-
ग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः। (ऋग्० १।१६४।४६)

एक ही मूलतत्त्व को विद्वान् अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि अनेक नामों से कहते हैं।

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
(ऋग्० १०।११४।५)

एक ही सर्व-व्यापक तत्त्व को विद्वान् कवि वचनों द्वारा अनेक रूपों में कल्पित करते हैं।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥
(यजु० ३२।१)

उसी मूलतत्त्व को अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र (=भास्वर) ब्रह्म, अप् (=जल) और प्रजापति कहा जाता है। अथवा, अग्नि आदि सब उसी की विभूतियाँ हैं।[1]

---

१. तु० "अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।" (गीता ७।६–९)

तथा,

"यतो भूतानि जायन्ते यत्र तेषां लयो मतः।
यदाश्रयेण तिष्ठन्ति तत्त्वं तन्नित्यमव्ययम्॥
सत्यं ब्रह्म परं धाम कर्म 'धर्म्मं' प्रजापतिः।
शक्तिर्माता शिवो विष्णू राम ओंकार एव च॥
प्रेमेत्यादि पदं मूलतत्त्ववाचि न संशयः।
तदेव तत्त्वं गीतायामहंशब्देन कथ्यते॥
(रश्मिमाला ६०।१, १५–१६)

उस परम देव की महिमा

महीरस्य प्रणीतयः पूर्वीरुत प्रशस्तयः ।
नास्य क्षीयन्त ऊतयः ॥ (ऋग्० ६।४५।३)

परमैश्वर्यशाली भगवान् की लीला या चरित्रों की कोई सीमा नहीं है। इस अनन्तानन्त विश्वप्रपंच के निर्माता के संख्यातीत गुणों का गान कौन कर सकता है? हमारा कल्याण इसी में है कि हमको सदा यह विश्वास रहे कि भगवान् सबके रक्षक हैं। इस सारे विश्व की रचना का एकमात्र उद्देश्य हमारा कल्याण ही है।[1]

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
(यजु० ३१।१८)

सर्वत्र ओत-प्रोत यह महान् देवाधिदेव सूर्य के समान अपने तेजोमय रूप को सर्वत्र फैलाये हुए भी हमारे अज्ञानान्धकार के कारण हमसे तिरोहित है। उसको जानकर ही मनुष्य मृत्यु की भावना को अतिक्रमण कर सकता है। अमृतत्व अथवा विशाल जीवन की प्राप्ति का कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

आदर्श प्रार्थना

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ (यजु० ३०।३५)

अर्थात्, हम सब सवितृ-देव के उस प्रसिद्ध वरणीय तेजोमय स्वरूप का ध्यान करते हैं जो हम सब की बुद्धियों को प्रेरणा प्रदान करे!

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम् ।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे ॥ (अथर्व० ६।१०८।२)

ऋषियों द्वारा संस्तुत, ब्रह्मचारियों से सेवित, ज्ञान का प्रकाश करनेवाली और स्वयं ज्ञानमय उस श्रेष्ठ मेधा-शक्ति का हम आह्वान करते हैं जिससे समस्त दैवी शक्तियों का सान्निध्य और संरक्षण हमको प्राप्त हो सके!

---

१. तु० "[illegible] तथा ।
नूनं सा प्रथमा बुद्धिश्चेतना चैव मन्यताम् ॥
तया सहेतुकं विश्वमाब्रह्माण्डं व्यवस्थितम् ।
चाल्यते हितभावेन तामेवाहं समाश्रये ॥
(रश्मिमाला ६६।१-२)

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु (यजु० ३४।१)

मेरे मन के संकल्प शुभ और कल्याणमय हों !

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद् भद्रं तन्न आ सुव ।। (यजु० ३०।३)

अर्थात्, हे देव सवितः ! समस्त दुर्गुणों को हमसे दूर कीजिए, और जो कल्याण-प्रद है उसे हमें प्राप्त कराइए !

परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा
मा सुचरिते भज । (यजु० १९।३०)

हे प्रकाश-स्वरूप अग्नि-देव ! मुझे दुश्चरित से बचाकर सुचरित में दृढ़-तया स्थापित कीजिए ।

भद्रं नो अपि वातय मनः (ऋग्० १०।२०।१)

भगवन् ! ऐसी प्रेरणा कीजिए जिससे हमारा मन भद्र-मार्ग का ही अनुसरण करे ।

भद्रं भद्रं न आभर (ऋग्० ८।९३।२८)

भगवन् ! हमें बराबर भद्र की प्राप्ति कराइए ।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
(यजु० २५।२१)

हे यजनीय देवगण ! हम कानों से भद्र को ही सुनें और आँखों से भद्र को ही देखें ।

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽ-
दब्धासो अपरीतास उद्भिदः । (यजु० २४।१४)

हमको ऐसे शुभ संकल्प प्राप्त हों जो सर्वथा अविचल हों, जिनको साधारण मनुष्य नहीं समझते और जो हमें उत्तरोत्तर उत्कृष्ट जीवन की ओर ले जाने वाले हों ।

जीवन की दार्शनिक दृष्टि

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।। (यजु० ४०।२)

" मनुष्य को चाहिए कि वह अपने कर्तव्य कर्मों को करता हुआ ही पूर्ण आयु पर्यन्त जीने की इच्छा करे। उसका कल्याण इसी में है; कर्तव्य कर्मों को छोड़कर भागने में नहीं। कर्म-बन्धन से बचने का यही उपाय है।[1]

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥
(यजु० ४०।१)

सारे विश्व में अन्तर्यामी भगवान् व्याप्त हैं। कर्म करने पर ईश्वर द्वारा जो भी फल प्राप्त हो उसका तुम उपभोग करो। जो दूसरे को प्राप्त है उस पर अपना मन मत चलाओ।[2]

सः......याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः
समाभ्यः। (यजु० ४०।८)

हमारे जीवन के ईश्वर-प्रदत्त पदार्थों में सदा ही योग्यता और औचित्य का आधार होता है।

अदीनाः स्याम शरदः शतम्। भूयश्च शरदः शतात्।
(यजु० ३६।२४)

हम सौ वर्ष तक और सौ वर्ष से भी अधिक काल तक अदीन होकर रहें। अर्थात्, हम जीवन के महत्त्व को समझें और दीनता के भाव से अपने को दूर रखते हुए सदा उन्नति-पथ पर आगे बढ़ते रहें।

इन्द्र इच्चरतः सखा (ऐतरेय-ब्राह्मण ७।१५)

जो स्वयं उद्योग करता है भगवान् उसी की सहायता करते हैं।

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः (ऋग्० ४।३३।११)

जो श्रम नहीं करता उसके साथ देवता मित्रता नहीं करते।

यादृश्मिन् धायि तमपस्यया विदत् (ऋग्० ५।४४।८)

---

१. तु० "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥" (गीता २।४७)

२. तु० "कर्म कृत्वा ततस्तस्य फलप्राप्तावनुत्सुकः। प्रसन्नश्च निरुद्वेगः स्वस्थ आसीत पण्डितः॥ प्रभौ कर्मफलन्यासस्तस्मै फलसमर्पणम्। शरणागतिरप्येषा भक्तानां परिभाषया॥ (रश्मिमाला १७।४–५)

मनुष्य अपने ध्येय को श्रम और तप से ही प्राप्त कर सकता है।

अस्ति रत्नमनागसः (ऋग्० ८।६७।७)

निष्पाप मनुष्य के लिए निश्चित अमूल्य रत्न स्वयं उपस्थित हो जाते हैं।[1]

जीवन का लक्ष्य

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ (यजु० २०।२१)

अज्ञानरूपी अन्धकार से उत्तरोत्तर प्रकाश की ओर बढ़ते हुए हम, देवताओं में सूर्य के समान, उत्तम ज्योति अर्थात् सर्वोत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त करें।[2]

लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधि।
(ऋग्० ९।११३।९)

भगवन्! मुझे उस पूर्णता की अवस्था को प्राप्त कराइए, जहाँ केवल प्रकाश ही प्रकाश है।

परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु (अथर्व० १८।३।६२)

भगवन्! अपूर्ण जीवन की अवस्था से हमें पूर्णता के जीवन को प्राप्त कराइए।

उदायुषा स्वायुषोदस्थाम् (यजु० ४।२८)

हम उत्कृष्ट और शुभ जीवन के लिए उद्योग-शील हों!

प्रतार्यायुः प्रतरं नवीयः (ऋग्० १०।५९।१)

भगवन्! हम नवीन से नवीनतर और उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर जीवन की ओर बढ़ते रहें।

जीवन-संगीत

जीवेम शरदः शतम्। बुध्येम शरदः शतम्।
रोहेम शरदः शतम्। पूषेम शरदः शतम्।
भवेम शरदः शतम्। भूषेम शरदः शतम्।
भूयसीः शरदः शतात्॥ (अथर्व० १९।६७।१-८)

---

१. तु० "अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।" (योगसूत्र २।३७)

२. तु० "उत्तरोत्तरमुत्कर्षि जीवनं शाश्वतं हि नः। अस्पृष्टं तमसा चापि मोहरूपेण सर्वथा॥" (रश्मिमाला २।७)

हम गौ और घोड़ों से भी अधिक काल तक जीवन-यात्रा करें, अपने ज्ञान को बराबर बढ़ाते रहें, उत्तरोत्तर उत्कृष्ट उन्नति को प्राप्त करते रहें, पुष्टि और दृढ़ता को प्राप्त करते रहें, आनन्दमय जीवन व्यतीत करते रहें, और समृद्धि, ऐश्वर्य तथा गुणों से अपने को भूषित करते रहें।

आदर्श-जीवन

कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे (ऋग्० १।३६।१४)

भगवन्! जीवन-यात्रा में हमें समुन्नत कीजिए।

विश्वदानीं सुमनसः स्याम
पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्? (ऋग्० ६।५२।५)

हम सदा प्रसन्न-चित्त रहते हुए उदीयमान सूर्य को देखें!

मदेम शतहिमाः सुवीराः (अथर्व० २०।६३।३)

अर्थात्, हमारी सन्तानें वीर हों और हम अपने पूर्ण जीवन को प्रसन्नतापूर्वक ही व्यतीत करें!

यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत्। (यजु० १६।४)

हमारी जीवन-चर्या ऐसी हो जिससे यह सारा जगत् हमको व्याधियों से बचाकर प्रसन्नता देने वाला हो।

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
.....तत्र माममृतं कृधि॥ (ऋग्० ९।११३।११)

भगवन्! मुझे सदा आनन्द, मोद, प्रमोद और प्रसन्नता की मनःस्थिति में रखिए।

विश्वाहा वयं सुमनस्यमानाः (ऋग्० ३।७५।१८)

हम सदा ही अपने को प्रसन्न रखें!

व्रत का जीवन[1]

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि॥ (यजु० १।५)

---

१. 'व्रत' के संबन्ध में इसी परिशिष्ट का (घ) भाग देखिए।

व्रतपति अग्नि-देव ! आप शक्तियों के एकमात्र नेता हैं। जो शुभ संकल्प के साथ सत्य-मार्ग पर चलना चाहते हैं, आप उनकी सहायता अवश्य करते हैं। मैं असत्य को छोड़कर सत्य-मार्ग पर चलने का व्रत ले रहा हूँ। आप मुझे इस व्रत के पालन की सामर्थ्य दीजिए।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ।।
(यजु० १९।३०)

व्रताचरण से ही मनुष्य को दीक्षा अर्थात् उन्नत जीवन की योग्यता प्राप्त होती है। दीक्षा से दक्षिणा अथवा प्रयत्न की सफलता प्राप्त होती है। दक्षिणा से अपने जीवन के आदर्शों में श्रद्धा, और श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है।

ब्रह्मचर्य[1]

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः ।
(अथर्व० ११।५।२४)

ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करनेवाला प्रकाशमान ब्रह्म (=समष्टि-रूप ब्रह्म अथवा ज्ञान) को धारण करता है और उसमें समस्त देवता ओत-प्रोत होते हैं (अर्थात्, वह समस्त दैवी शक्तियों से प्रकाश और प्रेरणा को प्राप्त कर सकता है)।

ब्रह्मचारी....श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति । (अथर्व० ११।५।४)

ब्रह्मचारी तप और श्रम का जीवन व्यतीत करता हुआ समस्त राष्ट्र के उत्थान में सहायक होता है।

आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते । (अथर्व० ११।५।१७)

आचार्य ब्रह्मचर्य द्वारा ही ब्रह्मचारियों को अपने शिक्षण और निरीक्षण में लेने की योग्यता और क्षमता को संपादन करता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति । (अथर्व० ११।५।१७)

ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा अपने राष्ट्र की रक्षा में समर्थ होता है।

इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् । (अथर्व० ११।५।१९)

---

१. ब्रह्मचर्य के संबन्ध में इसी परिशिष्ट का (क) भाग देखिए।

* संयत जीवन से रहने वाला मनुष्य ब्रह्मचर्य द्वारा ही अपनी इन्द्रियों को पुष्ट और कल्याणोन्मुख बनाने में समर्थ होता है।

ऋत और सत्य की भावना[1]

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्
ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति ।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द
कर्णा बुधानः शुचमान आयोः ॥
ऋतस्य दृळ्हा धरुणानि सन्ति
पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि ।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष
ऋतेन गाव ऋतमा विवेशुः ॥
(ऋग्० ४।२३।८९)

ऋत अनेक प्रकार की सुख-शान्ति का स्रोत है;
ऋत की भावना पापों को विनष्ट करती है।
मनुष्य को उद्बोधन और प्रकाश देने वाली
ऋत की कीर्ति बहिरे कानों में भी पहुँच चुकी है।
ऋत की जड़ें सुदृढ़ हैं;
विश्व के नाना रमणीय पदार्थों में ऋत मूर्तिमान् हो रहा है।
ऋत के आधार पर ही अन्नादि खाद्य पदार्थों की कामना की जाती है;
ऋत के कारण ही सूर्य-रश्मियाँ जल में प्रविष्ट हो उसको ऊपर ले जाती हैं।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः ।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः ॥
(यजु० १६।७७)

सृष्टिकर्ता परमेश्वर ने सत्य और असत्य के रूपों को देख कर पृथक्-पृथक्

---

१. बाह्य जगत् की सारी प्रक्रिया विभिन्न प्राकृतिक नियमों के अधीन चल रही है। परन्तु उन सारे नियमों में परस्पर-विरोध न हो कर एकरूपता या ऐक्य विद्यमान है। इसी को ऋत कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन के प्रेरक जो भी नैतिक आदर्श हैं, उन सब का आधार सत्य है। अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति सच्चा रहना, यही सत्य है, यही वास्तविक धर्म है।

कर दिया है। उनमें से श्रद्धा की पात्रता सत्य में ही है, और अश्रद्धा की अनृत या असत्य में।

वाचः सत्यमशीय (यजु० ३९।४)

मैं अपनी वाणी में सत्य को प्राप्त करूँ!

देवा देवैरवन्तु मा।...सत्येन सत्यम्.....(यजु० २०।११-१२)

समस्त दैवी शक्तियाँ मेरी रक्षा करें और मुझे सत्य में तत्पर रहने की शक्ति प्रदान करें!

सत्यं च मे श्रद्धा च मे...यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजु० १८।५)

यज्ञ द्वारा मैं सत्य और श्रद्धा को प्राप्त करूँ!

सा मा सत्योक्तिः परि पातु विश्वतः। (ऋग्० १०।३७।२)

सत्य-भाषण द्वारा मैं सब बुराइयों से अपने को बचा सकूँ!

पवित्रता की भावना

...देव सवितः...मां पुनीहि विश्वतः। (यजु० १९।४३)

हे सवितृ-देव! मुझे सब प्रकार से पवित्र कीजिए।

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
अथो अरिष्टतातये ॥ (अथर्व० ६।१९।२)

हे पवित्रता-संपादक देव! मुझे बुद्धि, शक्ति, जीवन और निरापद् आत्म-रक्षा के लिए पवित्र कीजिए।

आत्म-विश्वास की भावना

अहमिन्द्रो न पराजिग्ये (ऋग्० १०।४८।५))

मैं इन्द्र हूँ, मेरा पराजय नहीं हो सकता।

यथा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः।
(अथर्व० ६।५८।३)

सृष्टि के समस्त पदार्थों में मैं सबसे अधिक यश वाला हूँ। अर्थात् मनुष्य का स्थान सृष्टि के समस्त पदार्थों से ऊँचा है।

पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम् (शतपथब्रा० २।५।१।१)

सब प्राणियों में मनुष्य सृष्टिकर्ता परमेश्वर के अत्यन्त समीप है।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् ।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ।। (अथर्व० १२।१।५४)

मैं स्वभावतः विजय-शील हूँ। पृथ्वी पर मेरा उत्कृष्ट पद है। मैं विरोधी शक्तियों को परास्त कर, समस्त विघ्न-बाधाओं को दबा कर प्रत्येक दिशा में सफलता को पाने वाला हूँ।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।। (यजु० ४०।३)

आत्मघात या आत्म-चेतना की विस्मृति-रूप आत्महत्या (अर्थात्, जीवन में आत्म-विश्वास की भावना का अभाव) न केवल व्यक्तियों के लिए, किन्तु जातियों और राष्ट्रों के लिए भी, किसी भी प्रकार की प्रेरणा से विहीन अज्ञानान्धकार में गिरा कर सर्वनाश का हेतु होती है।

ओजस्वी जीवन

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि,
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि,
बलमसि बलं मयि धेहि,
ओजोऽस्योजो मयि धेहि,
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि,
सहोऽसि सहो मयि धेहि ।। (यजु० १९।९)

मेरे आदर्श देव !
आप तेजः-स्वरूप हैं, मुझमें तेज को धारण कीजिए !
आप वीर्य-रूप हैं, मुझे वीर्यवान् कीजिए !
आप बल-रूप हैं, मुझे बलवान् बनाइए !
आप ओजः-स्वरूप हैं, मुझे ओजस्वी बनाइए !
आप मन्यु[1]-रूप हैं, मुझमें मन्यु को धारण कीजिए !
आप सहः[2]-स्वरूप हैं, मुझे सहस्वान् कीजिए !

---

१. मन्यु=अनौचित्य को देख कर होने वाला क्रोध। २. सहस्=विरोधी पर विजय पाने में समर्थ शक्ति और बल।

वीरता तथा निर्भयता की भावना

मा त्वा परिपन्थिनो विदन् (यजु० ४।३४)

इस बात का ध्यान रखो कि तुम्हारी वास्तविक उन्नति के बाधक शत्रु तुम पर विजय प्राप्त न कर सकें।

इन्द्रेण मन्युना वयमभि ष्याम पृतन्यतः।
घ्नन्तो वृत्राण्यप्रति ।। (अथर्व० ७।९३)

सत्कार्यों में बाधक जो शत्रु हम पर आघात करें हमको चाहिए कि वीरोचित क्रोध और पराक्रम के साथ हम उनका दमन करें और उनको विनष्ट कर दें।

मम पुत्राः शत्रुहणः (ऋग्० १०।१५९।३)

मेरे पुत्र शत्रु का हनन करने वाले हों!

सुवीरासो वयं...जयेम (ऋग्०९।६१।२३)

हमारे पुत्र सुवीर हों और उनके साथ हम शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें!

मा भेः, मा संविक्थाः (यजु० १।२३)

तू न तो भयभीत हो, न उद्विग्नता को प्राप्त हो।

"यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः ।।
यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः ।।" (अथर्व० २।१५।१, ३)

जैसे द्युलोक और पृथिवी अपने-अपने कर्तव्य के पालन में न तो डरते हैं, न कोई उनको हानि पहुँचा सकता है; इसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू भी भय को न प्राप्त हो।

जैसे सूर्य और चन्द्रमा न तो भय को प्राप्त होते हैं, न कोई उनको हानि पहुँचा सकता है; इसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू भी भय को न प्राप्त हो।

अहमस्मि सपत्नहेन्द्र इवारिष्टो अक्षतः।
अधः सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अभिष्ठिताः ।।
(ऋग्० १०।१६६।२)

मैं शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाला हूँ। इन्द्र के समान मुझे कोई

न तो मार सकता है, न पीड़ित कर सकता है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो मेरे समस्त शत्रु यहाँ मेरे पैरों तले पड़े हुए हैं!

मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः (ऋग्० १०।१२८।१)

मेरे लिए सब दिशाएँ झुक जाएँ। अर्थात्, प्रत्येक दिशा में मुझे सफलता प्राप्त हो।

शारीरिक स्वास्थ्य तथा दीर्घायुष्य

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि।
आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि।...
...यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आ पृण॥ (यजु० ३।१७)

अग्ने! तुम शरीर की रक्षा करने वाले हो, मेरे शरीर को पुष्ट कीजिए। तुम आयु को देने वाले हो, मुझे पूर्ण आयु दीजिए। मेरे शारीरिक स्वास्थ्य में जो भी न्यूनता हो उसे पूरा कर दीजिए।

वाङ् म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्।
ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा... (अथर्व १९।६०।१-२)

मेरे समस्त अंग पूर्ण स्वस्थता से अपना-अपना कार्य करें, यही मैं चाहता हूँ। मेरी वाणी, प्राण, आँख, और कान अपना-अपना काम कर सकें! मेरे बाल काले रहें! दाँतों में कोई रोग न हो। बाहुओं में बहुत बल हो! मेरी ऊरुओं में ओज, जाँघों में वेग और पैरों में दृढ़ता हो!

आयुर् यज्ञेन कल्पतां...प्राणो...अपानो...व्यानो...चक्षुर्...
श्रोत्रं...वाग्...मनो...आत्मा यज्ञेन कल्पतां स्वाहा॥
(यजु० २२।३३)

प्राकृत जगत् में काम करने वाली अग्नि, वायु आदि दैवी शक्तियों के साथ सामञ्जस्य का जीवन (=यज्ञ) व्यतीत करते हुए मैं पूर्णायुष्य को प्राप्त कर सकूँ; मेरी प्राण, अपान आदि शक्तियाँ तथा चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य ठीक तरह कर सकें; और इस प्रकार मेरे व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो—यही मेरी आन्तरिक कामना है, यही मेरी हार्दिक अभिलाषा और प्रार्थना है!

अश्मा भवतु नस्तनूः (यजु० २९।४९)

हमारी प्रार्थना है कि हमारा शरीर पत्थर के समान सुदृढ़ हो!

भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि । (ऋग्० १०।३७।६)

हम कल्याण-मार्ग पर चलते हुए वृद्धावस्था को प्राप्त हों !

अहं सर्वमायुर्जीव्यासम् । (अथर्व० १९।७०।१)

मैं अपने जीवन में पूर्ण आयु को प्राप्त करूँ !

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।
पश्येम शरदः शतम् । जीवेम शरदः शतम् ।
शृणुयाम शरदः शतम् । प्र ब्रवाम शरदः शतम् ।
अदीनाः स्याम शरदः शतम् । भूयश्च शरदः शतात् ॥
(यजु० ३६।२४)

वह देखो ! इन्द्रियों के स्वास्थ्य के निवाहक, सबके चक्षुःस्थानीय प्रकाशमान सूर्य भगवान् सामने उदित हो रहे हैं । उनसे स्वास्थ्य को प्राप्त करते हुए, हम सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक जीवें, सौ वर्ष तक सुन सकें, सौ वर्ष तक बोल सकें, सौ वर्ष तक किसी के आश्रित न हों । और सौ वर्ष के अनन्तर भी ।

स्वर्गीय पारिवारिक जीवन

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥
(अथर्व० ३।३०।१–३)

हे गृहस्थो ! तुम्हारे पारिवारिक जीवन में परस्पर ऐक्य, सौहार्द और सद्भावना होनी चाहिए । द्वेष की गन्ध भी न हो । तुम एक-दूसरे को उसी तरह प्रेम करो, जैसे गौ अपने तुरन्त जन्मे बछड़े को प्यार करती है ।

पुत्र अपने माता-पिता का आज्ञानुवर्ती और उनके साथ एक-मन होकर रहे ! पत्नी अपने पति के प्रति मधुर और स्नेह-युक्त वाणी का ही व्यवहार करे !

भाई-भाई के साथ और बहिन बहिन के साथ द्वेष न करे !

तुम्हें चाहिए कि एक-मन हो कर समान आदर्शों का अनुसरण करते हुए परस्पर स्नेह और प्रेम को बढ़ाने वाली वाणी का ही व्यवहार करो !

आदर्श सामाजिक जीवन

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ (ऋग्० १०।१९१।२)

हे मनुष्यो! जैसे सनातन से विद्यमान, दिव्य शक्तियों से संपन्न सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि देव परस्पर अविरोध भाव से, मानो प्रेम से, अपने-अपने कार्य को करते हैं; ऐसे ही तुम भी समष्टि-भावना से प्रेरित हो कर एक साथ कार्यों में प्रवृत्त होओ, ऐकमत्य से रहो और परस्पर सद्भाव से बरतो।

समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम्। (ऋग्० १०।१९१।३)

तुम्हारी मन्त्रणा में, समितियों में, विचारों में और चिन्तन में समानता हो, सद्भावना हो, वैमत्य और दुर्भावना न हो।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ (ऋग्० १०।१९१।४)

तुम्हारे अभिप्रायों में, तुम्हारे हृदयों (अथवा भावनाओं) में और तुम्हारे मनों में एकता की भावना रहनी चाहिए, जिससे तुम्हारी सांघिक और सामुदायिक शक्ति का विकास हो सके।

राजनीतिक आदर्श

विशि राजा प्रतिष्ठितः (यजु० २०।९)

राजा की स्थिति प्रजा पर ही निर्भर होती है।

त्वां विशो वृणतां राज्याय (अथर्व० ३।४।२)

हे राजन्! प्रजाओं द्वारा तुम राज्य के लिए चुने जाओ।

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु (अथर्व० ४।८।४)

हे राजन्! तुम्हारे लिए यह आवश्यक है कि समस्त प्रजाएँ तुम को चाहती हों।

राष्ट्राणि वै विशः (ऐत० ब्रा० ८।२६)

प्रजाएँ ही राष्ट्र को बनाती हैं।

मानवीय कल्याण की भावना

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ (यजु० ३६।१८)

मैं, मनुष्य क्या, सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ ! हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें !

पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः (ऋग्० ६।७५।१४)

एक दूसरे की सर्वथा रक्षा और सहायता करना मनुष्यों का मुख्य कर्तव्य है।

यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि । (अथर्व० १७।१।७)

भगवन् ! ऐसी कृपा कीजिए जिससे मैं मनुष्यमात्र के प्रति, चाहे मैं उनको जानता हूँ अथवा नहीं, सद्भावना रख सकूँ।

तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः । (अथर्व० ३।३०।४)

आओ हम सब मिल कर ऐसी प्रार्थना करें, जिससे मनुष्यों में परस्पर सुमति और सद्भावना का विस्तार हो !

विश्व-शान्ति की भावना

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी
शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः ।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्ति-
र्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्ति-
रेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ (यजु० ३६।१७)

द्युलोक, अन्तरिक्ष-लोक और पृथिवी-लोक सुख-शान्ति-दायक हों; जल, ओषधियाँ और वनस्पतियाँ शांति देने वाली हों, समस्त देवता, ब्रह्म और सब कुछ शान्तिप्रद हों ! जो शान्ति विश्व में सर्वत्र फैली हुई है, वह मुझे प्राप्त हो। मैं बराबर शान्ति का अनुभव करूँ !

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु
शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु । (ऋग्० ७।३५।८)

अत्यन्त विस्तृत तेज से युक्त सूर्य का उदय हम सब के लिए शान्तिदायक हो ! चारों दिशाएँ हमारे लिए शान्ति देनेवाली हों !

शं नो वातः पवताᳪ शं नस्तपतु सूर्यः ।
शं नः कनिक्रदद् देवः पर्जन्यो अभिवर्षतु ॥ (यजु० ३६।१०)

वायु हमारे लिए सुखरूप होकर चले ! सूर्य हमारे लिए सुखमय होकर तपे ! अत्यन्त गरजने वाले पर्जन्य-देव भी हमारे लिए सुखरूप होकर अच्छी तरह बरसें !

प्रथम परिशिष्ट

(ख)

वैदिक-सूक्ति-मंजरी

ऋग्वेद-संहिता

पूर्वीरिन्द्रस्य रातयो न विदस्यन्त्यूतयः । (१।११।३)

परमात्मा की देन की इयत्ता नहीं हो सकती । उनकी रक्षा में कभी क्षीणता नहीं आती ।

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम् (१।२३।१९)

जलों में अमृत का वास है । वे औषध-स्वरूप हैं ।

आपश्च विश्वभेषजीः (१।२३।२०)

जलों में सब औषध रहते हैं ।

सविता...अपामीवां बाधते (१।३५।९)

सूर्य बीमारी को भगाता है ।

विश्वं चिदायुर्जीवसे (१।३७।१५)

आयु-भर मनुष्य को जीवन की स्फूर्ति का अनुभव करना चाहिए ।

न दुरुक्ताय स्पृहयेत् (१।४१।९)

अपशब्द बोलने की प्रवृत्ति से बचना चाहिए ।

न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते (१।५३।१)

धन देने वालों के प्रति दुःस्तुति करना ठीक नहीं।

विश्वस्मा उग्रः कर्मणे पुरोहितः (१।५५।३)

बड़ा मनुष्य ही सब कार्यों में नेतृत्व करता है।

नभो न रूपं जरिमा मिनाति (१।७१।१०)

मेघ के समान वृद्धावस्था रूप को बिगाड़ देती है।

सत्यं तातान सूर्यः (१।१०५।१२)

सूर्य सत्य को ही विस्तारित करता है। अर्थात्, सत्य और प्रकाश में समानता है।

पश्यदक्षण्वान् न विचेतदन्धः (१।१६४।१६)

जिसके आँख है वही देखता है, अन्धा नहीं देखता।

बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश (१।१६४।३२)

अधिक सन्तान वाला घोर कष्ट का अनुभव करता है।

माता पृथिवी महीयम् (१।१६४।३३)

यह विस्तृत पृथिवी हमारी माता है।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति (१।१६४।४६)

एक ही मूल तत्त्व को विद्वान् लोग अनेक प्रकार से कहते हैं।

अन्यस्य चित्तमभि संचरेण्यम् (१।१७०।१)

दूसरे के चित्त का कोई ठिकाना नहीं। वह चञ्चल होता है।

मिनाति श्रियं जरिमा तनूनाम् (१।१७९।१)

बुढ़ापा शरीर की शोभा को बिगाड़ देता है।

न मृषा श्रान्तं यदवन्ति देवाः (१।१७९।३)

यह ठीक ही है कि देवता उसी की सहायता करते हैं जो श्रम करता है।

पुलुकामो हि मर्त्यः (१।१७९।५)

मनुष्य स्वभाव से ही बहुत कामनाओं वाला होता है।

नकिरस्य तानि व्रता देवस्य सवितुर्मिनन्ति। (२।३८।७)

सवितृ-देव के नियमों को कोई नहीं तोड़ सकता।

पुरुद्रुहो हि क्षितयो जनानाम् (३।१८।१)

मनुष्यों के विभिन्न वर्गों में अनेक प्रकार के विरोध या संघर्ष रहते ही हैं।

जायेदस्तम् (३।५३।४)

स्त्री का ही नाम घर है।

नावाजिनं वाजिना हासयन्ति
न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति। (३।५३।२३)

घोड़े के साथ घोड़े की ही प्रतियोगिता करायी जाती है, घोड़े से भिन्न की नहीं। गदहे को घोड़े के आगे स्थान नहीं दिया जाता।

ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति (४।२३।८)

प्रकृति अथवा सृष्टि के नियमों के परिज्ञान से पाप नष्ट हो जाते हैं।

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः (४।३३।११)

जो श्रम नहीं करता उसके साथ देवगण मित्रता नहीं करते।

यादृश्मिन् धायि तमपस्यया विदत् (५।४४।८)

मनुष्य जिस-किसी लक्ष्य में मन लगाता है उसे श्रम से प्राप्त कर लेता है।

य उ स्वयं वहते सो अरं करत् (५।४४।८)

अपने मन से ही काम को करने वाला उसे ठीक तरह करता है।

अनुब्रुवाणो अध्येति, न स्वपन् (५।४४।१३)

अभ्यास से ही मनुष्य सीखता है, न कि सोते हुए।

यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।
(४।४४।१४)

जो जागता है उसी को ऋचाएँ चाहती हैं। सामवेद के मन्त्र भी उसी के पास आते हैं।

विद्वान् पथः पुरएता ऋजु नेषति (५।४६।१)

समझदार नेता ही ठीक रास्ते से ले जाता है।

पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः (६।७५।१४)

मनुष्य को मनुष्य की सब प्रकार से सहायता करनी चाहिए।

नहि स्वमायुश्चिकिते जनेषु (७।२३।२)

मनुष्यों में कोई अपनी आयु अथवा जीवन-काल को नहीं जानता।

तस्य व्रतानि न मिनन्ति धीराः (७।३१।११)

समझदार लोग परोपकार के नियमों का उल्लंघन नहीं करते।

न दुष्टुती मर्त्यो विन्दते वसु (७।३२।२१)

किसी की अनुचित अथवा मिथ्या स्तुति से मनुष्य धन नहीं पाता।

न स्रेधन्तं रयिर्नशत् (७।३२।२१)

दूसरों से झगड़ा करने वाला मनुष्य धन को नहीं पाता।

चिकित्वांसो अचेतसं नयन्ति (७।६०।७)

ज्ञानवान् ही अज्ञानी को मार्ग दिखाते हैं।

स्त्रिया अशास्यं मनः (८।३३।१७)

स्त्री का मन अशास्य होता है।

मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पिः। (८।४८।१४)

प्रमाद अथवा आलस्य के वश होकर तथा जल्पवाद के कारण हमको अपने कर्तव्य-मार्ग से च्युत न होना चाहिए।

अस्ति रत्नमनागसः (८।६७।७)

रत्न निष्पाप मनुष्य के लिए ही होता है। अथवा, निष्पाप मनुष्य को रत्न-प्राप्ति होती है।

ऋतस्य शृङ्गमुर्विया वि पप्रथे (८।८६।५)

सृष्टि के नियमों की सत्ता सर्वत्र फैली हुई है।

वल्गन्त्यविचेतसः (९।६४।२१)

अज्ञानी ही कूदा करते हैं।

नानानं वा उ नो धियो, वि व्रतानि जनानाम्।
(९।११२।१)

नाना प्रकार के विचार हमारे मन में आते रहते हैं। और मनुष्य नाना प्रकार के काम करते हैं।

तक्षा रिष्टं रुतं भिषग् ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छति।
(९।११२।१)

भिखारी टूटी हुई वस्तु के लिए, वैद्य रोग के लिए और ब्राह्मण पुजारी के लिए इच्छुक रहता है।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व। (१०।३४।१३)

जुआ मत खेलो। खेती ही करो।

सत्येनोत्तभिता भूमिः (१०।८५।१)

पृथ्वी सत्य से ठहरी हुई है।

न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति (१०।९५।१५)

स्त्रियों के साथ स्थायी मित्रता नहीं होती।

न स सखा यो न ददाति सख्ये (१०।११७।४)

वह मित्र नहीं है जो मित्र की सहायता नहीं करता।

केवलाघो भवति केवलादी (१०।११७।६)

जो अकेला खाता है वह केवल पापमय होता है।

शुक्लयजुर्वेद-संहिता

उर्वन्तरिक्षमन्वेमि (१।७)

मैं अपनी उन्नति के लिए विस्तृत क्षेत्र को चाहता हूँ।

धूर्व धूर्वन्तं, धूर्व तं योऽस्मान् धूर्वति। (१।८)

मारते हुए को मारो, जो हमको निष्कारण मार डालना चाहता है उसको नष्ट कर दो।

मा भेः, मा संविक्थाः। (१।२३)

न तो डरो, न उद्विग्नता को प्राप्त होओ।

ऋतस्य पथा प्रेत (७।४५)

प्राकृत नियमों के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करो।

अनाधृष्टाः सीदत सहौजसः (१०।४)

संघटित होकर रहने से तुम्हें कोई धमका न सकेगा।

यो अस्मभ्यमरातीयाद् यश्च नो द्वेषते जनः ।
निन्दाद् यो अस्मान् धिप्साच्च सर्वं तं भस्मसा कुरु ॥ (११।८०)

जो कोई हमारे साथ अकारण शत्रुता करता है, जो कोई हमारे लोगों से द्वेष करता है, जो कोई हमारी निन्दा करता है और हमारे प्राण लेना चाहता है, उसको मिट्टी में मिला दो ।

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः (२३।४८)

सूर्य के समान ही वेद अथवा ज्ञान-विज्ञान का भी प्रकाश है ।

आशिक्षायै प्रश्निनम् । उपशिक्षाया अभिप्रश्निनम् । (३०।१०)

यह समझ लो कि जो प्रश्न करता है वही किसी विषय को जान सकता है; समीक्षक ही किसी पदार्थ को ठीक-ठीक समझ सकता है ।

भूत्यै जागरणम् । अभूत्यै स्वपनम् । (३०।१७)

स्मरण रखो कि जागने से उन्नति होती है और सोने से अवनति ।

प्रियाय प्रियवादिनम् (३०।१३)

अपने प्रिय के लिए प्रिय-मधुर बोलने वाले को ही नियुक्त करो ।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् (४०।१७)

सत्य का मुख सुवर्ण-जैसी चमकीली वस्तुओं से छिपा हुआ रहता है ।

सामवेद-संहिता

देवस्य पश्य काव्यम् (पू० ४।४।३)

तुम प्रकृति-देवी के सौन्दर्य को जो मूर्त-रूप में भगवान् का काव्य है देखो और उससे प्रसन्नता को प्राप्त करो ।

सदा गावः शुचयो विश्वधायसः (पू० ५।६।६)

गौएँ सदा पवित्र हैं और सबका कल्याण करनेवाली हैं ।

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च (पू० ६।१४।३)

सूर्य जड़ तथा चेतन जगत् की आत्मा है ।

जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविः (उ० ३।१।६)

जागरूक व्यक्ति ही जनता की रक्षा कर सकता है ।

अथर्ववेद-संहिता

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः ।
आपो विश्वस्य भेषजीः ॥ (३।७।५)

जल निश्चय ही औषध-रूप हैं। जल रोगों को भगानेवाले हैं। जल सब को स्वास्थ्य देनेवाले हैं।

भद्रादधि श्रेयः प्रेहि (७।८।१)

तुम भद्र से भद्रतर जीवन को प्राप्त करो।

सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते (८।४।१२)

सत्य-भाषण और असत्य-भाषण में स्पर्धा रहती है। वे एक साथ नहीं रह सकते।

सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति। (९।७।८)

जिसके अन्न को दूसरे खाते हैं, उसके पाप नष्ट हो जाते हैं।

सर्वो वा एषोऽजग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति। (९।७।९)

जिसके अन्न को दूसरे नहीं खाते, उसके पाप बने रहते हैं।

कीर्तिं च वा एष यशश्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति।
(९।८।५)

जो घर में आये हुए अतिथि से पहले भोजन करता है वह मानो अपने घर की कीर्ति और यश को समाप्त कर देता है।

अशितवत्यतिथावश्नीयात् (९।८।८)

घर में आये हुए अतिथि के भोजन कर लेने पर ही भोजन करना चाहिए।

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः (१२।१।१२)

भूमि मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ।

न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते
देवानां स्पश इह ये चरन्ति। (१८।१।९)

दैवी शक्तियों के गुप्तचर जो यहाँ घूमते-फिरते हैं न तो कभी अपने कार्य से विरत होते हैं, न उनकी आँखें झपकती हैं।

प्रथम परिशिष्ट

(ग)

ब्राह्मणीय-सूक्ति-मञ्जरी

ऐतरेय-ब्राह्मण

कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे (ऐत० ब्रा० २।२)

हे अग्निदेव ! हमें उद्योग-शील जीवन के लिए समुन्नत कीजिए।

परिमितं वै भूतम्। अपरिमितं भव्यम्। (ऐत०ब्रा० ४।६)

भूत (=जो हो चुका है) परिमित और भविष्य अपरिमित होता है।

भद्रादभि श्रेयः प्रेहि (ऐत० ब्रा० १।१३)

तुम भद्र से भद्रतर जीवन को प्राप्त करो।

इन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्य (रोहितम्) उवाच—

नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित ! शुश्रुम।
पापो नृषद् वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा ॥१॥

चरैवेति।...

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः ॥२॥

चरैवेति ।....

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः ।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः ॥३॥

चरैवेति ।....

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन् ॥४॥

चरैवेति ।....

चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरम् ।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन् ॥५॥

चरैवेति ।....

(ऐत० ब्रा० ७।१५)

श्रम-संगीत

इन्द्र ने पुरुष-रूप में आकर रोहित से कहा—

हे रोहित ! सुनते हैं कि जो श्रम से श्रान्त नहीं है, उसको श्री प्राप्त नहीं होती । भला मनुष्य भी जो बैठा रहता है निकम्मा समझा जाता है । इन्द्र उसी की सहायता करता है जो श्रम-शील है । इसलिए बराबर श्रम करते रहो ॥१॥

श्रम-शील पुरुष की जाँघें स्फूर्ति के पुष्पों से पुष्पित होती हैं और उसके पुष्ट शरीर में स्वास्थ्य का फल लगता है । उसके सारे पाप श्रम से मानो मारे हुए निश्चेष्ट पड़े रहते हैं । इसलिए बराबर श्रम करते रहो ॥२॥

बैठे हुए का सौभाग्य बैठा रहता है, खड़े हुए का खड़ा हो जाता है । पड़े रहनेवाले का सौभाग्य सोता रहता है और चलनेवाले का सौभाग्य चलने लगता है । इसलिए बराबर श्रम करते रहो ॥३॥

जो सो रहा है वह कलि है, निद्रा से उठ बैठनेवाला द्वापर है । उठकर खड़ा हो जानेवाला त्रेता है, पर श्रम करनेवाला कृतयुग बन जाता है । इसलिए बराबर श्रम करते रहो ॥४॥

श्रम-शील मनुष्य ही मधु अर्थात् जीवन के माधुर्य को पाता है, वही स्वादिष्ठ फल का आस्वाद लेता है । सूर्य के श्रम को देखो, जो सदा चलता हुआ कभी आलस्य नहीं करता । इसलिए बराबर श्रम करते रहो ॥५॥

वहति ह वै वह्निर्धुरो यासु युज्यते । (ऐत० ब्रा० ६।१८)

कर्मशील व्यक्ति जिस काम में भी लगा दिया जाता है उसको पूरा करके छोड़ता है।

सं वै गुरुभारः शृणाति (ऐत० ब्रा० ४।१३)

अपनी शक्ति से अधिक भार उठाने से मनुष्य को हानि ही होती है।

यः सकृत्पातकं कुर्यात् कुर्यादेनस्ततोऽपरम् ।
(ऐत० ब्रा० ७।१७)

जिसने एक बार पाप किया, वह दूसरे पाप में प्रवृत्त होता है।

श्रद्धा पत्नी सत्यं यजमानः । श्रद्धा सत्यं तदित्युत्तमं मिथुनम् ।
श्रद्धया सत्येन मिथुनेन स्वर्गाल्लोकान् जयतीति ।
(ऐत० ब्रा० ७।१०)

जीवन-यज्ञ में श्रद्धा मानो पत्नी है और सत्य यजमान है। श्रद्धा (भावना-मूलक) और सत्य (बुद्धिमूलक) की उत्तम जोड़ी है। श्रद्धा और सत्य की जोड़ी से मनुष्य दिव्य लोकों को (=वास्तविक कल्याण को) प्राप्त करता है।[1]

अशनाया वै पाप्माऽमतिः (ऐत० ब्रा० २।२)

भूख (=पेट का न भरना) ही सब पापों और बुद्धि-भ्रंश की जड़ है।

यस्यैवेह भूयिष्ठमन्नं भवति स एव भूयिष्ठं लोके विराजति ।
(ऐत० ब्रा० १।५)

जिसके पास अधिक अन्न होता है, संसार में वही अत्यधिक महत्त्व को पाता है।

यो वै भवति यः श्रेष्ठतामश्नुते तस्य वाचं प्रोदितामनु प्रवदन्ति ।
(ऐत० ब्रा० २।१५)

जो सत्ता और श्रेष्ठता को पा लेता है उसकी कही हुई बात का सब अनुसरण करते हैं।

शिरो वा एतद्यज्ञस्य यदातिथ्यम् । (ऐत० ब्रा० १।२५)

---

१ 'रश्मि-माला' में बुद्धि और भावना के संबंध पर २२वाँ प्रकरण देखिए।

अतिथि-सत्कार को यज्ञ का प्रमुख अंग समझना चाहिए।

राष्ट्राणि वै विशः (ऐत० ब्रा० ८।२६)

जनता ही राष्ट्र को बनाती है।

ब्रह्म च क्षत्रं च संश्रिते। (ऐत० ब्रा० ३।११)

ब्रह्म (=ज्ञानशक्ति) और क्षत्र (=सैन्यशक्ति) परस्पराश्रित होते हैं।

ब्रह्मणि खलु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितम्। क्षत्रे ब्रह्म।
(ऐत० ब्रा० ८।२)

ब्रह्म में क्षत्र की स्थिति होती है और क्षत्र में ब्रह्म की।

यजमानो वै यज्ञः (ऐत० ब्रा० १।२८)

यजमान का स्वरूप ही यज्ञ में प्रतिफलित होता है?

आ त्वेव श्रद्धायै होतव्यम् (ऐत० ब्रा० ५।२७)

हवन-यज्ञ की वास्तविकता श्रद्धा में ही होती है।

मनसा वै यज्ञस्तायते मनसा क्रियते। (ऐत० ब्रा० ३।११)

ज्ञान-पुरस्सर ही यज्ञ किया जाता है।

एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृगभिवदति।
(ऐत० ब्रा० १।४)

याज्ञिक कर्म की संपन्नता या पूर्णरूपता इसी में है कि उसमें जो मन्त्र प्रयुक्त होते हैं वे वास्तव में उस काम को बतलाते भी हैं जो यज्ञ में किया जाता है।

यद् यज्ञेऽभिरूपं तत्समृद्धम्। (ऐत० ब्रा० १।१६)

मन्त्र और कर्म की अनुरूपता में ही यज्ञ की संपन्नता निहित होती है।

यत्र क्व च यजमानवशो भवति, कल्पत एव यज्ञोऽपि।
तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् यजमानो वशी यजते।
(ऐत० ब्रा० ३।१३)

यज्ञ में तभी तक वास्तविकता रहती है जबतक वह विद्वान् यजमान की अधीनता में रहता है। उसी दशा में वह जनता का हित संपादन करता है।

यथा ह वा इदं निषादा वा सेळगा वा पापकृतो वा वित्तवन्तं पुरुषमरण्ये गृहीत्वा कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति, एवमेव त ऋत्विजो यजमानं कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति यमनेवंविदो याजयन्ति। (ऐत० ब्रा० ८।११)

जैसे दुष्ट चोर और डाकू लोग जंगल में किसी धनी यात्री को पकड़कर उसे मार-पीट कर गढ़े में फेंककर उसका धन लेकर चम्पत हो जाते हैं, इसी प्रकार मूर्ख ऋत्विज् लोग जिस यजमान का यज्ञ कराते हैं उसको मानो मार-पीट कर गढ़े में फेंककर उसके धन को उड़ाकर चले जाते हैं।

सर्वस्य वै गावः प्रेमाणं सर्वस्य चारुतां गताः।
(ऐ० ब्रा० ४।१७)

गौओं को देखकर सबके हृदय में प्रेम उमड़ आता है और वे सबको सुन्दर प्रतीत होती हैं।

शतपथ-ब्राह्मण

यशो ह भवति य एवं विद्वान् सत्यं वदति।
(श० ब्रा० १।१।१।५)

जो मनुष्य इस प्रकार सत्य के महत्त्व को समझता हुआ सत्य-भाषण करता है, उसको मूर्तिमान् यश ही समझना चाहिए।

मध्यमभयम् (श० ब्रा० १।१।२।२३)

मध्यम मार्ग के अवलम्बन में कोई भय नहीं होता।

एते वा उत्पवितारो यत्सूर्यस्य रश्मयः।
(श० ब्रा० १।१।३।६)

ये सूर्य की रश्मियाँ निश्चित रूप से गन्दगी को नष्ट करके पवित्र करनेवाली हैं।

अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता (श० ब्रा० १।२।१।६)

अग्नि हानिकारक जन्तुओं को नष्ट कर देता है।

संग्रामो वै क्रूरम्। संग्रामे हि क्रूरं क्रियते।
(श० ब्रा० १।२।५।१९)

संग्राम को क्रूरता का रूप समझना चाहिए; क्योंकि संग्राम में क्रूर कर्म किया जाता है।

यां वै कां च यज्ञ ऋत्विज आशिषमाशासते यजमानस्यैव सा।
(श० ब्रा० १।३।१।२६)

यज्ञ में ऋत्विज् जो कुछ कामना करते है वास्तव में वह यजमान के लिए ही होती है।

तद्धि समृद्धं यत्रात्ता कनीयान्, आद्यो भूयान्।
(श० ब्रा० १।३।२।१२)

खानेवाले कम हो और खाद्य पदार्थ अधिक हों, यही समृद्धि का रूप है।

वाचो वा इदं सर्वं प्रभवति (श० ब्रा० १।३।२।१६)

वाणी से ही यह सब-कुछ होता है।

सर्वं वा इदमेति च प्रेति च। (श० ब्रा० १।४।१।६)

क्रिया और प्रतिक्रिया इस जगत् में स्वभाव से सर्वत्र देखी जाती है। अथवा, आना और जाना सबके साथ लगा है।

वाग्वै मनसो ह्रसीयसी। अपरिमिततरमिव मनः। परिमिततरेव हि वाक्।
(श० ब्रा० १।४।४।७)

मन से वाणी कहीं छोटी है। मन अपरिमिततर और वाणी परिमिततर प्रतीत होती है।

एते वै ब्राह्मणा यज्ञस्य प्राविताारो येऽनूचानाः।
एते ह्येनं तन्वते। एत एनं जनयन्ति।
(श० ब्रा० १।५।१।१२)

विधिवत् जिन्होंने वेदका अध्ययन किया है ऐसे ही ब्राह्मण यज्ञ की रक्षा करते हैं। वे ही यज्ञ का विस्तार करते हैं। वे ही यज्ञ को उत्पन्न करते हैं।

मनसा वा इदं सर्वमाप्तम् (श० ब्रा० १।७।४।२२)

यह सब कुछ मन से प्राप्त है। अर्थात् मन की गति के अन्दर है।

मत्स्य एव मत्स्यं गिलति (श० ब्रा० १।८।१।३)

मत्स्य को मत्स्य ही निगल जाता है।

एते वै यज्ञमवन्ति ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽ-
नूचानाः। एते ह्येनं तन्वते। एत एनं जनयन्ति।
(श० ब्रा० १।८।१।२८)

जिन्होंने विधिवत् वेद को सुना है और उसका अध्ययन किया है, ऐसे ही ब्राह्मण यज्ञ के स्वरूप की रक्षा करते हैं। वे ही यज्ञ को विस्तारित और उत्पन्न करते हैं।

न श्वः श्वमुपासीत । को हि मनुष्यस्य श्वो वेद ।
(श० ब्रा० २।१।३।९)

'कल करूँगा, कल करूँगा' ऐसी बात न करनी चाहिए। मनुष्य के कल को कौन जानता है?

अद्धा हि तद् यद् भूतम् ।...अनद्धा हि तद्
यद् भविष्यद् । (श० ब्रा० २।३।१।२५)

जो हो चुका है वह निश्चित है। जो होनेवाला है वह अनिश्चित है।

अद्धा हि तद् यज्जातम् ।...अनद्धा हि तद्
यज् जनिष्यमाणम् । (श० ब्रा० २।३।१।२६)

जो उत्पन्न हो चुका है वह निश्चित है। जो उत्पन्न होने वाला है वह अनिश्चित है।

अद्धा हि तद् यदद्य । अनद्धा हि तद् यच्छ्वः ।
(श० ब्रा० २।३।१।२८)

जो आज है वह निश्चित है, जो कल होगा वह अनिश्चित है।

यद्वै सत्येन हूयते तद्देवान् गच्छति । (श० ब्रा० २।३।१।३०)

सत्य-भावना से जो हवन किया जाता है वही देवताओं को पहुँचता है।

पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम् (श० ब्रा० २।५।१।१)

मनुष्य प्रजापति के सबसे अधिक समीप है।

भूमा वै रायस्पोषः । श्रीर्वै भूमा । (श० ब्रा ३।१।१।१२।)

समृद्धि, धन की पुष्टि और लक्ष्मी, इनका एक ही अभिप्राय है।

अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति । तेन पूतिरन्तरतः ।
(श० ब्रा० ३।१।२।१०)

मनुष्य अपवित्र है, क्योंकि झूठ बोलता है। इसीसे उसके अन्दर से दुर्गन्ध निकलती है।

सुवासा एव बुभूषेत् ।...अप्यश्लीलं सुवाससं दिदृक्षन्ते । (श० ब्रा० ३।१।२।१६)

मनुष्य को अच्छे वस्त्रों को ही धारण करना चाहिए। कुरूप मनुष्य को भी, जो अच्छे वस्त्र पहिनता है, सब देखना चाहते हैं।

अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य (श० ब्रा० ३।१।३।२८)

यज्ञ का जन्म अग्नि से ही होता है।

पुरुषो यज्ञः । पुरुषसंमितो यज्ञः । (श० ब्रा० ३।१।४।२३)

मनुष्य ही यज्ञ है। यज्ञ का स्वरूप मनुष्य पर निर्भर होता है।

मनसा वा इयं वाग्धृता । मनो वा इदं पुरस्ताद्वाचः । (श० ब्रा० ३।२।४।११)

वाणी को मन पकड़े रहता है। वाणी से मन पहले आता है।

मनसा च वै वाचा च यज्ञं तन्वते (श० ब्रा० ३।५।३।११)

मन और वाणी दोनों से यज्ञ किया जाता है।

तदिदं क्षत्रमुभयतो विशा परिवृढम्। (श० ब्रा० ३।६।१।२८)

राज्य-शक्ति की दाएँ-बाएँ दृढ़ता प्रजा द्वारा ही होती है।

द्वितीयवान् हि वीर्यवान् (श० ब्रा० ३।७।३।८)

जिसका साथी है वही शक्तिमान् होता है।

सत्यं वै चक्षुः । सत्यं हि प्रजापतिः । (श० ब्रा० ४।२।१।२६)

चक्षु सत्य है। और सत्य ही प्रजापति है।

विशा वा क्षत्रियो बलवान् भवति (श० ब्रा० ४।३।३।६)

प्रजा से ही राजा बलवान् होता है।

अन्नेन हीदं सर्वं गृहीतम् । तस्माद् यावन्तो नोऽशनमश्नन्ति ते नः सर्वे गृहीता भवन्ति । एषैव स्थितिः । (श० ब्रा० ४।६।५।४)

अन्न ने सबको पकड़ रखा है। अतः जो कोई भी हमारे यहाँ भोजन करते हैं वे सब हमारे हो जाते हैं। यही वस्तु-स्थिति है।

यो वै ब्राह्मणानामनूचानतमः स
एषां वीर्यवत्तमः (श० ब्रा० ४।६।६।५)

ब्राह्मणों में वही सबसे अधिक शक्ति-संपन्न माना जाता है जो सबसे अधिक विद्वान् होता है।

पराभवस्य हैतन्मुखं यदतिमानः (श० ब्रा० ५।१।१।१)

अति अभिमान पराभव का मुख होता है।

अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया।...यावज्जायां न विन्दते...असर्वो हि तावद् भवति। (श० ब्रा० ५।२।१।१०)

स्त्री पुरुष का आधा भाग होती है। जब तक पुरुष स्त्री को नहीं पाता है तबतक वह अपूर्ण ही रहता है।

को वेद मनुष्यस्य (श० ब्रा० ५।५।२।२)

मनुष्य को कौन जानता है?

यः सर्वः कृत्स्नो मन्यते गायति चैव गीते वा रमते।
(श० ब्रा० ६।१।१।१५)

मनुष्य जब अपने को पूर्ण समझता है तब गाने लगता है अथवा गाना सुनकर प्रसन्न होता है।

न ह्ययुक्तेन मनसा किञ्चन संप्रति शक्नोति कर्तुम्।
(श० ब्रा० ६।३।१।१४)

अयुक्त मन से कोई किसी काम को ठीक तरह नहीं कर सकता।

यद्वु वा आत्मसम्मितमन्नं तदवति। तन्न हिनस्ति। यद् भूयो हिनस्ति तद्। यत्कनीयो न तदवति। (श० ब्रा० ६।६।३।१७)

अपनी आवश्यकता के अनुसार भोजन किया हुआ अन्न पुष्टि करता है। हानि नहीं करता। अधिक होने पर हानि करता है। कम होने पर पुष्टि नहीं करता।

अन्नं वै विशः (श० ब्रा० ६।७।३।७)

प्रजा का आधार अन्न होता है।

श्रीर्वै राष्ट्रम् (श० ब्रा० ६।७।३।७)

श्री से ही राष्ट्र चलता है।

उष्ण एव जीविष्यन् । शीतो मरिष्यन् । (श० ब्रा० ८।७।२।११)

जीनेवाला गरम और मरनेवाला ठंडा होता है।

न वै कामानामतिरिक्तमस्ति (श० ब्रा० ८।७।२।१६)

कामनाओं का अन्त नहीं है।

ते ह ते घोरतरा अशान्ततरा य उभयतो-नमस्काराः ।
(श० ब्रा० ६।१।१।२०)

दोनों ओर के नमस्कार अत्यन्त भयानक और अशान्ति के हेतु होते हैं।

गोपथ-ब्राह्मण

परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति, प्रत्यक्षद्विषः ।
(गो० ब्रा० १।१।१)

देवता परोक्ष से प्रेम करते हैं, प्रत्यक्ष से द्वेष।

स मनसा ध्यायेद्—यद्वा अहं किञ्चन मनसा
ध्यास्यामि तथैव तद्भविष्यति । तद्ध स्म तथैव भवति ।
(गो० ब्रा० १।१।६)

यदि मनुष्य किसी काम को करना चाहे तो उसे मन से ध्यान करना चाहिए—"मैं जिस का मन से ध्यान करूँगा वह अवश्य ही होगा।" सो निश्चय वैसा होता है।

रूपसामान्यादर्थसामान्यं नेदीयः (गो० ब्रा० १।१।२६)

रूप की समानता से अर्थ की समानता अधिक समीपता को प्रकट करती है।

व्रतेन वै ब्राह्मणः संशितो भवति (गो० ब्रा० १।१।३४)

ब्राह्मण का महत्त्व व्रत-पालन से ही बढ़ता है।

पूर्वे वयसि पुत्राः पितरमुपजीवन्ति ।...उत्तमे
वयसि पुत्रान् पितोपजीवति । (गो० ब्रा० १।४।१७)

पहली वय में पुत्र पिता पर निर्भर रहते हैं। अन्तिम वय में पिता पुत्रों पर निर्भर रहता है।

यजमानेऽधःशिरसि पतिते स देशोऽधःशिराः पतति
(गो० ब्रा० २।२।१५)

यजमान के उलटे-सिर गिरने पर, वह देश उलटे-सिर गिर जाता है।

—::००::—

प्रथम परिशिष्ट

(घ)

व्रत से आत्मशुद्धि

[वैदिक विचार-धारा में व्रत-पालन का बड़ा महत्त्व है। इसीलिए नीचे के उद्धरण को यहाँ देना हम उचित समझते हैं।]

"अग्ने ! व्रतपते व्रतं चरिष्यामि...
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ।।" (यजु० १।५)

अर्थात्, हे व्रतपते प्रकाश-स्वरूप देव ! मेरी प्रार्थना है कि मैं व्रत का पालन करता हुआ अनृत से सत्य की ओर प्रगति कर सकूँ।

जीवन के उत्थान और विकास के लिए आत्म-विश्वास और आत्मिक शक्ति की आवश्यकता है। आत्मिक शक्ति और आत्म-विश्वास अनुशासन, व्रताचरण और नियम-पालन से ही प्राप्त हो सकते हैं। जीवन में व्रतों के ग्रहण और पालन का यही रहस्य है। इसी सिद्धान्त का विशदी-करण किसी व्रती के मुख से नीचे के पद्यों में कराया गया है:—

उत्तरोत्तरमुत्कर्षं जीवने लब्धुमुत्सुकः।
प्रतिजाने चरिष्यामि व्रतमात्मविशुद्धये ।।१।।

अपने जीवन में उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करने के लिए मैं उत्सुक हूँ। आत्म-विशुद्धि या पवित्राचरण से ही यह हो सकता है। उस आत्म-विशुद्धि के लिए व्रताचरण की मैं प्रतिज्ञा करता हूँ।

व्रतानां पालनेनैव तद् गूढमात्मदर्शनम् ।
जायते यमिनां नूनमात्मविश्वासकारणम् ॥२॥

व्रतों के पालन से ही संयमी मनुष्यों को अपने उस गूढ स्वरूप का दर्शन होता है जो कि आत्म-विश्वास का कारण होता है। अभिप्राय यह है कि व्रतों के आचरण से ही मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप और शक्ति को पहचानता है, और इसी प्रकार उसमें आत्म-विश्वास की भावना का उदय होता है।

ऋषिभिर्मुनिभिश्चैव लोकानां मार्गदर्शकैः ।
सेवितो विततः पन्था एष नैवात्र संशयः ॥३॥

संसार को सन्मार्ग दिखाने वाले ऋषियों और मुनियों ने वास्तव में इसी प्रशस्त मार्ग का सेवन किया था। अभिप्राय यह है कि व्रताचरण द्वारा मनुष्य ऋषि और मुनि की पदवी को भी प्राप्त कर सकता है।

विश्वस्य विविधं कार्यं कुर्वन्तोऽत्र निरन्तरम् ।
व्रतानां पालनेनैव देवा अमृतभोजिनः ॥४॥

विश्व के विभिन्न कार्यों को निरन्तर नियमपूर्वक करने वाले अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवताओं को व्रतों के पालने के कारण से ही अमृत-भोजी (=अमृत अथवा अमृतत्व का सेवन करने वाले) कहा गया है। दूसरे शब्दों में, अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवता विश्व के संचालनार्थ अपने अपने महान् व्रत अथवा कर्तव्य का अविचल-भाव से पालन करते हैं। इसी आधार पर उनको 'अमृत-भोजी' कहा गया है।

अभिप्राय यह है कि व्रताचरण द्वारा ही मनुष्य को अपने अमृतत्व या शाश्वत जीवन का बोध हो सकता है।

व्रतेन प्राप्यते दीक्षा दक्षिणा दीक्षयाप्यते ।
तया च प्राप्यते श्रद्धा श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥५॥

व्रताचरण से ही मनुष्य को दीक्षा अथवा उन्नत जीवन की योग्यता प्राप्त होती है। दीक्षा से दक्षिणा अथवा प्रयत्न की सफलता प्राप्त होती है। दक्षिणा से अपने जीवन के लक्ष्य अथवा आदर्शों में श्रद्धा, और श्रद्धा से सत्य अथवा वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

अभिप्राय यह है कि व्रतों के पालने से ही मनुष्य अपने जीवन के परम लक्ष्य तक पहुँच सकता है। ('रश्मिमाला' से उद्धृत)

प्रथम परिशिष्ट

(ङ)

ब्रह्मचर्य

[वैदिक विचारधारा ने ब्रह्मचर्य की महिमा का बड़ा गान किया है। इसीलिए नीचे का उद्धरण उपयोगी समझकर हम यहाँ दे रहे हैं।]

"ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति" (अथर्व० ११।५।२४)

अर्थात्, ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करने वाला ही तेजोमय ब्रह्म को धारण करता है।

ऊपर मनुष्य के लिए व्रताचरण की महिमा का वर्णन किया है। सब व्रतों के मूल में ब्रह्मचर्य-व्रत है। उसी का वर्णन नीचे के पद्यों में किया गया है:—

जीवनं वै महान् यज्ञस् तस्य सिद्धय मनीषिभिः।
ब्रह्मचर्यव्रतस्यादौ ग्रहणमुपदिश्यते ॥१॥

जीवन एक महान यज्ञ है। उसकी सफलता के लिए मनुष्य को जीवन के प्रारम्भ में ही ब्रह्मचर्य-व्रत ग्रहण करना चाहिए, ऐसा मनीषियों का उपदेश है।

प्रासादस्य विनिर्माणे मूलभित्तिरपेक्ष्यते।
तथैव जीवनस्यादौ ब्रह्मचर्यमपेक्ष्यते ॥२॥

जैसे किसी महल के बनाने में नींव की अपेक्षा होती है। उसी प्रकार जीवन के प्रारम्भ में ब्रह्मचर्य की अपेक्षा होती है।

ब्रह्मचर्यव्रतं चीर्णं यैस्तैरेव तपस्विभिः।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षो जीवने लभ्यते ध्रुवम् ॥३॥

तप के रूप में ब्रह्मचर्य के व्रत को पूर्ण करने वाले मनुष्य ही निस्सन्देह जीवन में उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त करते हैं।

ब्रह्मचर्येण सर्वोऽर्थः सिद्धो भवति भूतले।
तस्यैवेहातिसंक्षिप्ता काचिद् व्याख्या विधीयते ॥४॥

संसार में प्रत्येक लक्ष्य की प्राप्ति ब्रह्मचर्य से होती है। उसी की कुछ अतिसंक्षिप्त व्याख्या यहाँ की जाती है।

सर्वेषामपि भूतानां यत्तत्कारणमव्ययम्।
कूटस्थं शाश्वतं दिव्यं, वेदो वा, ज्ञानमेव यत् ॥५॥
तदेतदुभयं ब्रह्म ब्रह्मशब्देन कथ्यते।
तदुद्दिश्य व्रतं यस्य ब्रह्मचारी स उच्यते ॥६॥

सृष्टि के समस्त पदार्थों का जो अक्षय्य, कूटस्थ, शाश्वत, दिव्य मूलकारण है उसको, तथा ज्ञानरूप वेद को भी, ब्रह्म शब्द से कहा जाता है। इस प्रकार के ब्रह्म की प्राप्ति के उद्देश्य से जो व्रत ग्रहण करता है उसी को ब्रह्मचारी कहते हैं।

समष्टिरूपं यद् ब्रह्म तद्रूपं ज्ञानमेव यत्।
ताभ्यां सायुज्यसंपत्त्यै ब्रह्मचारी सदेप्सति ॥७॥

समस्त पदार्थों की समष्टि-रूप जो ब्रह्म है, तथा समष्टयात्मक (अथवा व्यापक) जो ज्ञान है, उन दोनों के साथ सायुज्य अथवा तादात्म्य की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचारी सदा उत्सुक रहता है।

एतस्यां भूमिकायां तु तिष्ठतो ब्रह्मचारिणः।
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टं जीवनं लक्ष्यमुच्यते ॥८॥
"भद्रादभि श्रेयः प्रेहि[1]", "भद्रं भद्रं न आभर[2]"।
इत्येवं बहुशो मन्त्रैरेष एवार्थ उच्यते ॥९॥

उक्त मानसिक परिस्थिति में वर्तमान ब्रह्मचारी के लिए उत्तरोत्तर उत्कृष्ट जीवन ही लक्ष्य होता है। "तुम भद्र से भद्रतर जीवन को प्राप्त करो", "भगवन्!

१. ऐतरेयब्राह्मण १।१३। २. सामवेद पू० २।८।९।

हमारे लिए बराबर कल्याण को ही लाइये" इस प्रकार अनेकानेक वेद-मन्त्र इसी बात को कहते हैं।

तदर्थं स्वीयशक्तीनां विकासः संचयस्तथा।
श्रमेण तपसा वृत्तिः संयमेन पुरस्कृता ॥१०॥
चारित्र्यस्य विनिर्माणं विद्याया अर्जनं तथा।
प्रथमं तस्य कर्तव्यं जायते प्रथमाश्रमे ॥११॥

उक्त लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रथम आश्रम (=ब्रह्मचर्याश्रम) में उसका मुख्य कर्तव्य होता है: अपनी शक्तियों का विकास और संचय, मन वाणी और शरीर के संयम के साथ श्रम और तप का आचरण, चरित्र का निर्माण और विद्या का उपार्जन।

तपसा पारमाप्नोति तपसा हन्ति किल्विषम्।
तपसा वर्तमानः स उन्नतेर्मूर्ध्नि तिष्ठति ॥१२॥

तप द्वारा वह (ब्रह्मचारी) अपने अभीष्ट पद को प्राप्त करता है और पाप या अपूर्णता को दूर कर अपने चरित्र को उज्ज्वल और पवित्र बनाता है। तप का आचरण करता हुआ वह उन्नति के शिखर पर आसीन होता है।

तपसा निर्मलो भूत्वा परिपाकेन शुद्धधीः।
द्वितीयमाश्रमं गत्वा सर्वस्येष्टे न संशयः ॥१३॥

तप से चरित्र की दुर्बलताओं को दूर कर और मनोविकास द्वारा तत्त्वावगाहिनी विशुद्ध बुद्धि को प्राप्त कर वह द्वितीय गृहस्थ-आश्रम में प्रविष्ट होने पर समस्त परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने में समर्थ होता है।

"ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः"[1]।
"ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति"[2] ॥१४॥

"ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते"[3] ॥१५॥

"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्"[4] ॥१६॥

इत्यादिवेदमन्त्रैश्च वैदिकोदात्तभाषया।
ब्रह्मचर्यस्य माहात्म्यं रहस्यं चोपवर्ण्यते ॥१७॥

---

१. अथर्व० ११।५।२४। २. अथर्व० ११।५।४। ३. अथर्व० ११।५।१७। ४. अथर्व० ११।५।१९।

"ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करने वाला ही तेजोमय ब्रह्म को धारण करता है और उसमें समस्त देवता ओत-प्रोत होते हैं (अर्थात् वह समस्त देवताओं से प्रकाश और शक्ति को प्राप्त कर सकता है)।"

"समिधा और मेखला द्वारा अपने व्रतों को पालन करता हुआ ब्रह्मचारी श्रम और तप के प्रभाव से लोकों को आपूरित करता है।"

"ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा अपने राष्ट्र की रक्षा में समर्थ होता है। ब्रह्मचर्य द्वारा ही आचार्य ब्रह्मचारी को शिक्षणार्थ चाहता है।"

"ब्रह्मचर्य के तप से ही देवताओं ने मृत्यु को दूर भगा दिया है। ब्रह्मचर्य द्वारा ही इन्द्र ने देवताओं को दिव्य प्रकाश लाकर दिया है।"

इत्यादि वैदिक मन्त्र अपनी उदात्त भाषा में ब्रह्मचर्य की महिमा और रहस्य का वर्णन करते हैं।

('रश्मिमाला' से उद्धृत)

द्वितीय परिशिष्ट

(क) संस्कृत साहित्य में ग्रन्थ-प्रणयन

(ख) वेदों का वास्तविक स्वरूप

(ग) यजुर्वेद तथा वैदिक कर्मकाण्ड

(घ) वेदों के जीवन-प्रद संदेश

(ङ) भगवद्गीता का एक असाम्प्रदायिक अध्ययन

(च) वर्णभेद तथा जातिभेद का परस्पर संबन्ध

द्वितीय परिशिष्ट

(क)

संस्कृत साहित्य में ग्रन्थ-प्रणयन

['कल्पना', अप्रैल १९५२, से उद्धृत ग्रन्थकार का लेख]

यह सिद्धान्त सर्वमान्य है कि संसार के किसी भी साहित्य के इतिहास की अपेक्षा संस्कृत साहित्य का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। इसी कारण से संस्कृत साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में जहाँ अनेक प्रकार की कठिनाइयां हैं, वहाँ साथ ही उसके सम्बन्ध में अनेकानेक ऐसी बातें भी बतलायी जा सकती हैं, जिनसे साधारण शिक्षितों का ही नहीं, विद्वानों का भी मनोरञ्जन हुए बिना नहीं रह सकता। हमारा विचार है कि हम क्रमशः उन पर प्रकाश डालें।

प्रस्तुत लेख में हम कुछ ऐसी समस्याओं को लेकर, जो संस्कृत-अध्ययन करने वालों के सामने प्रायः उपस्थित होती हैं, उनके समाधान करने का यत्न करेंगे। उदाहरणार्थ, कुछ समस्याएँ ये हैं:—

(१) संस्कृत वाङ्मय के ब्राह्मण, उपनिषद् आदि अनेकानेक ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनपर उनके कर्त्ताओं के नाम नहीं मिलते। इसीलिये उनके विषय में पौरुषेयत्व-अपौरुषेयत्व का विवाद चिरकाल से चला आया है।

(२) अनेक ग्रन्थ दो रूपों में मिलते हैं; और दोनों एक ही ग्रन्थकर्ता के नाम से प्रसिद्ध हैं। उदाहरणार्थ, शङ्ख-स्मृति आदि अनेक स्मृति-ग्रन्थ थोड़े-बहुत गद्य तथा पद्य दोनों रूपों में पाये जाते हैं।

(३) अनेक ग्रन्थों में उनके ग्रन्थकारों की ही सम्मतियाँ प्रथम-पुरुष के प्रयोग द्वारा उद्धृत की गयी हैं। उदाहरणार्थ, शौनक के नाम से प्रसिद्ध बृहद्देवता में शौनक की ही सम्मति अनेक स्थानों पर उद्धृत की गयी है; जैसे

"सर्वाण्येतानि नामानि कर्मतस्त्वाह शौनकः" (बृ० १।२७)

यही नहीं,

"तत्राचार्यस्तु शौनकः। नदीवन्निगमाः षट् ते सप्तमो नेत्युवाच ह"
(बृ० २।१३६)

इस प्रकार परोक्ष काल का भी प्रयोग किया गया है। अपने ही ग्रन्थ में ग्रन्थकार अपनी सम्मति परोक्ष-काल और प्रथम-पुरुष में उद्धृत करे, यह विचित्र-सी बात दीखती है।

(४) संस्कृत साहित्य में एक ही ग्रन्थ के अनेक संस्करणों का—जो वेदों के समान नहीं हैं—प्रायः उल्लेख मिलता है; जैसे मनुस्मृति, वृद्ध-मनुस्मृति आदि।

ऐसी अनेक समस्याएँ हैं जिनका सामना संस्कृत साहित्य के इतिहास के प्रत्येक लेखक को करना पड़ता है। यहां हम सुसंबद्ध रीति से इनके समाधान का यत्न करेंगे।

इन समस्याओं की कठिनता का मुख्य कारण यह है कि अधिकांश में हम आधुनिक ग्रन्थ-प्रणयन की परिपाटी को ही सामने रखकर इनपर विचार करते हैं। प्रायः बड़े विद्वान् भी इस दोष से खाली नहीं पाये जाते। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक देश में और इतिहास के प्रत्येक काल में उक्त परिपाटी का ही अनुसरण किया जाता रहा हो। अनेकानेक अवस्थितियों के भेद से उक्त परिपाटी में भी भेद हो सकता है। इसलिए भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न काल में 'ग्रन्थ-प्रणयन' या, ठीक शब्दों में, साहित्यिक परम्परा की कौन-कौन सी परिपाटी रही— इसपर विचार करना आवश्यक है।

ग्रन्थ-प्रणयन की परिपाटी का प्रारम्भ

अध्ययनाध्यापन की परम्परा भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से चली आयी है। आज-कल हम यह समझते हैं कि अध्ययनाध्यापन के लिए किसी छपी हुई पोथी की अनिवार्य रूप से आवश्यकता होती है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। वास्तव में देखा जाए तो अध्ययनाध्यापन की परम्परा चलने के बहुत काल बाद ही ग्रन्थ-प्रणयन का युग प्रारम्भ हुआ होगा (इस प्रसंग में 'ग्रन्थ' शब्द का

अर्थ हम यही समझते हैं कि जो किन्हीं लिखे या छपे हुए पत्रों को ग्रन्थन करने से बने[1])। इस विषय में यास्काचार्यकृत निरुक्त में एक बड़ा उपयुक्त सन्दर्भ मिलता है। वह यह है:—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः। वेदं च वेदाङ्गानि च। (नि० १।२०)

अर्थात्, सबसे पहले ऐसे ऋषि हुए जिन्होंने स्वयं धर्म का साक्षात्कार किया, या, दूसरे शब्दों में, मन्त्रों को प्रकाशित किया। उन्होंने अपने पीछे आने वालों को उपदेश द्वारा मन्त्रों को दिया या सिखलाया। तदनन्तर ऐसे लोग पैदा हुए, जिनके लिए केवल उपदेश पर्याप्त न था। उन्होंने अपनी सुविधा के लिए ग्रन्थ-प्रणयन की परिपाटी का प्रारम्भ किया। इसी समय वेद, वेदाङ्ग आदि का संग्रन्थन किया गया।

इस संदर्भ के अनुसार एक समय ऐसा था, जब ग्रन्थ-प्रणयन की परिपाटी का प्रारम्भ ही नहीं हुआ था, या उसकी आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती थी। उस समय अध्ययनाध्यापन के साधन ग्रन्थ न थे; किन्तु मौखिक उपदेश से ही शिक्षा दी जाती थी। यह अति प्राचीन काल है। उस समय वैदिक संहिताएँ भी नहीं थीं। तभी तो ऊपर कहा है—"**वेदं च वेदाङ्गानि च।**" **ऋग्वेद** के **मण्डूक-सूक्त** में प्रायः इसी अवस्था का सुन्दर वर्णन मिलता है। जैसे—

यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः।

(ऋग्० ७।१०३।५)

अर्थात्, एक मेंढक दूसरे मेंढक की बोली को इसी तरह दुहराता है, जैसे शिष्य गुरु या शिक्षक के वचन को।

यास्क के अनुसार इस युग के बाद ग्रन्थ-प्रणयन के युग का प्रारम्भ हुआ।

---

१. संस्कृत की प्राचीन हस्त-लिखित पोथियों से जिन्हें परिचय है, वे जानते हैं कि उन पोथियों के पत्रों के मध्य भाग में प्रायः एक छिद्र होता था, जिसका उपयोग यही था कि उस में पतली डोरी पिरोकर पत्रों को रक्षार्थ ग्रथित किया जा सके। 'ग्रन्थ' शब्द का मूलार्थ यही प्रतीत होता है। इसलिये यह स्वाभाविक ही है कि 'ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मणों में नहीं मिलता है।

ग्रन्थ-प्रणयन-युग के पूर्व जो अवस्था थी, उसको हम 'प्रवचन' या 'विद्या-प्रवचन' कह सकते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि विद्या-प्रवचन और ग्रन्थ-प्रणयन में भेद है; और ग्रन्थ-प्रणयन की परिपाटी का प्रारंभ विद्या-प्रवचन की परिपाटी के आरम्भ होने के बहुत पीछे ही हुआ। दोनों में क्या भेद है? इसका विचार हम नीचे करते हैं।

प्रवक्ता और ग्रंथ-कर्त्ता

पाणिनि आचार्य की **अष्टाध्यायी** में दो सूत्र आते हैं, जिनसे उक्त भेद और उसके स्वरूप के समझने में बड़ी सहायता मिलती है। वे सूत्र ये हैं:—

तेन प्रोक्तम्। (पा० ४।३।१०१)

कृते ग्रन्थे। (पा० ४।३।११६)

दोनों सूत्र दो पृथक् प्रकरणों से संबंध रखते हैं। परन्तु आपाततः दोनों में कोई विशेष भेद प्रतीत नहीं होता। किसी ने एक ग्रन्थ बनाया या एक ग्रन्थ कहा, इसमें क्या भेद हो सकता है? पर यदि दोनों में भेद नहीं है, तो दो प्रकरणों की आवश्यकता ही क्या थी? दोनों प्रकरणों के उदाहरण भी प्रायः भिन्न-भिन्न ही हैं। इसलिये यही मानना होगा कि प्रवचन या विद्या-प्रवचन और ग्रन्थ-प्रणयन में वस्तुतः भेद है; और विद्या-प्रवचन के करने वालों को प्रवक्ता और ग्रन्थ-प्रणयन के करने वालों को ग्रन्थकर्ता कहने की परम्परा प्राचीन काल से चली आई है। इसीलिये उपर्युक्त दोनों प्रकरणों की आवश्यकता थी। यह ध्यान में रखना चाहिये कि यहाँ हम 'ग्रन्थ' शब्द को उपर्युक्त लिखित पत्रादि सामग्री के ग्रन्थन से बनी हुई पोथी के विशिष्ट अर्थ में ले रहे हैं। इसीलिये यहाँ 'ग्रन्थ-प्रवचन' न कहकर 'विद्या-प्रवचन' कहा है।

विद्या-प्रवचन और ग्रन्थ-प्रणयन में मुख्य भेद हमारी सम्मति में यह है। **विद्या-प्रवचन** में अर्थ या प्रतिपाद्य विषय का प्राधान्य होता है। शब्दानुपूर्वी की ओर ध्यान नहीं होता। **ग्रन्थ-प्रणयन** में शब्दानुपूर्वी का भी पूरा स्थान होता है। दूसरे शब्दों में, जहाँ विद्या-प्रवचन में मुख्यतः प्रतिपाद्य विषय के परम्परा-प्राप्तत्व में आशय है, वहाँ ग्रन्थ-प्रणयन में अर्थ के नवीन गुम्फन की ओर अधिक संकेत है। प्रवचन और व्याख्यान ('व्याख्या' के अर्थ में नहीं, किन्तु आधुनिक 'लेक्चर' के अर्थ में) बहुत-कुछ समानार्थक हैं। इसलिये, एक दृष्टि से, विद्या-प्रवचन और ग्रन्थ-प्रणयन में वैसा ही भेद है, जैसा एक 'व्याख्यान' और एक 'पुस्तक' में हो सकता है। साथ ही प्राचीन काल के प्रवचन में, जैसा ऊपर कहा

हैं, परम्परा-प्राप्तत्व का आशय अधिक था । इसीलिये पाणिनि के 'तेन प्रोक्तम्' इस सारे प्रकरण में श्रुति (=छन्दस् तथा ब्राह्मण) या श्रुति-समकक्ष (अर्थात्, प्रवचन की परम्परा से प्राप्त) साहित्य को दृष्टि में रखकर ही उदाहरण दिये गये हैं ।

शुद्ध प्रवचन-काल

भारतवर्ष की अध्ययनाध्यापन की परम्परा में एक ऐसा समय था, जबकि प्रवचन, उपदेश, या व्याख्यान द्वारा ही अध्ययनाध्यापन का कार्य चलता था । ग्रन्थों का उसमें कोई स्थान ही नहीं था । इस काल को हम शुद्ध-प्रवचन-काल कह सकते हैं । यह काल चरणों, शाखाओं और परिषदों के प्रारंभिक काल से लगभग मिलता है । इनका विचार हम नीचे करेंगे । शुद्ध-प्रवचन-काल के वाङ्-मय या साहित्य की हम आज-कल के 'यूनिवर्सिटी-लेक्चर्स' के साथ तुलना कर सकते हैं । तो भी दोनों में यह भेद है कि आधुनिक 'यूनिवर्सिटी लेक्चर्स' प्राय: किसी लिखित आधार पर दिये जाते हैं; पर शुद्ध-प्रवचन-काल में प्रवचन या उपदेश का बहुत करके कोई लिखित आधार न होता था ।

यह ध्यान देने की बात है कि 'पठ' (=पढ़ना) धातु का किसी रूप में प्रयोग वैदिक संहिताओं में नहीं मिलता । तदनन्तर काल के ब्राह्मणों तथा आरण्यकों के साहित्य में भी इस का प्रयोग, केवल **तैत्तिरीय आरण्यक** को छोड़कर, नहीं मिलता[1] । हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे आजकल "लिखना-पढ़ना" इन दोनों शब्दों का साहचर्य है, इसी प्रकार 'पठ' धातु का प्रयोग भी प्रारंभ से ही लिखित ग्रन्थादि के पढ़ने के लिये होता था । इसीलिये श्रुति के साथ 'पठ' धातु का सम्बन्ध प्राचीन काल में नहीं था ।

वास्तव में श्रुति-कालीन अध्ययनाध्यापन से संबद्ध शब्दों का आधार प्रधानत: 'अधि+इ' (=अध्ययन करना; अधि+अयन=आत्मगत करना), 'ब्रू' या 'वच' (=बोलना), और 'श्रु' (=सुनना) ये धातुएँ ही थीं । इसलिए इन धातुओं से निष्पन्न 'अध्ययन', 'प्रवचन', 'अनूचान', 'प्रवक्ता', 'सूक्त', 'श्रुति', 'शश्रूषु' (मूलार्थ 'सुनने का इच्छुक') जैसे प्रयोग ही प्राचीन वैदिक वाङ्मय में देखे जाते हैं ।

शुद्ध-प्रवचन-काल का साहित्य दो तरह का पाया जाता है—एक तो वह, जिसका सम्बन्ध साक्षात् किसी व्यक्ति विशेष से कहा जाता है; जैसे, **एतरेय-**

---

१. लिखने के अर्थ में 'लिख' धातु का प्रयोग भी वैदिक संहिताओं और ब्राह्मणों तथा आरण्यकों में नहीं मिलता ।

ब्राह्मण का सम्बन्ध महिदास ऐतरेय से कहा जाता है। दूसरा वह, जिसका किसी व्यक्ति-विशेष से वैसा सम्बन्ध नहीं है। इस काल में इसी प्रकार के साहित्य का बाहुल्य है। अनेक उपनिषद् और ब्राह्मण ऐसे ही हैं। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि इस काल का साहित्य उस समय के चरणों की ही संपत्ति समझी जाती थी। दूसरे, याज्ञवल्क्य आदि का अपने ब्राह्मण से सम्बन्ध प्रवचन द्वारा ही था, न कि ग्रन्थ-प्रणयन द्वारा। "**पुराण-प्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु**" (पाणिनि ४।३।१०५) इत्यादि सूत्रों में **पाणिनि** का भी यही अभिप्राय है। यही कारण है कि उक्त ब्राह्मणादि साहित्य के विषय में कोई ग्रन्थ-कर्ता नहीं माना जाता। व्यक्ति-विशेष के साथ उसका सम्बन्ध होने पर भी उस व्यक्ति को ग्रन्थ-कर्ता न कह कर प्रवक्ता ही कहा जाता है। इसी कारण "**याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि**" आदि में **पाणिनि** का "**कृते ग्रन्थे**" (पा० ४।३।११६) सूत्र न लग कर प्रोक्तार्थ में ही प्रत्यय होता है।

इससे यह सिद्ध है कि शुद्ध-प्रवचन-काल में ग्रन्थ-प्रणयन आरम्भ नहीं हुआ था।

प्रवचन तथा ग्रन्थ-प्रणयन का मिश्रित काल

चरणों, शाखाओं और परिषदों के काल में ही दूसरा काल ऐसा आया, जबकि प्रवचन और ग्रन्थ-प्रणयन दोनों ही परिपाटियाँ साथ साथ प्रचलित थीं। इसको हम मिश्रित-काल कह सकते हैं। तो भी इस काल में निस्सन्देह प्रवचन की परिपाटी धीरे धीरे लुप्त हो रही थी, और ग्रन्थ-प्रणयन की बढ़ रही थी।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन कल्प-सूत्रों (जैसे '**पैङ्गी कल्पः**' यहाँ '**पिङ्गेन प्रोक्तः**' यही अर्थ किया जाता है, न कि '**पिङ्गेन कृतः**' यह अर्थ; देखो पाणिनि ४।३।१०५) और अन्य निबन्धों में भी, ग्रन्थकर्ता के नाम के साथ में रहने पर भी, प्रोक्तार्थ में ही प्रत्यय किया जाता है; '**कृते ग्रन्थे**' इस अर्थ में नहीं। यह बात पिछले काल के **न्याय-सूत्र, मीमांसा-सूत्र** आदि के विषय में नहीं है। वे अपने ग्रन्थकारों द्वारा 'प्रोक्त' नहीं, किन्तु 'कृत' ही समझे जाते हैं। इसका कारण यही है कि ये ग्रन्थ उस समय के बने हुए हैं, जबकि चरणों आदि की परम्परा बहुत कुछ शिथिल या लुप्त-प्राय हो गयी थी। चरणों तथा उनकी परिषदों के दिनों में, जिनकी तुलना बहुत-कुछ आधुनिक 'रेजिडेंशल यूनिवर्सिटीज' से की जा सकती है, गुरु अपनी शिष्य-मण्डली के सामने, परम्परा-गत प्रणाली के अनुसार, विद्या-प्रवचन ही किया करते थे; और ग्रन्थ-प्रणयन होता भी था, तो स्वयं गुरु द्वारा या शिष्यों द्वारा गौण रीति से ही किया जाता था।

यहाँ प्रसंगवश एक और बात पर भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। शुद्ध-प्रवचन-काल के वाङ्मय के लिए 'श्रुति' शब्द का प्रयोग किया जाता है, और उसके पीछे के सूत्र-ग्रन्थ 'स्मृति' समझे जाते हैं। विद्वानों से यह छिपा नहीं है कि धर्म-सूत्रों के समान ही पाणिनि आदि के अन्य सूत्र-ग्रन्थों के लिए भी प्राचीन ग्रन्थकार 'स्मृति' शब्द का प्रयोग करते हैं।

इस 'श्रुति' 'स्मृति' के व्यवहार-भेद का कारण अनेक विद्वान् और ही बतलाते हैं। पर हमारी सम्मति में तो इसका कारण स्पष्टतया यही है कि शुद्ध-प्रवचन-काल में तत्कालीन वाङ्मय के लिखित रूप में न होने से श्रवण और प्रवचन की मौखिक परम्परा द्वारा ही वह शिष्य-प्रशिष्यों में रक्षित रहता था। इसीलिये इस को 'श्रुति' नाम से कहा जाता है। प्राचीन साहित्य में इसी कारण 'इति शुश्रुम' (=ऐसा सुनते हैं) प्रायः आता है। लिखित ग्रन्थों के न होने के कारण और केवल श्रवण की परम्परा द्वारा रक्षित होने से इस वाङ्मय में कितना अंश शब्दतः किस ऋषि या आचार्य का है, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता था। प्रायः इसीलिये इस वाङ्मय को हमारे धार्मिक ग्रन्थों में 'अपौरुषेय' तक कहा है।[1]

प्रवचन और ग्रन्थ-प्रणयन के मिश्रित काल में जो कुछ सुना जाता था, वह पीछे से किसी लिखित आधार की सहायता से 'स्मरण' किया जाता था। इसलिये इसको 'श्रुति' न कह कर 'स्मृति' कहने लगे। लेख द्वारा प्रवचन-कर्ता का कथन ठीक-ठीक सुरक्षित किया जा सकता है। इसलिये निःसन्देह रूप में उसको व्यक्ति-विशेष के साथ संबद्ध कर सकते हैं। इसी कारण इस काल के ग्रन्थ स्पष्टतया 'पौरुषेय' हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त मिश्रित काल में भी, पुरानी परिपाटी के अनुसार, ये ग्रन्थ बहुत अंश तक परिषदों की ही संपत्ति समझे जाते थे। इसका अर्थ यह है कि आवश्यकता के अनुसार उक्त ग्रन्थों में धीरे-धीरे परिषदों द्वारा परिवर्तन किये जा सकते थे।

इस समय के ग्रन्थों में यह बात प्रायः देखी जाती है कि उनके मूलरूप के साथ क्रमशः कुछ नया अंश भी बढ़ता रहा है। ऋग्वेद-प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों

---

१. पिछले काल तक—वेद को लिखना नहीं चाहिए—यह विचारधारा चली आयी थी। "वेदविक्रयिणश्चैव वेदानां चैव लेखकाः। वेदानां दूषकाश्चैव ते वै निरयगामिनः॥" इस प्रकार वेद लेखन की निन्दा के वचन प्रायः मिलते हैं।

में स्पष्टतया पीछे से बढ़ाये हुए अंश उपलब्ध हैं। धर्मसूत्रों में भी, कई के विषय में, विद्वानों की ऐसी ही सम्मति है। कहीं कहीं यह बढ़ाया हुआ अंश प्राचीन मूल अंश से विरुद्ध भी दिखलायी देता है। कहीं-कहीं भाव के भेद के साथ-साथ शैली का भेद भी स्पष्ट है। इन कारणों से यह अतिरिक्त अंश स्पष्टतया मूल-ग्रन्थ-कर्ता का तो हो नहीं सकता। ऐसी अवस्था में प्रश्न होता है कि 'ऐसा क्यों कर हुआ ?'

हमारी समझ में इसका उत्तर यही है कि या तो भिन्न-भिन्न चरणों की परिषदों द्वारा या उस-उस आचार्य की परिषदन्तर्गत शिष्य-परम्परा द्वारा ही उन ग्रन्थों को समयानुकूल या संपूर्णाङ्ग बनाने के लिए अतिरिक्त अंश उनमें जोड़ दिये जाते थे।

इसका प्रारम्भिक प्रकार यही रहा होगा कि या तो नई बात परिशिष्ट के रूप में ग्रन्थों में जोड़ दी जाती थी, जिसको कालान्तर में ग्रन्थ का भाग ही समझ लिया जाता था (निरुक्त आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे परिशिष्ट पाये जाते हैं); या यह हो सकता है कि अतिरिक्त अंश टीका-टिप्पणी के रूप में मूल-ग्रन्थ में ही लिख दिया जाता था, और धीरे-धीरे वह ग्रन्थ का भाग बन जाता था। उदाहरणार्थ, **ऋग्वेद-प्रातिशाख्य** में ११वाँ पटल दशम पटल की विस्तृत व्याख्या-जैसा ही है। स्पष्टतया वह पीछे से बढ़ाया गया है। इसी ग्रन्थ में तीसरे पटल का अन्तिम श्लोक और दूसरे पटलों के अनेक श्लोक स्पष्टतया पीछे से जोड़े हुए हैं। अनेक टिप्पणियाँ किस प्रकार मूल-ग्रन्थ में संमिलित हो जाती हैं, इसके आधुनिक उदाहरण हस्त-लिखित पोथियों में प्रायः मिलते हैं। जिनको ऐसी पोथियों से काम पड़ा है, वे जानते हैं कि एक पोथी के किनारों की टिप्पणियाँ (marginal notes) उस के आधार पर प्रतिलिपि की हुई दूसरी पोथी में किस प्रकार मूल में सम्मिलित कर ली जाती हैं।

यह भी हो सकता है कि मूल-ग्रन्थ समय समय पर परिषदों द्वारा वस्तुतः प्रतिसंस्कृत या 'रिवाइज़्ड' किये जाते थे। ये नवीन संस्करण परिषदों द्वारा 'प्रकाशित' किये जाते थे। ऐसा होने पर भी इन नवीन परिवर्तित संस्करणों पर मूल ग्रन्थ-कर्ता (या प्रवक्ता) का ही नाम रहता था। दूसरे शब्दों में, यदि हम परिषदों को उन दिनों की 'यूनिवर्सिटीज़' समझें, तो इन संस्करणों को 'यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन्स' कह सकते हैं।

प्रतिसंस्कर्ता या संपादक, चाहे परिषद् के रूप में, चाहे एक शिष्य के रूप में, मूल-ग्रन्थ में परिवर्तन करने में काफ़ी स्वतंत्रता से काम ले सकता था। इस का विशेष विचार हम आगे चल कर करेंगे। हमारे विचार में इस स्वतंत्रता से

यहाँ तक काम लिया जाता था कि मूल-ग्रन्थ के रूप को ही प्रतिसंस्कर्ता बिल्कुल बदल सकता था। शङ्ख-स्मृति आदि अनेक ग्रन्थ, जो प्रारम्भ में सूत्ररूप में (गद्य में) थे, पीछे से पद्य में कर दिये गये। यह इस स्वतंत्रता का ही परिणाम था। इस पर भी ये रूपान्तरित ग्रन्थ प्रायः मूल-ग्रन्थ-कर्ता के ही नाम से प्रसिद्ध रहे।

मूल-ग्रन्थ-कर्ता के शब्दों के साथ प्रतिसंस्कर्ताओं की इतनी स्वतंत्रता की प्रवृत्ति कैसे चल पड़ी? इसका कारण, हमारे विचार में, शुद्ध प्रवचन-काल से ही मिल सकता है। हम कह चुके हैं कि उस समय, आधुनिक 'लेक्चरों' के समान, प्रवचन शब्दशः सुरक्षित नहीं किये जा सकते थे। उनके भाव की ही रक्षा हो सकती थी। यही प्रवृत्ति दूसरे मिश्रित काल में भी बनी रही। इसी परम्परागत प्रवृत्ति के कारण उक्त स्वतंत्रता मूल-ग्रन्थ के साथ बाद को भी ली जाती रही।

ऐसा भी हो सकता है कि प्रवक्ता या प्रवचन-कर्ता के प्रवचनों को लेख-बद्ध, उसी समय या बाद को, उसके शिष्य करते रहे हों।

जैसा ऊपर कहा है, **बृहद्देवता** आदि ग्रन्थों में उनके प्रसिद्ध ग्रन्थकारों के नाम और मत प्रमाणरूप से प्रथम-पुरुष और परोक्ष-भूतकाल में उद्धृत किये गये हैं। यही नहीं, **बृहद्देवता** में उसके ग्रन्थ-कर्ता **शौनक** के शिष्य **आश्वलायन** का भी मत उद्धृत किया गया है (देखो बृह० दे० ४।१३९—"**अस्माकमुत्तमं सूर्यं स्तौतीत्याहाश्वलायनः**")। यही बात वेदान्तसूत्रों में भी पायी जाती है।

इस असंगति का समाधान अनेक लोग अनेक तरह से करते हैं। उदाहरणार्थ, **बौधायनधर्मसूत्र** (३।५।८) में **बौधायन** के ही मत का उल्लेख देखकर उसका टीकाकार कहता है—

"**बौधायनसंशब्दनाद् अस्य शिष्योऽस्य ग्रन्थकर्तेति गम्यते।**"

अर्थात्, 'बौधायन' के उल्लेख से जान पड़ता है कि उन का शिष्य इसका ग्रन्थकर्ता है।

एक और टीकाकार ऐसे ही प्रसंग में कहता है—

"**प्रायेण ग्रन्थकाराः स्वमतं परापदेशेन ब्रुवते।**"

अर्थात्, ग्रन्थकार अपने मत को प्रायः प्रथम-पुरुष में कहते हैं।

हम तो यही समझते हैं कि इस असंगति का भी समाधान वही है, जो ग्रन्थों में परिवर्तन और परिवृद्धि आदि का है। अर्थात्, उन दिनों परिषदों के प्रभाव से ही, चाहे साक्षात् परिषद् द्वारा, चाहे परिषदन्तर्गत उस आचार्य के शिष्यों द्वारा, मूल-ग्रन्थ संस्कृत या प्रतिसंस्कृत होते थे। ऐसा मान लेने से उक्त असंगति का समाधान सरलतया हो जाता है।

ऊपर शाखाओं, चरणों और परिषदों का उल्लख हमने किया है। इसलिए इनके स्वरूप आदि के विषय में यहाँ कुछ कहना आवश्यक प्रतीत होता है।

शाखा, चरण और परिषद्

ऊपर दिये हुए निरुक्त के वचन के अनुसार पहले ऋषियों द्वारा मन्त्र प्रकाशित हुए, और फिर उन्होंने उपदेश द्वारा उनको दूसरों को सिखलाया। प्रारम्भ में भिन्न-भिन्न ऋषि-कुलों में अपने पूर्वजों से प्राप्त मन्त्रों की रक्षा इसी प्रकार की गयी। कालान्तर में समस्त मन्त्रों को इकट्ठा करके वैदिक संहिता या संहिताओं का रूप दिया गया। धीरे-धीरे आर्यों के दैशिक विस्तार के कारण भिन्न-भिन्न वैदिक 'शाखाओं' की उत्पत्ति हुई। देश-भेद (और काल-भेद) से मूल-संहिता या संहिताओं में अनिवार्य रूप से होने वाला अध्ययन—(या पाठ-) भेद ही शाखा-भेद का कारण था। अध्ययन-भेद से शाखाओं के भेद का (तु० "अध्ययनभेदाच्छाखाभेदः") तथा देश-भेद से शाखाओं की व्यवस्थिति (तु० "देशभेदेन शाखानां व्यवस्थानम्") का सिद्धान्त परम्परा से सर्व-मान्य चला आया है। धीरे-धीरे वैदिक संहिताओं के सहकारी ब्राह्मणादि-साहित्य में भी वैसा ही भेद हो गया।[1]

इन शाखाओं के अध्येतृवर्ग 'चरण' कहलाते थे।[2]

मूल में इन चरणों की विद्वत्सभाओं या विद्यासभाओं को ही 'परिषद्' समझना चाहिए।

मनुस्मृति में धर्म-निर्णयार्थ परिषदों का वर्णन इस प्रकार किया है—

दशावरा वा परिषद् यं धर्मं परिकल्पयेत्।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत्॥
त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद् दशावरा॥

---

१. तु. "स्वाध्यायैकदेशो मन्त्रब्राह्मणात्मकः शाखेत्युच्यते। तयोर्मन्त्रब्राह्मणयोरन्यतरभेदेन वेदेऽवान्तरशाखाभेदः स्यादिति चेत्। सत्यम्।" (महादेवकृत हिरण्यकेशिभाष्य)। तथा "प्रवचनभेदात्प्रतिवेदं भिन्ना भूयस्यः शाखाः" (प्रस्थान-भेद)।

२. तु० "चरणः शाखाध्येता" (पाणिनि ४।१।६३ पर तत्त्वबोधिनी), "चरणशब्दः शाखाविशेषाध्ययनपरैकतापन्नजनसंघवाची" (मालतीमाधव नाटक पर जगद्धर की टीका)। "चरणशब्दः शाखाध्यायिषु रूढः" (आपस्तम्बधर्मसूत्रटीका)

ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ।।
(मनु० १२।११०-११२)

अर्थात्, 'दशावरा' परिषद् अथवा 'त्र्यवरा' परिषद् जिस धर्म की परिकल्पना करे, उस धर्म से नहीं हटना चाहिए। त्रैविद्य, हैतुक, तर्की, नैरुक्त, धर्मपाठक, और पहले तीनों आश्रमों वाले---ये मिलकर दशावरा परिषद् होती है। ऋग्वेद-ज्ञाता, यजुर्वेद-ज्ञाता और सामवेद-ज्ञाता, ये मिलकर त्र्यवरा परिषद् बनती है। ये परिषदें धर्म-विषयक संशयों के निर्णय के लिए होती हैं।

ऊपर के श्लोकों से स्पष्ट है कि एक समय ऐसा था, जब भारतवर्ष में परिषदों की परिपाटी प्रचलित थी। यह माना कि यहाँ केवल धर्म-विषयक निर्णयों के लिए ही परिषद् का वर्णन है; परन्तु अध्ययनाध्यापन की परम्परा में भी 'परिषद्', 'पार्षद' आदि शब्दों के पाये जाने से यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि जैसे दूसरे विषयों में सर्वसाधारण के हित के लिए सामूहिक प्रश्नों के निर्णयार्थ परिषदें होती थीं, इसी प्रकार विद्या-परिषदें[1] भी होती थीं। निरुक्त के "पद-प्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि"[2] (नि० १।१७) इस वाक्य से, तथा ऐसे ही अन्य प्रमाणों से उस काल में चरणों से संबन्ध रखने वाली परिषदों की सिद्धि होती है।

चरणों के अनुयायियों या 'मेंबरों' का इन परिषदों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता था। परिषद् का कर्तव्य था कि वह अपने चरण से संबद्ध विद्या-परम्परा या वाङ्मय की पूर्णतया रक्षा करे और उसकी उन्नति करे। अपने सभापति-स्थानीय आचार्य (या कुलपति) या किसी सदस्य द्वारा प्रोक्त, प्रचारित विद्या या प्रणीत ग्रन्थ की वह संरक्षिका होती थी। यही कारण प्रतीत होता है, जिससे अपने किसी सदस्य के ग्रन्थ को बढ़ाने या परिवर्तित करने का पूर्ण अधिकार परिषद् को होता था।

---

१. उदाहरणार्थ, बृहदारण्यकोपनिषद् (६।२।१) में "श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः पञ्चालानां परिषदमाजगाम" इस प्रकार एक विद्या-परिषद् का उल्लेख है। इन परिषदों में कैसे विचार होता था, इसका एक अच्छा उदाहरण चरक-संहिता, सूत्र-स्थान, अध्याय २५ और २६ में मिलता है।

२. इसकी व्याख्या में दुर्गाचार्य शब्दतः चरण-संबन्धी परिषद् (तु० "स्वचरण-परिषदि") का उल्लेख करते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि चरणों और शाखाओं के समान ये सब परिषदें वैदिक अध्ययनाध्यापन की ही परम्परा से संबद्ध न होती थीं। हमारा विचार है कि समस्त धार्मिक साहित्य—जैसे पुराण और धर्मशास्त्र—की देख-भाल भी कुछ परिषदें ही करती थीं। पुराणों में नैमिषारण्य आदि में ऋषियों की परिषदों का वर्णन मिलता है। इन परिषदों का किसी वैदिक चरण या शाखा-विशेष से संबन्ध नहीं होता था। इसीलिए वैदिक चरणों आदि की परम्परा के ढीले पड़ जाने पर भी परिषदों द्वारा पुराणों आदि में रूपान्तरण या प्रतिसंस्करण किये जाते रहे। यदि इन प्रतिसंस्करणों में परिषदों का हाथ न होता, तो इनको सर्वमान्यता का पद प्राप्त होना अत्यन्त कठिन था।

पुराणों और धर्मशास्त्रों के ऐसे प्रतिसंस्करण समय-समय पर होते रहे हैं, इसके अनेकानेक प्रमाण दिये जा सकते हैं। हमारे विचार में मनुस्मृति आदि के प्रतिसंस्करण या शंख आदि की गद्यात्मक स्मृतियों के पद्यात्मक प्रतिसंस्करण ऐसी ही परिषदों द्वारा किये गये होंगे। इसीलिए ऐसे प्रतिसंस्करणों के साथ किन्हीं व्यक्ति-विशेषों के नाम नहीं लगे हुए हैं।

शुद्ध ग्रन्थ-प्रणयन-काल

काल-क्रम से देश की राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के बदल जाने से वैदिक चरणों से संबन्ध रखनेवाली परिषदों का लोप होने लगा। इसी समय संस्कृत-साहित्य में एक प्रकार से वैज्ञानिक युग का प्रारम्भ हुआ। वैदिक परिषदों के दिनों में उनके साहित्य का दायरा वेद की परिधि से संकुचित था। उस साहित्य का संबन्ध मुख्यतः वेद से था। दूसरे शब्दों में, वेद-वेदांग ही उनके अध्ययनाध्यापन के विषय थे। परन्तु अब विद्वान् लोगों की दृष्टि अति व्यापक और विस्तृत होने लगी। जहाँ पहले विभिन्न शाखाओं से संबन्ध रखने वाले **'प्रातिशाख्य'** जैसे ग्रन्थ लिखे जाते थे, वहाँ अब पाणिनीय-व्याकरण जैसे वैज्ञानिक तथा **सर्ववेद-साधारण** ग्रन्थ लिखे जाने लगे। जहाँ **'प्रातिशाख्य'** जैसे ग्रन्थों का संबन्ध वेद की शाखाविशेषों से ही था, वहाँ **पाणिनीय अष्टाध्यायी** प्रधानतया, वैदिक भाषा के लिए नहीं, किन्तु लौकिक संस्कृत के लिए लिखी गयी। पाणिनि की दृष्टि स्पष्टतया किसी भी परिषत्कालीन ग्रन्थ से व्यापकतर है।[1]

---

१. दे० महाभाष्य (६।३।१४):—"सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्। तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्।" इसी की व्याख्या करते हुए कैयट कहते हैं—"प्रातिशाख्यसद्भावेऽपि सर्ववेदसाधारणेनानेन शब्दानां प्रतिपादनं क्रियते।"

यह वस्तुतः 'शुद्ध ग्रन्थ-प्रणयन-काल' का प्रारम्भ था। एकस्थानीय[1] परिषदों से संबन्ध रखनेवाले चरणों के लिए विद्या-प्रवचन एक आवश्यक और महत्त्व की प्रथा थी। आस-पास में रहनेवाले (=अन्तेवासी) शिष्यों के लिए आचार्य का प्रवचन ही पर्याप्त था। अब अतिव्यापक दृष्टि से लिखे गये ग्रन्थों का क्षेत्र देश-व्यापी हो गया। इसी कारण प्रवचन से ग्रन्थ-प्रणयन का महत्त्व कहीं अधिक होने लगा। अन्यान्य कारणों के साथ-साथ बौद्ध आदि प्रतिद्वन्द्वियों के संघर्ष से भी संकुचित वैदिक परिषदों की प्रथा के ह्रास में सहायता अवश्य मिली होगी। इसी कारण से कदाचित् विद्वानों में वैज्ञानिक और व्यापकतर दृष्टि के पैदा होने में भी सहायता मिली होगी।

शुद्ध ग्रन्थ-प्रणयन की प्रथा के चल पड़ने पर ग्रन्थों पर ग्रन्थ-कर्ताओं के नाम की मुहर लगने लगी। धर्मशास्त्र और पुराणों को छोड़ कर, जिनकी देख-भाल, हमारे विचार में, कदाचित् अब भी धर्म-परिषदों के हाथ में थी, अन्य ग्रन्थों में इस समय के बाद प्राचीन परिषत्कालीन ग्रन्थों के समान परिवर्तन या प्रतिसंस्करण की चाल उठ गयी। इसीलिए इस समय के बाद के ग्रन्थों में अधिकतर परिवर्तन नहीं देखे जाते। यदि उनका प्रतिसंस्करण हुआ भी, तो प्रतिसंस्कर्ता का नाम भी साथ में दिया जाने लगा। इसका एक उत्तम उदाहरण चरक-संहिता से मिलता है। अग्निवेश द्वारा 'प्रोक्त' आयुर्वेद-शास्त्र का संस्करण या प्रतिसंस्करण चरक ने किया; इसमें पीछे से कुछ अंश दृढबल ने बढ़ाया; यह स्पष्टतया सिद्धि-स्थान, अध्याय १२ में अंकित मिलता है।

संस्कर्ता या प्रतिसंस्कर्ता

ऊपर हमने अनेक बार 'संस्करण' या 'प्रतिसंस्करण' का उल्लेख किया है। इसका प्रकार क्या था, इसका स्पष्ट वर्णन, जैसा हमने ऊपर कहा है, चरक-संहिता में मिलता है। वह यह है—

चरक-संहिता के उपसंहार में निम्नस्थ श्लोक आते हैं—

> इत्यध्यायशतं विंशमात्रेयमुनिवाङ्मयम्।
> हितार्थं प्राणिनां प्रोक्तमग्निवेशेन धीमता ॥७४॥

---

१. दे० "आचार्यं सपरिषत्कं भोजयेत्" (गोभिल-गृह्य-सूत्र) का भाष्य "सह परिषदा शिष्यगणेन वर्तत इति सपरिषत्कः। तम्।" ऐसे प्रमाणों से परिषदों की एकस्थानीयता स्पष्ट है।

विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यतिविस्तरम् ।
संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम् ॥७६॥
अतस्तन्त्रोत्तममिदं चरकेणातिबुद्धिना ।
संस्कृतं... ... ... ॥७७॥

अर्थात्, आत्रेय मुनि द्वारा प्राप्त इस एकसौ-बीस अध्याय वाले वाङमय को प्राणियों के हित के लिए बुद्धिमान् अग्निवेश ने सूत्रित या ग्रन्थबद्ध करके शिष्यों को पढ़ाया। इस उत्तम तन्त्र का संस्करण (या प्रतिसंस्करण) अतिबुद्धिमान् चरक ने किया।

संस्कर्ता (या प्रतिसंस्कर्ता) का काम यही होता है कि वह संक्षेप से कही हुई बात को विस्तार करके स्पष्ट कर दे, और अतिविस्तृत अंश को संक्षिप्त कर दे। इस प्रकार संस्कर्ता एक पुराने ग्रन्थ को पुनः नवीन कर देता है।

चरक के स्थानों के अन्त में ये शब्द आते हैं—

अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते ।

अर्थात्, अग्निवेश इस शास्त्र (तन्त्र) के बनाने वाले हैं, और चरक प्रति-संस्कर्ता हैं।

इसी ग्रन्थ के सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय में इस शास्त्र का अग्निवेश तक का भी इतिहास दिया है। इस प्रसंग में उस को भी यहां देना उचित प्रतीत होता है।

इन्द्र ने भरद्वाज महर्षि को आयुर्वेद का उपदेश दिया। भरद्वाज ने उसे अन्य ऋषियों को दिया। तब

अथ मैत्रीपरः पुण्यमायुर्वेदं पुनर्वसुः ।
शिष्येभ्यो दत्तवान् षड्भ्यः सर्वभूतानुकम्पया ॥२८॥
अग्निवेशश्च भेलश्च जतूकर्णः पराशरः ।
हारीतः क्षारपाणिश्च जगृहुस्तन्मुनेर्वचः ॥२९॥
बुद्धेर्विशेषस्तत्रासीन्नोपदेशान्तरं मुनेः ।
तन्त्रप्रणेता प्रथममग्निवेशो यतोऽभवत् ॥३०॥
अथ भेलादयश्चक्रुः स्वं स्वं तन्त्रं, कृतानि च ।
श्रावयामासुरात्रेयं सर्षिसंघं सुमेधसः ॥३१॥
श्रुत्वा सूत्रणमर्थानामृषयः पुण्यकर्मणाम् ।
यथावत् सूत्रितमिति प्रहृष्टास्तेऽनुमेनिरे ॥३२॥

अर्थात्, तब मैत्री रखने वाले पुनर्वसु (आत्रेय) ने सब जीवों पर कृपा के कारण पवित्र आयुर्वेद को अपने छः शिष्यों को दिया। मुनि के वचन को अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि ने ग्रहण किया। अपनी बुद्धि के वैशिष्ट्य के कारण, न कि इसलिए कि उनको गुरु ने कोई विशेष उपदेश दिया था, अग्निवेश ने सब से प्रथम इस तन्त्र का प्रणयन किया। उस के अनन्तर भेल आदि नें भी अपने-अपने तन्त्र बनाये। उन मेधावियों ने अपने प्रणीत तन्त्रों को ऋषिसमाज (या परिषद्) में बैठे हुए आत्रेय को सुनाया। उन पवित्र कर्म करने वालों द्वारा 'अर्थ' (=सुने हुए प्रतिपाद्य विषय) के 'सूत्रण' (=ग्रन्थ रूप में ग्रथन) को सुन कर प्रसन्न ऋषि-समाज (या परिषद्) ने "आपने ठीक-ठीक सूत्रित किया है" यह कहते हुए अपनी अनुमति दी।

ऊपर के संदर्भ से स्पष्ट है कि प्रारम्भ में अनेक पीढ़ियों तक प्रवचन द्वारा ही इस शास्त्र की परम्परा चलती रही। पीछे से अग्निवेश आदि ने इसे ग्रन्थ-बद्ध किया। इस समय ऋषियों की परिषद् को सुनाकर इसके लिए उन की अनुमति प्राप्त की गयी। कालान्तर में इसी पुराने शास्त्र को प्रतिसंस्करण द्वारा चरक ने पुनः नया कर दिया। इसकी पूर्ति चिरकाल के पश्चात् दृढबल ने की, यह हम ऊपर कह चुके हैं।

इसी प्रकार के प्रतिसंस्करण या 'रिविज़न' के अनेक उदाहरण संस्कृत-साहित्य से दिये जा सकते हैं। एक उदाहरण ऋग्वेद-प्रातिशाख्य की एक टीका से मिलता है। विष्णुमित्र अपनी वृत्ति के आरम्भ में कहता है—

> लेख्यदोषनिवृत्त्यर्थं विस्तरार्थं क्वचित् क्वचित्।
> ज्ञातार्थपाठनार्थं च योज्यते सा मया पुनः॥

अर्थात्, लिखने की भूलों को मिटाने के लिए, कहीं कहीं विस्तार के लिए, और ज्ञात अर्थ को पढ़ाने के लिए मैं (इस वृत्ति को) पुनः ठीक (अर्थात् प्रति-संस्कृत) करने लगा हूँ।

प्रतिसंस्करण के विषय में ऊपर जो कुछ कहा है, उसकी यदि हम आजकल की परिपाटी से तुलना करें, तो यही कहना होगा कि जहाँ आजकल एक संपादक किसी प्राचीन (या नवीन) ग्रन्थ का संपादन करते हुए अनेक पाद-टिप्पणी आदि से उसे पूर्णाङ्ग कर देता है और साथ ही उस ग्रन्थ के मूल-स्वरूप की रक्षा करता है, अपनी पाद-टिप्पणियों आदि को उसमें नहीं मिला देता, वहाँ प्राचीन समय में एक प्रतिसंस्कर्ता अपनी टिप्पणियों आदि को मूल-ग्रन्थ में ही मिला देता था। साथ ही उसके संपादन या संस्करण में कहीं अधिक स्वतंत्रता से काम लेता था।

उपसंहार

संस्कृत-साहित्य की कुछ समस्याओं का समाधान करते हुए ऊपर हमने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि संस्कृत-साहित्य में ग्रन्थ-निर्माण की परिपाटी का इतिहास क्या है। ग्रन्थ-निर्माण के संबन्ध में भी प्रवक्ता, ग्रन्थकर्ता, संस्कर्ता या प्रतिसंस्कर्ता आदि के भेद को समझ लेने से तथा एतद्विषयक आधुनिक परिपाटियों के साथ प्राचीन प्रथा की तुलना करने से अनेक कठिनाइयों का सरलता से समाधान हो जाता है। संस्कृत-साहित्य के क्रमिक इतिहास को लिखने वाले के लिए इन बातों को समझने की कितनी अधिक उपयोगिता है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं है।

इसी संबन्ध में और भी अनेक उपयोगी विचार उठते हैं; जैसे, संहिताकार, प्राचीन काल में ग्रन्थ-प्रचार के कुछ विचित्र उपाय, ग्रन्थ-निर्माण में चोरी, ग्रन्थ-निर्माण और सांप्रदायिकता, खिल और प्रक्षेप, ग्रन्थों में प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण, आदि, आदि। इन पर विचार करना उपयोगी होने के साथ साथ मनोरञ्जक भी होगा। इन पर हम फिर कभी क्रमशः विचार करना चाहते हैं।

—:०:—

द्वितीय परिशिष्ट

(ख)

वेदों का वास्तविक स्वरूप

अथवा

वेदों के महान् आदर्श[1]

भद्रं नो अपि वातय मनः

(ऋग्० १०।२०।१)

माननीय विद्वद्गण तथा प्रिय ब्रह्मचारियो,

इस सुप्रसिद्ध गुरुकुल विश्वविद्यालय की स्वर्ण-जयन्ती के शुभ अवसर पर **वेद-सम्मेलन** के सभापति-पद के लिए जो मुझे निमन्त्रित किया गया है उसके लिए मैं इस समारम्भ के संयोजक महानुभावों का आभारी हूँ।

वेद और वैदिक वाङ्मय अतीव विस्तृत होने के साथ-साथ अत्यन्त गम्भीर भी है। मैं उसका न तो पारीवर्यविद् विद्वान् हूँ, न उसके कर्तव्यपथ का सफल यात्री हूँ। तो भी, वेद से मुझे अपने जीवन में सदा प्रकाश और प्रेरणा प्राप्त होती रही है, वैदिक आदर्शों और भावनाओं में मुझे अगाध श्रद्धा है, और चिरकाल से मैं वैदिक साहित्य का अनुशीलन करता रहा हूँ। मेरी दृढ़ धारणा है कि न

---
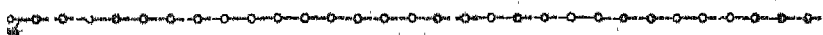
१. गुरुकुल विश्व-विद्यालय, कांगड़ी, के स्वर्ण-जयन्ती-महोत्सव (मार्च १९५०) पर वेद-सम्मेलन के सभापति-पद से दिया गया ग्रन्थकार का भाषण।

केवल भारतीय संस्कृति के अभ्युत्थान के लिए, किन्तु समस्त मानव-समाज के कल्याण के लिए भी, वैदिक आदर्शों और उदात्त भावनाओं की आवश्यकता है। इसी लिए उक्त निमन्त्रण को स्वीकार करना मैंने अपना कर्तव्य समझा।

वेद और आचार्य दयानन्द

आज संसार में यह असंभव है कि वेद के विषय में कोई गम्भीर विचार किया जाए और उसमें, शताब्दियों क्या सहस्राब्दियों में, वेदों के अद्वितीय विद्वान् आचार्य स्वामी दयानन्द का विशेष उल्लेख न हो। तो भी, बहुत कम लोग हैं जो वेद के विषय में आचार्य दयानन्द की अनोखी देन को वास्तव में समझते हैं। इसलिए वेद के विषय में कुछ भी कहने के प्रथम, वेद-विषयक आधुनिक परिस्थिति को समझने के उद्देश्य से, उस परिस्थिति के लाने वालों में प्रमुख स्थान रखनेवाले उन आचार्य के कार्य की पृष्ठभूमि का यहाँ निर्देश करना हम आवश्यक समझते हैं।

इसमें किस को सन्देह हो सकता है कि चिरन्तन काल से वेद भारतीय संस्कृति के प्रकाशस्तम्भ रहे हैं। भारतीय समाज के संगठन और उसकी जीवन-चर्या के नियमन और व्यवस्थापन के साथ-साथ उसकी आध्यात्मिक तथा अन्य उदात्त भावनाओं की प्रेरणा में भी वेद का प्रमुख स्थान रहा है।

व्यवस्थितार्यमर्यादः　　　कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति॥

(अर्थशास्त्र १।३)

इस प्रकार आचार्य कौटिल्य ने स्पष्टतया सामाजिक व्यवस्था द्वारा वेद के लोक कल्याणकारी प्रभाव का उल्लेख किया है।

वेदों से हमारी जाति को समय-समय पर ओज और बल प्राप्त होता रहा है।

भारत के महापुरुषों के जीवनों में जो लोकोत्तर महत्ता पायी जाती है उसमें साक्षात् या असाक्षात् रूप से देश के वातावरण में व्याप्त वैदिक उदात्त भावनाओं का स्पष्ट प्रभाव दिखायी देता है। इसी प्रभाव से प्रेरित होकर भारतीय संस्कृति ने एक बार इतिहास में मानव-समाज को, न केवल विशाल भारत के क्षेत्र में, किन्तु देशान्तरों में भी, सच्ची शान्ति, आध्यात्मिक भावना, सहिष्णुता और प्रेम का सन्देश दिया था।

संक्षेप में, वेद वास्तव में भारतीय संस्कृति के अक्षय्य निधि हैं और उनके कारण भारतीय संस्कृति संसार में अजर और अमर है।

उपर्युक्त मौलिक कारणों से ही वेद की महिमा तथा वेदाध्ययन की कर्तव्यता को वर्णन करनेवाले वचनों से हमारे शास्त्र भरे पड़े हैं; जैसे

वेदोऽखिलो धर्ममूलम् । (मनुस्मृति २।६)

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥
(मनु० २।७)

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यं चाप्रमेयञ्च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥
(मनु० १२।९४)

अर्थात्, वेद धर्म का मूल है, वेद सर्वज्ञान से समन्वित है, और वेद सनातन से सबका पथप्रदर्शक रहा है, इत्यादि प्रकार से वेद की महिमा का वर्णन शास्त्रों में पाया जाता है।

वेदाध्ययन की कर्तव्यता के विषय में भी—

वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ।
(मनु० २।१६५)

वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ।
(मनु० २।१६६)

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥
(मनु० २।१६८)

शूद्रेण हि समस्तावद् यावद् वेदे न जायते ।
(मनु० २।१७२)

अर्थात्, द्विज का यह कर्तव्य है कि वह समस्त वेद को पढ़े और उसके रहस्य को जाने। वेद का अभ्यास ब्राह्मण का सबसे बड़ा तप है। जो द्विज वेद को पढ़े बिना अन्य विषयों में श्रम करता है वह जीता हुआ ही शीघ्र अपने वंश के सहित शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार द्विज के लिए वेदाध्ययन परम आवश्यक बतलाया गया है। यही नहीं, व्याकरण, निरुक्त आदि वेदाङ्गों का[1] और मीमांसा आदि उपाङ्ग कहे

---

१. दे०—"रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्" (महाभाष्य, पस्पशाह्निक)। "अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते" (निरुक्त १।१५)। इत्यादि।

जाने वाले शास्त्रों का तो प्रयोजन ही वेद की रक्षा, वेदार्थज्ञान की योग्यता का संपादन तथा वैदिक कर्मों का सुचारु रूप से अनुष्ठान आदि बतलाया गया है।

ऐसा होने पर भी, भारत के इतिहास में एक समय ऐसा आया जब कि मोह और अज्ञान में फँसकर भारत ने वेदों के महत्त्व और वास्तविक स्वरूप को भुला दिया। मानवसमाज के उत्थान और कल्याण की सार्वभौम प्रेरणाएँ वेदों में निहित हैं—इस बात को भूल कर वह या तो उन की उपेक्षा ही कर बैठा या उनका उपयोग **"काचमूल्येन विक्रीतो हन्त चिन्तामणिर्मया"** इस कहावत के अनुसार प्रायेण साधारण कामनाओं की प्राप्ति के लिए ही करने लगा।[1]

यह जानकर प्रायः आश्चर्य होगा कि चिरकाल से ही, साधारण जनता की तो बात ही क्या, संस्कृत का अध्ययनाध्यापन करनेवाले लोगों में भी वेदों के पठन-पाठन की प्रवृत्ति लुप्तप्राय होने लगी थी। इस उपेक्षा के कारणों का निर्देश हम आगे करेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि चिरकाल से भारतवर्ष में यह स्थिति आ गयी थी कि, वेदों के अर्थ-ज्ञान की तो बात ही क्या, वेदों के पाठ-मात्र की प्रवृत्ति भी केवल कुछ नाममात्र के वैदिक लोगों में ही परिमित हो गयी थी। ऐसी परिस्थिति में वैदिक कर्मकाण्ड प्रायः निःशेष ही हो गया था; जो कुछ शेष था वह भी उन लोगों द्वारा कराया जाता था जो प्रायः अर्थज्ञान से सर्वथा शून्य होते थे। वास्तव में अपनी संस्कृति के रत्नभूत वेदों को हमने घर की एक अँधेरी कोठरी में फेंक दिया था।

चिरकाल से वेद-विषयक अध्ययनाध्यापन की गिरती हुई दशा पिछली कुछ शताब्दियों में तो अपनी चरम काष्ठा को पहुँच गयी थी। उसका प्रायः ठीक-ठीक अनुमान हम दो चार बातों से कर सकते हैं।

जिन लोगों का संपर्क प्राचीन हस्त-लिखित ग्रन्थों की शोध से रहा है वे जानते हैं कि, वैदिक कहे जाने वाले लोगों के घरों को छोड़कर, विभिन्न विषयों के प्राचीन सुप्रसिद्ध पंडितों के भी वंश में जहाँ कहीं संस्कृत की प्राचीन हस्त-लिखित पोथियाँ पायी जाती हैं उनमें प्रायेण वैदिक ग्रन्थों का, विशेषतः वैदिक संहिताओं की पोथियों का, अभाव पाया जाता है। इससे यही सिद्ध होता है कि हमारे देश में अध्ययनाध्यापन की परम्परा में वेद की उपेक्षा चिरकाल से ही चली आ रही है।

---

१. इसी दृष्टि से गीता में वेदों के विषय में ऐसे वचन मिलते हैं:—"एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।" (गीता ९।२१)। "यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके। तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥" (गीता २।४६)।

* गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस, भारतवर्ष की सर्व-प्रमुख संस्कृत-संस्था है। उसकी परीक्षाएँ देश में सर्वमान्य हैं। पिछले वर्षों में उसकी परीक्षाओं में १४००० से १७००० तक छात्र बैठते रहे हैं। कहते हैं कि वह अब एक विश्वविद्यालय का रूप धारण करने जा रहा है। इस महान् संस्था के इतिहास पर दृष्टि डालने से भी हमारी चिरकालीन वेद-विषयक अक्षम्य अनास्था ही सिद्ध होती है।

उक्त कालेज की स्थापना सन् १७९१ ई० में वेदादि समस्त शास्त्रों के अध्ययनाध्यापन तथा अनुशीलन के उद्देश्य से उस समय की भारत की सरकार ने की थी। प्रारम्भ में केवल एक वेदाध्यापक रखा गया था। १८०० में चारों वेदों के अध्यापन के लिए ४ वेदाध्यापक रखे गये। परन्तु छात्रों में वेद के अध्ययन की ओर से साधारणतया और वेद के अर्थज्ञान की ओर से सर्वथा उपेक्षा को देख कर अधिकारियों को शीघ्र ही वेदाध्यापन का प्रबन्ध व्यर्थ समझ कर कालेज से हटा देना पड़ा। इस लम्बे इतिहास में लगभग १०० वर्षों के पश्चात् १९२२ से पुनः केवल शुक्लयजुर्वेद के पढ़ाने का प्रबन्ध कालेज में किया गया। ऐसा करने पर भी, जहाँ अन्य विषयों में सहस्रों छात्र परीक्षा में बैठते हैं, वहाँ वेद (शुक्ल यजुर्वेद में) सहस्र पीछे ५ छात्र भी प्रायः परीक्षा नहीं देते। वेद के पाठ्य-क्रम की यह स्थिति है कि परम्परागत रूढि के अनुसार यद्यपि, अन्य विषयों की भाँति, वेद का भी पाठ्यक्रम १२ वर्षों का है, तो भी इतने काल में वैदिक संहिता में केवल १४ अध्यायों का ही अर्थ परीक्षार्थी को पढ़ाया जाता है। प्राचीन शास्त्रीय परम्परा द्वारा अभिमत षडंग वेदाध्ययन की परिपाटी की तो इस पाठ्यक्रम में प्रारम्भ से ही नितरां उपेक्षा की जाती रही है।

इतनी बड़ी संस्था के इतिहास से और आजकल के समय में भी उसके द्वारा जो वेद-विषयक अध्ययनाध्यापन में नगण्य कार्य हो रहा है उससे हम सरलता से भारतवर्ष में उस समय की वेद के अध्ययनाध्यापन में घोर अनास्था और उपेक्षा का अनुमान लगा सकते हैं जब कि आचार्य दयानन्द ने सोते हुए देश में वेदोद्धार के अपने महान् कार्य को प्रारम्भ किया था।

भारतवर्ष के इतिहास में अनेकानेक शताब्दियों के पश्चात् उन्होंने वेदों को अँधेरी कोठरी से निकालकर जगत् के सामने ही न रखा, किन्तु यह भी बतलाया कि प्रत्येक आर्य (अर्थात् शिक्षित या द्विज) के लिए वेदों का पढ़ना-पढ़ाना परम कर्तव्य है। यही नहीं, उन्होंने **ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका** जैसी अद्भुत पुस्तक और वेदों के भाष्य लिखकर जो पथ-प्रदर्शन किया है वह सदा के लिए संसार की संपत्ति और हमारे लिए गर्व की वस्तु है।

परन्तु वेद के विषय में आचार्य दयानन्द का सबसे बड़ा महत्त्व, हमारे मत में, इस बात में है कि उन्होंने हमको 'वेद के मन्त्र केवल कर्मकाण्ड-स्वरूप यज्ञ के साधन हैं' (मन्त्राश्च कर्मकरणाः[1]) और अत एव 'उनका अर्थ ही नहीं होता अथवा उनके अर्थज्ञान की आवश्यकता नहीं है' (अनर्थका हि मन्त्राः[2]) इन कृत्रिम सिद्धान्तों से हटाकर, वेद को उसके मौलिक स्वरूप में, सार्वभौम और उदात्त मानवधर्म की प्रतिपादक पुस्तक के रूप में, देखने का फिर से वह मार्ग दिखलाया जो प्रायः सहस्रों वर्षों से हमसे तिरोहित हो चुका था।

वेद और पाश्चात्य विद्वान्

इसमें सन्देह नहीं कि लगभग आचार्य दयानन्द के समय से या उनके कुछ पहले से ही पाश्चात्य विद्वानों का भी ध्यान वैदिक साहित्य की ओर जा चुका था और उन्होंने उस विषय में अपना अनुसंधान भी प्रारम्भ कर दिया था। वैदिक विद्वानों से छिपा नहीं है कि पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक साहित्य के विषय में जो कार्य किया है वह कितना उपयोगी और महान् है। उसके लिए वे हमारी भूरि-भूरि प्रशंसा के पात्र हैं। परन्तु ऐसा होने पर भी उनके और आचार्य दयानन्द के वेद-विषयक कार्यों की तुलना नहीं हो सकती। दोनों की दृष्टि, पद्धति और उद्देश्यों में इतना मौलिक अन्तर है कि दोनों को, तुलना के लिए आवश्यक, एक समान धरातल पर ही नहीं रखा जा सकता।

पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि, पद्धति और उद्देश्य उस वैज्ञानिक के समान हैं जो रसायन-शाला में दुग्ध जैसे उपयोगी पदार्थों का केवल परीक्षणार्थ विश्लेषण कर डालता है, या एक मृत शरीर की चीर फाड़ करता है, या खुदाई से प्राप्त पुरातत्त्व-सम्बन्धी एक शिलालेख को पढ़ने की चेष्टा करता है। वैज्ञानिक के लिए उन पदार्थों का अपने-अपने रूप में कोई मूल्य नहीं होता।

आचार्य दयानन्द के वेद के विषय में दृष्टि, पद्धति और उद्देश्य ठीक इसके विपरीत थे। वेद उनके लिए कोरी उत्सुकता का विषय न होकर, ताजे दूध, जीवित मनुष्य, अथवा एक मान्य पुस्तक की भाँति, अपना विशेष महत्त्व रखते थे। वास्तव में वे वेदों को, न केवल भारतीय समाज, अपितु मानव समाज के लिए एक पथ-प्रदर्शक अजर-अमर साहित्य समझते थे।

इसी मौलिक भेद के कारण दोनों के वेद-विषयक कार्यों की तुलना ही नहीं हो सकती। इसी लिए एक भारतीय के नाते हमारे लिए आचार्य दयानन्द

१. देखिए—आश्वलायन-श्रौत-सूत्र (१।१।२१)। २. देखिए—निरुक्त (१।१५)

का कार्य अनोखा मूल्य और महत्त्व रखता है। वेदों के विषय में आचार्य दयानन्द ने जो आँख हमको दी है उसकी महत्ता को शनैः शनैः देश समझेगा। उन्होंने केवल हमारा पथ-प्रदर्शन किया था। यह खेद की बात है कि हम अभी तक उस मार्ग पर अग्रसर नहीं हुए हैं। तो भी इसमें सन्देह नहीं कि आज भारत में जो कुछ वैदिक साहित्य की ओर विद्वानों और जनता की प्रवृत्ति और रुचि दिखायी दे रही है उसमें बहुत बड़ा भाग आचार्य दयानन्द की प्रेरणा और प्रयत्न का है। निश्चय ही भारत की स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार की देशव्यापी कामनाके साथ-साथ वेद और वैदिक साहित्यमें जनताकी प्रवृत्ति और रुचि भी बढ़नी चाहिए। इसलिए आज हम विशेषतः ऐतिहासिक पर्यवेक्षण द्वारा वेदों के वास्तविक स्वरूप और महत्त्वको दिखलाते हुए, भविष्य में उनके स्वाध्याय और अनुशीलन की दिशा तथा आवश्यकताओं को भी बतलाना चाहते हैं।

ऐतिहासिक पर्यवेक्षण

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

(यजु० ३१।७)

"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः..." (बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।१०)।

इस प्रकार वेद की अद्भुत महिमा के वचनों से संस्कृत साहित्य भरा पड़ा है। निश्चय ही वेद की परम्परा का इतिहास निश्चित 'इतिहासकाल' की ही बात नहीं है। साथ ही वेद के स्वरूप के विषय में, विशेषतः अर्थ की दृष्टि से, अनेक प्रकार के मत प्राचीन ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं। यदि केवल निरुक्त को ही ले लिया जाए, तो भी कम से कम **नैरुक्ताः, याज्ञिकाः, ऐतिहासिकाः, आख्यानवादिनः**—ये मत तो स्पष्ट रीति से वेद-मन्त्रों की व्याख्या के विषय में पाये जाते हैं। प्रायः इन सब ही मतों को लेकर संस्कृत में वेद-विषयक साहित्य थोड़ा-बहुत पाया जाता है। वेद का स्वाध्याय करने वालों के मन में इन वादों को देखते हुए बड़ी उलझन पैदा हो जाती है। इसलिए इस ग्रन्थि को खोलना, न केवल वैदिक स्वाध्याय के लिए, किन्तु वेद की आधुनिक जगत् में उपयोगिता की दृष्टि से भी, अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए सबसे प्रथम हमारा कर्तव्य है कि हम वैदिक परम्परा के वास्तविक इतिहास को समझें।

हमारे मत में इसका सबसे अच्छा समाधान निरुक्त के निम्नलिखित वचन से होता है—

"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च।"

(निरुक्त १।२०)

इस उद्धरण में स्पष्टतया **वैदिक परम्परा की तीन अवस्थाओं** का वर्णन है। **प्रथम अवस्था मन्त्रों के साक्षात्कार की है।** जिन पर मन्त्रों का साक्षात्कार हुआ वे स्वयं 'साक्षात्कृतधर्माणः' थे। इसका अभिप्राय यही हो सकता है कि वेदों के मन्त्र उनके लिए केवल बौद्ध ज्ञान न थे, किन्तु उनके जीवन के साथ उनका एकात्मभाव था। अर्थात् अग्नि, वायु, आदित्य आदि देवताओं द्वारा प्रतिपालित ऋतरूप आधिदैविक धर्म और मनुष्य द्वारा अनुसरणीय सत्यरूप आध्यात्मिक धर्म के समन्वय का, या एकरूपता का, जो कि वैदिक मन्त्रों का परम प्रतिपाद्य विषय है, प्रत्यक्ष प्रदर्शन उन ऋषियों की जीवनचर्या में था। दूसरे शब्दों में, वेदों की उस प्रथम अवस्था में ऋषियों का जीवन ही वैदिक मन्त्रों की जीती जागती व्याख्या थी। हमारी समझ में **मनुस्मृति** का

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥

(मनु० १।२३)

यह प्रसिद्ध श्लोक इसी अवस्था का वर्णन करता है।

इसके पश्चात् उन लोगों की परम्परा चली जिनको उन ऋषियों के उपदेश के संप्रदाय से मन्त्रों की प्राप्ति होती रही और उनके जीवन को भी ऋषियों के जीवन से प्रेरणा और वैदिक जीवन का आदर्श मिलता रहा। **यही वैदिक परम्परा की द्वितीय अवस्था थी।** शास्त्रों में वर्णित वास्तविक 'श्रुति' काल यही था।

यही उपर्युक्त दो अवस्थायें वास्तव में ऐसी थीं जब कि वैदिक आदर्शों का जीता जागता रूप, न केवल शाब्दिक परम्परा के रूप में, किन्तु जीवन में वस्तुतः पायी जाने वाली वैदिक उदात्त भावनाओं के रूप में भी, जगत् में विद्यमान था। निश्चय ही उस दिव्य जीवन और अवस्था का ज्ञान हमें यदि हो सकता है तो केवल वेद के मन्त्रों से ही हो सकता है। उत्तर-कालीन साहित्य, चाहे वह कितना ही प्राचीन क्यों न हो, उस अवस्था को ठीक-ठीक अनुभव करने के लिये हमारा सहायक नहीं हो सकता।

यही वह समय था जब कि हमारे पूर्वज वास्तव में, अपने प्रतिदिन के जीवन में, प्रकृति-माता की गोद में मानो बच्चों की तरह खेलते हुए, परमात्मा

हैं विभूति-रूप सूर्य, वायु, उषा आदि देवताओं के साथ मानो सखा-भाव से विचरते और बातचीत करते हुए

एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात् ।
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति ॥
(ऋग्० १।१२४।३)

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥
(ऋग्० १।११५।१)

वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे ।
प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥
(ऋग्० १०।१८६।१)

ऐसे दिव्य गीतों को गाते थे ।

वास्तव में इसी युग की मन्द स्मृति को पुराणों में मनुष्यों के बीच में देवताओं के आने और वार्तालाप करने के रूप में वर्णन किया है। यही वह समय था जिसको पुराणों आदि के साहित्य में सत्ययुग का नाम दिया गया है।

इसके पश्चात् वह समय आया जब कि वास्तविक जीवन-चर्या और मन्त्रों के आदर्शों में विभिन्नता आ गयी और इसी कारण जीवन और आदर्शों की एकता से उपदेश में जो प्रतिसङ्क्रमण या प्रतिफलन की सामर्थ्य होती है उसके नष्ट होने से उपदेश के प्रति लोगों की अनास्था होने लगी। इसी कारण इस अवस्था में वैदिक मन्त्रों और उनके अर्थों की परम्परा को जारी रखने की दृष्टि से वेदाङ्गों की सृष्टि हुई।

यही वह अवस्था थी जब कि हमारी सम्मति में उस विस्तृत वैदिक (श्रौत) कर्मकाण्ड का विस्तार और संग्रन्थन किया गया, जिसका वर्णन ब्राह्मण-ग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में है। इसी बात का वर्णन

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यं-
स्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि ।
(मुण्डकोपनिषद् १।२।१)

(अर्थात्, मन्त्रों में देखे गये कर्मों को ही पीछे से विस्तृत किया गया) इस उपनिषद्-वाक्य में किया गया है।

इसी बात का आलंकारिक वर्णन श्रीमद्भागवत (स्कन्ध ११।५) में इस प्रकार मिलता है—

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिरित्येषु केशवः ।
नानावर्णविधाकारो नानैव विधिनेज्यते ।।
मनुष्यास्तु तदा शान्ता निर्वैराः सुहृदः समाः ।
यजन्ति तपसा देवं शमेन च दमेन च ।।

... ...

त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ चतुर्बाहुस्त्रिमेखलः ।
हिरण्यकेशस्त्रय्यात्मा स्रुक्स्रुवाद्युपलक्षणः ।।
तं तदा मनुजा देवं सर्वदेवमयं हरिम् ।
यजन्ति विद्यया त्रय्या धर्मिष्ठा ब्रह्मवादिनः ।।

इस वर्णन में स्पष्टतया कर्मकाण्डात्मक यज्ञ के स्रुक्, स्रुवा आदि उपकरणों का वर्णन सत्ययुग के अनन्तर त्रेतायुग में किया गया है।

वैदिक कर्मकाण्ड का विकास और ह्रास

यों तो धार्मिक कर्मकाण्ड की भावना मनुष्य में स्वाभाविक है। जैसे एक बच्चा भी प्रकृति के सुन्दर दृश्यों को देखकर अपने उल्लास को दबाने में अशक्त होकर उछलने कूदने लगता है; इसी प्रकार मनुष्य भी प्राकृतिक देवताओं के संपर्क में एक अद्भुत उल्लास से प्रभावित होकर बाह्य चेष्टा द्वारा उसको अभिव्यक्त करना चाहता है। इसी आधार पर विभिन्न कर्मकाण्डों का विकास हुआ है। इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति के सहारे विभिन्न जातियों में, साधारण जनों के आकर्षण और मनोरञ्जन की दृष्टि से, विभिन्न आदर्शों को मूर्त्त या ऐन्द्रियक रूप देने के लिए समय-समय पर विभिन्न कर्मकाण्डों का विकास होता रहता है।

मनुष्य समाज की यह एक सार्वकालिक प्रवृत्ति है, और इसकी आवश्यकता भी है; पर शनैः-शनैः कर्मकाण्ड में वह अवस्था आ जाती है जब कि वह जटिल होने लगता है और उसके संचालन के लिए समाज में एक विशिष्ट पुरोहित-वर्ग की आवश्यकता होने लगती है। प्रारम्भ में पुरोहित-वर्ग समाज में से ही बनने के कारण नियन्त्रित होने के साथ साथ संयत भी होता है।

पर कुछ काल के अनन्तर कर्मकाण्ड के विकास में कलियुग की अवस्था आने लगती है। इसका दुष्प्रभाव उभयतोमुखी होता है।

एक ओर तो जनता में आलस्य और अकर्मण्यता की भावना के साथ-साथ यह विचार उत्पन्न हो जाता है कि उसका उपास्य देव उससे दूर और उसकी पहुँच से बाहर है। वह पुरोहितवर्ग का सहारा ढूँढ़ने लगती है और अन्त में अपनी कर्तव्यता का सारा भार पुरोहितवर्ग पर छोड़कर धर्म में वकालत या प्रातिनिध्य के सिद्धान्त को मानने लगती है। इससे उसकी रही सही नैतिकता भी समाप्त हो जाती है।

दूसरी ओर पुरोहित लोग, जो प्रारम्भ में अर्थतः पुरः+हित अर्थात् नेता का काम करते हैं, शनैःशनैः जनता को अपने स्वार्थ के लिए दुहने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझने लगते हैं। इस अवस्था में कर्मकाण्ड दिन दूना रात चौगुना बढ़ने लगता है। क्योंकि पुरोहितवर्ग का हित इसी में होता है कि, वकीलों के पञ्जे में फँसे मुवक्किलों की तरह, जनता साधारण से साधारण बात के लिए उस पर आश्रित होकर उस के लाभ का साधन बने।

संसार की विभिन्न जातियों के इतिहास में कर्मकाण्ड के विकास के (जो कि क्रमशः अपकास का ही रूप धारण कर लेता है) इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। भारतवर्ष में भी वैदिक कर्मकाण्ड का विकास इसी प्रकार हुआ था।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में ही कर्मकाण्ड की उक्त प्रवृत्ति का उल्लेख स्पष्ट शब्दों में मिलता है, जैसे—

"यथा ह वा इदं निषादा वा सेळगा वा पापकृतो वा वित्तवन्तं पुरुषमरण्ये गृहीत्वा कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति, एवमेव त ऋत्विजो यजमानं कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति यमनेवंविदो याजयन्ति"।

(ऐतरेयब्राह्मण ८।११)

(सेळगाः=चौराः। कर्तमन्वस्य=गर्ते प्रक्षिप्येत्यर्थः)।

अर्थात् यज्ञ के वास्तविक स्वरूप को न जानकर जो ऋत्विज् कर्मकाण्ड कराते हैं वे वास्तव में यजमान को लूटने वाले लुटेरे होते हैं।

इसी प्रकार **ऐतरेय-ब्राह्मण** (३।४६) में ऐसे ऋत्विजों की निन्दा है जो लोभ भय या अनाचार के वशीभूत होकर यज्ञ कराते हैं।

सब से भयानक स्थल ब्राह्मणादि ग्रन्थों के वे हैं जहाँ यह बतलाया है कि ऋत्विज् यदि चाहे तो अपने ही यजमान को विभिन्न प्रकार की हानि कैसे पहुँचा सकता है। उदाहरणार्थ, **ऐतरेय-ब्राह्मण** के अध्याय ११ खण्ड ४ में विस्तार से बतलाया है कि होता यदि चाहे तो यजमान को अपने मन्त्रों के पा में गड़बड़ करके अनेक प्रकार की हानि पहुँचा सकता है; यहाँ तक कि उसको अन्धा कर सकता है या उसको मार भी सकता है। उदाहरणार्थ ऐ० ब्रा० के निम्नस्थ वचन को देखिए—**"यं कामयेत प्राणनैनं व्यर्धयानीति वायव्यमस्य लुब्धं शंसेदृचं वा पदं**

वातीयात्स्नेनैवं तल्लब्धं प्राणेनैवैनं तद्व्यर्धयतीति" (३।३) इत्यादि। कर्मकाण्ड के नैतिक पतन की यह पराकाष्ठा है कि ऋत्विज् अपने ही यजमान को हानि पहुँचाने की कामना भी करे।

इसी प्रकार वैदिक कर्मकांड में पशु, प्रतिष्ठा, पौरोहित्य, संतान, अन्नाद्य, पत्नी जैसे लक्ष्यों के लिए, यहां तक कि स्त्रीवशीकरण, सपत्नीनाश, या शत्रुनाश जैसी कामनाओं के लिए भी, कर्मो या मन्त्रों के विधान से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक कर्मकाण्ड अत्यधिकता की किस सीमा तक पहुँच चुका था।

'अति सर्वत्र वर्जयेत्' के सिद्धान्त के अनुसार अन्त में वैदिक कर्मकाण्ड की जटिलता ने उसको ही प्रायः विनष्ट कर दिया। आज वह जनता के जीवन के स्थान में केवल प्राचीन ग्रन्थों में ही वर्णन के रूप में पाया जाता है।

इस प्रकार **वैदिक परम्परा की तृतीय अवस्था** में, जहाँ वैदिक कर्मकाण्ड ने अपने प्रारम्भ-काल में वैदिक भावनाओं को मूर्त रूप देकर जनता में उनके संचार में सहायता दी होगी, वहाँ अन्त में उसके ही द्वारा वैदिक भावनाओं का तथा नैतिकता का जनता से शनैः शनैः विलोप होने लगा। इसके अतिरिक्त, सबसे बड़ी हानि जो हुई वह यह थी कि कर्मकाण्ड के प्रभाव का महत्त्व इतना बढ़ा कि विद्वानों में भी **"मन्त्राश्च कर्मकरणाः"** (आश्वलायन-श्रौत-सूत्र १।१।२१), **"आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्"** (पूर्वमीमांसा १।२।१), यहाँ तक कि **"अनर्थका हि मन्त्राः"** (निरुक्त १।१५) यह सिद्धान्त माना जाने लगा। इससे, प्रथम तो, वेदमन्त्रों के अर्थज्ञान की ओर से पूर्ण उपेक्षा होने लगी; दूसरी ओर उनकी व्याख्या यदि की भी गयी तो प्रायेण पूर्णतः याज्ञिक दृष्टि से की जाने लगी।

यही कारण है कि वैदिक साहित्य का बहुत बड़ा भाग याज्ञिक दृष्टि से लिखा गया है। ब्राह्मण और कल्पसूत्रों के साहित्य के अतिरिक्त अधिकतर वेदाङ्गों का भी झुकाव, तात्कालिक विचारधारा के अनुसार, उसी ओर है। यहाँ तक कि व्याकरण का संबन्ध यद्यपि अर्थज्ञान से है, तो भी **महाभाष्य** में जो प्रयोजन व्याकरण के बतलाये हैं उनका आधिक्येन संबन्ध याज्ञिक दृष्टि से ही है।

निरुक्त ही एक ऐसा ग्रन्थ (वेदाङ्ग) है जो स्पष्टतया याज्ञिक पद्धति को छोड़कर अपना स्वतन्त्र आधार रखता है। इसीलिए निरुक्त में यत्र-तत्र **"इति याज्ञिकाः"** तथा **"इति नैरुक्ताः"** का परस्पर विरोधभाव से प्रायः उल्लेख किया गया है।

यह विचित्र-सी बात है कि **आचार्य दयानन्द** से पूर्व वेदार्थ करने के विषय में नैरुक्त प्रक्रिया और याज्ञिक प्रक्रिया का परस्पर कोई विरोध-भाव है इस बात की ओर, **स्कन्द स्वामी** आदि बहुत थोड़े ग्रन्थकारों को छोड़कर, प्रायेण

किसी का ध्यान भी नहीं गया था। यही कारण है कि यास्क के अनन्तर जो भी वेद-भाष्यकार हुए हैं उनमें से प्रायः सभी ने याज्ञिक दृष्टि के आधार पर ही अपनी-अपनी व्याख्याएँ लिखी हैं।

वैदिक कर्मकाण्ड के विकास में तीन दृष्टियाँ

ऊपर हमने वैदिक कर्मकाण्ड के विकास की सामान्य रूप से चर्चा की है। इस प्रसङ्ग में उस विकास में क्रम से आनेवाली तीन दृष्टियों को स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। वे इस प्रकार हैं---

(१) आध्यात्मिकता-मूलक आधिदैविक दृष्टि

वैदिक मन्त्रों के देवताओं पर विचार करते हुए **निरुक्तकार यास्क** ने कहा है---

"माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्य-देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति"।

(नि० ७।४)

इसका अभिप्राय यही है कि

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

(यजु० ३२।१)

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्य--
ग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

(ऋग्० १।१६४।४६)

इत्यादि मन्त्रों के अनुसार वेद के तत्तद्देवता को एक परमात्मतत्त्व की ही विभूति समझना चाहिये। यही आध्यात्मिकता-मूलक आधिदैविक दृष्टि है। वास्तव में वैदिक कर्मकांड का प्रारम्भिक विकास इसी दृष्टि के आधार पर हुआ होना चाहिए।

(२) शुद्ध आधिदैविक दृष्टि

वैदिक कर्मकाण्ड के विकास की द्वितीय अवस्था में आध्यात्मिकता के आधार को छोड़कर तत्तद्देवता की स्वतन्त्र सत्ता मानी जाने लगी थी। यही शुद्ध आधिदैविक दृष्टि कही जा सकती है।

(३) अधियज्ञ दृष्टि

उक्त कर्मकाण्ड की अन्तिम अवस्था में यज्ञ की प्रक्रिया को ही एक यन्त्र (मशीन) की स्थानीय मानकर तत्तद् याग आदि को ही समष्टिरूप से **अपूर्व** का उत्पादक माना जाने लगा था। इस दृष्टि से तत्तद् देवता की स्वतन्त्र सत्ता को भी, उसके द्वारा बाधा के भय से, न मानकर **'मन्त्रमयी देवता'** इस मीमांसा के सिद्धान्त का मानना आवश्यक हो गया था।

इसी अधियज्ञ दृष्टि के कारण वस्तुतः **"अनर्थका हि मन्त्राः"**, **"ब्राह्मणाः (ऋत्विग्रूपाः) वै भूमिदेवाः**[१]**"** ऐसे सिद्धान्तों की शनैः-शनैः प्रवृत्ति हुई। **महाभाष्य** का **"वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति। वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः"** (पस्पशाह्निक) यह कथन भी वास्तव में उसी परिस्थिति का द्योतक है। इसी दृष्टि के दुरुपयोग के कारण वैदिक कर्मकाण्ड बढ़ते-बढ़ते जनता के ऊपर भारभूत हो गया, उस में वैदिक भावनाओं की मौलिक नैतिकता का आधार भी प्रायः नहीं रहा, और इसी लिए अन्त में जनता से वह उठ गया। यही समय था जब कि नैतिकता-प्रधान जैन और बौद्ध धर्मों का उदय भारतवर्ष में हुआ।

आधुनिक हिन्दुधर्म में शुष्क कर्मकाण्ड में कृतकृत्यता की भावना का मूल वैदिक कर्मकाण्ड के विकास की यही अन्तिम अधियज्ञ दृष्टि है।

वेदों के महान् आदर्श

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रायेण शुष्क और आदर्शहीन याज्ञिक कर्मकाण्ड की धारा के प्रवाह में बहते हुए हम वेद के वास्तविक आदर्शों और भावनाओं से बहुत दूर पहुँच गये हैं, लगभग ऐसे रेगिस्तान में जहाँ वह धारा ही सूखने को आगयी है। वेदों का हमारे जातीय जीवन से प्रायः कोई संबंध नहीं रह गया है। हमारे देश में प्रायेण वैदिकता यदि कुछ शेष है तो केवल इस रूप में कि यदा कदाचित् समाज में विवाह आदि के अवसर पर कुछ वेद-मन्त्र, शुद्ध या अशुद्ध, किसी पुरोहित द्वारा पढ़ दिये जाते हैं—जिन मन्त्रों के अर्थों को अधिकतर न तो पढ़ने वाला और न सुनने वाले ही समझते हैं।

देखना यह है कि हमको, हमारे देश को और संसार को वास्तव में वेदों की उपयोगिता या आवश्यकता है भी या नहीं। यदि वास्तव में नहीं है, तो हमारे

---

१. देखिए—"द्वय्या वै देवा देवा अहैव देवा अथ ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः।" (शतपथब्राह्मण ४।३।४।४)

पूर्वजों ने प्रागैतिहासिक काल से उनकी परम्परा की रक्षा ऐसे प्रकार से, महान् कष्टों को झेलकर भी क्यों की, जिसका दूसरा उदाहरण संसार में अन्यत्र नहीं मिलता ? और ऋषि, मुनि, आचार्यो ने, जिनकी वास्तविक महत्ता के कारण संसार उनका आज भी संमान करता है, उनके बराबर गीत क्यों गाये है ?

यह स्पष्ट है कि वैदिक कर्मकाण्ड की उच्छिन्नप्राय परम्परा के आधार पर वेदों की उपयोगिता या महत्ता को हम संसार के सामने सिद्ध नहीं कर सकते। उसके द्वारा ही तो वैदिक परम्परा को धक्का लगा है, यहाँ तक कि उस कर्मकाण्ड ने ही अपने प्राचीन वैदिक रूप को छोड़ कर अब एक नया रूप धारण कर लिया है। इसलिए अब तो हमें वेद के विचारों और आदर्शों को ही कसौटी पर रख कर देखना चाहिये कि उनका मूल्य कितना है। वास्तव में जैसे सूर्य के प्रकाश के लिए दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती, इसी प्रकार वेद की महत्ता को सिद्ध करने के लिए वेद की ही सहायता लेनी चाहिये। इस लिए हम इसी आधार पर अपना परीक्षण प्रारम्भ करते हैं।

वैदिक देवतावाद

वेद को पढ़ते ही सबसे प्रथम समस्या जो पढ़ने वाले के सामने उपस्थित होती है वह तत्तद्-देवता को लेकर स्तुति की है। आपाततः यही प्रतीत होता है कि वह बहुदेवतावाद के सिद्धान्त पर आश्रित है। पर गम्भीर अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि किन्हीं अर्थों में तत्तद्देवता का विचारकृत अपना व्यक्तित्व होने पर भी वह अन्यस्थानीय तथा अन्यान्य कर्म करने वाले देवताओं के साथ एकसूत्रता में अनुस्यूत है। स्पष्टतः उनका मूलरूप अध्यात्म है, जिसकी कार्मिक दृष्टि से विभिन्न प्रतीति को ही तत्तद्देवता का नाम दिया गया है। वेद के "तदेवाग्निस्तदादित्यः" (यजु० ३२।१) आदि मन्त्र तथा गीता का विभूतिवाद इसी सिद्धान्त की व्याख्या करते हैं।

वैदिक देवता-वाद का लक्ष्य यही है कि विश्वप्रपञ्च की प्रत्येक विभूति में उसके द्वारा उस परमतत्त्व का साक्षात्कार किया जावे जिसका योगी लोग बड़ी तपस्या और साधना से अपने अन्दर साक्षात्कार करना चाहते हैं, पर कर पाते हैं या नहीं, यह संदिग्ध है।

वैदिक देवतावाद प्राकृतिक दैवी शक्तियों के साथ मनुष्य-जीवन के सामीप्य की ही नहीं, तादात्म्य की भी, आवश्यकता को बतलाता है। वास्तव में आज के जगत् की यह एक अत्यन्त आवश्यकता है, जब कि यन्त्रों और वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रभाव से हमारा जीवन प्रकृति और स्वाभाविकता से बहुत दूर होता जा रहा है। वानप्रस्थाश्रम, तीर्थों की यात्रा, मुनियों के आश्रम, तथा गुरुकुलों

की परम्परा का स्मरण रखने वाली भारतीय संस्कृति का सदा से उक्त संदेश मानव-जाति के लिए रहा है। आज संसार को इसकी और भी अधिक आवश्यकता है।

एक बात यहाँ कह देना आवश्यक है। आज-कल वेद के व्याख्याता अग्नि, इन्द्र आदि वैदिक देवताओं के स्वरूप की व्याख्या प्रकाशमान ईश्वर, ऐश्वर्यशाली परमेश्वर इत्यादि प्रकार से ही कर देना पर्याप्त समझते हैं। पर क्या इनका प्रयोग वेद में विशेषण रूप से ही है? ऐसा तो नहीं प्रतीत होता। तत्तद् देवताओं के लिए निश्चित रूप से विभिन्न स्थिर नाम देने का अभिप्राय उन के स्थिर निश्चित स्वरूप से अवश्य होना चाहिये।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥

(गीता १५।१४)

गीता के इस वचन से इसी बात का कुछ संकेत मिलता है। इसलिए हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकतर वैदिक देवताओं के विशिष्ट मौलिक स्वरूप को समझने की अपेक्षणीय चेष्टा अभी तक नहीं की गयी है। **अश्विनौ, त्वष्टा, पूषा, नराशंसः, मित्रः** आदि ऐसे ही नाम हैं। इस संबंध में तत्तद् देवताओं के विशिष्ट वर्णनों के गंभीर अध्ययन की आवश्यकता है।

ऋत और सत्य

उदात्त वैदिक भावनाओं का मौलिक आधार ऋत और सत्य का सिद्धान्त है। जिस प्रकार वैदिक देवता-वाद का लक्ष्य एकसूत्रीय परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार है, इसी प्रकार ऋत और सत्य के सिद्धान्त का अभिप्राय सारे विश्व-प्रपञ्च में व्याप्त उसके नैतिक आधार से है। इस आधार के दो सिरे या रूप हैं। बाह्य जगत् की सारी प्रक्रिया विभिन्न प्राकृतिक नियमों के अधीन चल रही है। परन्तु उन सारे नियमों में परस्पर विरोध न होकर एकरूपता या ऐक्य विद्यमान है। इसी को ऋत कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन के प्रेरक जो भी नैतिक आदर्श हैं उन सबका आधार सत्य है। अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति सच्चा रहना, यही वास्तविक धर्म है। **परन्तु वैदिक आदर्श, इससे भी आगे बढ़कर, ऋत और सत्य को एक ही मौलिक तथ्य के दो रूप मानता है। इसके अनुसार मनुष्य का कल्याण प्राकृतिक नियमों और आत्मिक नियमों में परस्पर अभिन्नता को समझते हुए उसके साथ अपनी एकरूपता के अनुभव में ही है।**

ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति ।

(ऋग्० ४।२३।८)

सा मा सत्योक्तिः परि पातु विश्वतः ।

(ऋग्० १०।३७।२)

इत्यादि मन्त्रों में ऋत और सत्य की ही महिमा का वर्णन है ।

मनुष्य अपने प्रति सच्चा रहे और प्राकृतिक नियमों का भी पालन करे इससे अधिक कल्याणकारी उपदेश मनुष्य के लिए क्या हो सकता है ?

वैदिक उदात्त भावनाएँ

वेदों का अद्वितीय वैशिष्ट्य और महत्ता इस बात में है कि वे एक अत्यन्त ऊँचे, अत्यन्त विशाल और अत्यन्त व्यापक स्तर पर मनुष्य को बिठाकर उपदेश देते हैं । उनकी दृष्टि यावद् विश्वप्रपञ्च में व्याप्त है ।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा
येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।

(यजु० ३२।६)

ऋतञ्च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत

(ऋग्० १०।१९०।१)

तथा

सर्वं तद्राजा वरुणो वि चष्टे
यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात् ।

(अथर्व० ४।१६।५)

के अनुसार परमात्मा अखिल विश्व-प्रपञ्च में व्याप्त हो कर मनुष्य के बाहर और भीतर, सर्वत्र, सब का शाश्वत नियमों द्वारा संचालन कर रहे हैं । ऐसे अत्यन्त महत्त्व के सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में वैदिक आदर्शों और भावनाओं का उदात्त और उदार होना स्वाभाविक ही है । यही कारण है कि वेद को हम विश्व-बन्धुत्व, विश्व-शान्ति, समष्टि-भावना, भद्र-भावना, आशावाद, निर्भयता, श्रद्धा, सांमनस्य के महान् आदर्शों और उदात्त भावनाओं से ओत-प्रोत पाते हैं, जैसा कि संक्षेप में हम नीचे दिखाते हैं:—

विश्वबन्धुत्व और विश्वशान्ति

वेद में

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे"

(यजु० ३६।१८)

पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः

(ऋग्० ६।७५।१४)

याँश्च पश्यामि याँश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि ।

(अथर्व० १७।१।७)

जैसे विश्वबन्धुत्व, और

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु ।

(ऋग्० ७।३५।८)

जैसे विश्वशान्ति के भाव भरे पड़े हैं ।

समष्टि-भावना

वैदिक प्रार्थनाओं की एक विशेषता यह है कि वे प्रायः बहुवचन में होती हैं ।

"धियो यो नः प्रचोदयात्"
"यद् भद्रं तन्न आसुव"
"अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्"

इत्यादि इत्यादि मन्त्रों में बहुवचनों में ही प्रार्थनायें की गयी हैं । यह सात्त्विक प्रवृत्ति वर्तमान हिन्दुधर्म तथा हिन्दुसमाज की वैयक्तिक भावनाओं के सर्वथा विपरीत है । किसी भी समाज की उन्नति तथा रक्षा के लिए यह समष्टि-भावना कितनी आवश्यक है इसको सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है ।

भद्र-भावना

मनुष्य स्वभाव से सुख के लोभ और दुःख के भय से किसी काम में प्रवृत्त या उससे निवृत्त होता है । परन्तु वास्तविक धर्म की भावना में इस सुख-दुःख की भावना का कोई स्थान नहीं होता । उसमें तो सुख और दुःख के ध्यान को नितरां छोड़कर (सुखदुःखे समे कृत्वा) विशुद्ध कर्तव्य-बुद्धि से ही काम करना होता है । यही वास्तविक भद्र-भावना या कल्याण-भावना है । जैसे एक फूल का सौन्दर्य और सुगन्ध, किसी बाह्य कारण से न होकर, उसके स्वरूप का अङ्ग

है; ऐसे ही कल्याण-मार्ग के पथिक का अनासक्त होकर कर्त्तव्यपालन उसके स्वरूप का अङ्ग होता है; उसके जीवन का सार्थक्य, जीवन की पूर्णाङ्गता ही इस में होती है।

"भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः", "यद् भद्रं तन्न आ सुव", "भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि", "भद्रं नो अपि वातय मनः", "भद्रं भद्रं न आ भर"

इत्यादि शतशः वेदमन्त्र भद्रभावना से ओतप्रोत हैं।

आशावाद

वैदिक धर्म की एक मुख्य विशेषता उसका आशावाद है। हमारा वैदिक साहित्य आशावाद के ओजपूर्ण भावों से परिपूर्ण है।

"ओजोऽस्योजो मयि धेहि", "अदीनाः स्याम शरदः शतम्", "मदेम शतहिमाः सुवीराः", "कृधी न ऊर्ध्वाञ् चरथाय जीवसे", "विश्वदानीं सुमनसः स्याम", "अस्माकं सन्त्वाशिषः", "पूषेम शरदः शतम्"

जैसी प्रार्थनायें आशावाद की ही समुज्ज्वल प्रतीक हैं।

इनके अतिरिक्त, सौमनस्य, निर्भयता, वीरता, श्रद्धा आदि की उदात्त भावनाएँ वेदों की अद्वितीय विशेषता हैं।

आश्चर्य तो यह है कि सहस्राब्दियों से वेदों की इस परमोत्कृष्ट विशेषता की हमारी जाति बराबर उपेक्षा करती रही। बड़े बड़े वेदभाष्यकारों का भी ध्यान इस ओर नहीं गया। तभी तो गीता जैसे तात्त्विक ग्रन्थ में भी **"यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः"** (गीता २।४२) ऐसे शब्दों में वेदों का स्मरण किया गया है। स्पष्टतया यह सारा दुष्प्रभाव वेद को कर्मकाण्ड का साधनमात्र मानने वाले वैदिक कर्मकाण्डियों के विचारों का ही था, जैसा हम ऊपर दिखला चुके हैं। यदि ऐसा न होता, यदि वेद के इस उदात्त स्वरूप को जनता के सामने रखा गया होता, तो कदाचित् जैन बौद्ध जैसे नैतिकताप्रधान संप्रदायों का प्रारम्भ और विकास उनके वर्तमान रूप में न होता। निःसन्देह **आचार्य दयानन्द** का बहुत बड़ा काम वेद की इस विशेषता की ओर संसार का ध्यान दिलाना था।

वेद पर सर्वसाधारण का अधिकार

जब तक वेदों को केवल वैदिक कर्मकाण्ड का साधन **(मन्त्राश्च कर्मकरणाः)** माना जाता रहा, यह स्वाभाविक बात थी कि उन पर जनता का अधिकार न हो और उनको केवल विशिष्ट लोगों के लिए ही सीमित रखा जाय। उसी

समय ऐसे कठोर नियम बनाये गये थे कि शूद्र यदि वेदों को सुनले तो उसके कानों में पिघला हुआ राँगा डलवा देना चाहिए, और यदि बोले तो जिह्वा कटवा देनी चाहिये। (देखिये—गौतमधर्मसूत्र २। ३। ४—**अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः**)। पर अब तो वह कर्मकाण्ड ही प्रायः विलुप्त हो चुका है और साथ ही अपनी उदात्त भावनाओं और आदर्शों के कारण वेदों की सार्वभौम-स्वरूपता स्पष्ट होने लगी है। ऐसी अवस्था में हमारा कर्तव्य हो जाता है कि मानवमात्र के हित की दृष्टि से ही वेदों को जनता या सर्वसाधारण की पुस्तक बनाने का प्रयत्न करें। स्वयं वेद ही "**इमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः**" (यजु० २६।२) इस बात को स्पष्टतया प्रतिपादन करते हैं।

पर इस लक्ष्य की सिद्धि कैसे हो सकती है, यह एक महान् प्रश्न है। हमारे मत में इसके लिए निम्नलिखित उपायों की आवश्यकता है—

(१) सबसे पहला उपाय यह है कि वेदाध्ययन को अधिक से अधिक सरल और सुबोध और साथ ही रोचक बनाया जाए। हमारी दृष्टि में वैदिक भाषा तथा वैदिक व्याकरण के ऊपर ऐसी पुस्तकें लिखी जा सकती हैं जिनके द्वारा सर्वसाधारण की सरलता से वैदिक साहित्य में गति हो सकती है। इस विषय में एक बृहद् योजना हमारे सामने है जिसको यथासमय कार्यान्वित करने का हमारा विचार है।

(२) वेदों को वस्तुतः असाम्प्रदायिक दृष्टि से जब तक जनता के सामने नहीं रखा जायगा तब तक आजकल के युग में उनकी ओर जनता का आकर्षण नहीं हो सकता। संसार में बड़े से बड़े पुरुषों और ग्रन्थों का उपयोग और महत्त्व इसी लिए प्रायः कम हो जाता है, क्योंकि उनको उनके ही मानने वालों ने तत्तत्सम्प्रदाय की सीमा में बद्ध कर दिया होता है? आज कवीन्द्र रवीन्द्र और उनकी गीताञ्जलि को संसार जानता है और उनका अध्ययन संसारव्यापी है। क्योंकि उनका संबंध किसी संप्रदाय-विशेष से नहीं है। पर यह बात भगवान् महावीर और उनकी धर्म-पुस्तकों के विषय में नहीं कही जा सकती। इस लिए वेदों का वास्तविक महत्त्व संसार को तब ही विदित होगा जब कि हम उनको साम्प्रदायिक भावना से पृथक् रखेंगे। उनको विभिन्न सम्प्रदायों की पुस्तकों के साथ एक ही धरातल पर रखने से उनका मान और स्वरूप घटेगा ही, बढ़ेगा नहीं। वेदों के लिए 'वेद' शब्द का प्रयोग भी बड़े महत्त्व की बात है। वेद का अर्थ ज्ञान है और ज्ञान साम्प्रदायिक हो ही नहीं सकता। कदाचित् लोगों को नहीं ज्ञात है कि विदेशों में अब भी इस शब्द के प्रयोग की परम्परा जीवित है। चेकोस्लोवाकिया में 'वेद' शब्द का प्रयोग साइन्स के लिए अब भी प्रसिद्ध है।

(३) प्रायः कम लोग जानते हैं कि अर्थहीन शुष्क कर्मकाण्ड की प्रवृत्ति के बढ़ने से अर्थज्ञान की ओर से जनता को उपेक्षा होने लगती है। उससे नैतिक भावनाओं के ह्रास की बात हम ऊपर दिखला चुके हैं। आचार्य दयानन्द ने यही समझकर **आर्योद्देश्यरत्नमाला** में **'यज्ञ'** की **'संसार-हित-संपादन का कार्य'** एतदर्थक परिभाषा की है। इस पर भी लोग परम्परागत भावनाओं से प्रेरित होकर अर्थ को नितरां न समझते हुए भी सहस्रों मन्त्रों से स्वाहा स्वाहा करते हुए बड़े बड़े हवनों में लक्षों रुपयों का व्यय (या अपव्यय?) करते हुए देखे जाते हैं। वास्तव में वैदिक भावनाओं के सर्वसाधारण के प्रचार में इस कारण से भी बड़ी हानि सदा से होती रही है। निश्चय ही वेदों की वास्तविक महत्ता संसार पर इन बृहद् हवनों से नहीं प्रकट हो सकेगी। जितना कर्मकाण्ड आवश्यक है उसमें भी सार्थकता और गम्भीरता लानी चाहिये।

(४) किसी सिद्धान्त की महत्ता उसकी अपनी ही महत्ता पर निर्भर होती है जो कि किसी भी भाषा में प्रकट की जा सकती है। **वेद का वेदत्व उसके अर्थ में है, न कि उसके शब्दों में; यद्यपि परम्परा की रक्षा के लिए उसकी शब्दानुपूर्वी की रक्षा भी हमारा महान् कर्तव्य है।**

शब्दों के अर्थ करने में भी सदा शब्दानुवाद से काम नहीं चलता, भावानुवाद की भी प्रायः आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ, वानप्रस्थाश्रम के वानप्रस्थ शब्द का आजकल भावानुवाद ही किया जा सकता है। इसी प्रकार वेदों के शब्दों की व्याख्या में भी आवश्यकता हो सकती है। अभिप्राय यह है कि वेदों पर जनता की रुचि और अधिकार के लिए उनको जनता की भाषा में ही जनता के सामने अधिक से अधिक रखने की आवश्यकता है। यही बात वेदों के सन्देश को विदेशों में ले जाने के लिए भी अपेक्षित होगी।

वेद के विषय में हमारी आवश्यकताएँ और कर्तव्य

ऊपर हम दिखला चुके हैं कि सहस्रों वर्षों के अनन्तर हमारा फिर से ध्यान वेदों के मौलिक या वास्तविक स्वरूप की ओर गया है। निःसन्देह इस नवीन जागरण में सबसे बड़ा कार्य आचार्य दयानन्द का है। खेद है उनके बाद हमलोग उस पथ पर विशेष अग्रसर नहीं हो सके हैं। वेदविषय में हम लोगों ने कुछ भी नई प्रगति की है, यह संदिग्ध है। इसलिए यहाँ हम यही, संक्षेप में ही, दिखलाना चाहते हैं कि इस विषय में उनका, जिनको वेदों में आस्था और श्रद्धा है, क्या क्या कर्तव्य है।

वास्तव में देखा जा तो यही प्रतीत होगा कि वेदों के वास्तविक अभिप्राय को समझने और प्रकट करने के विषय में अभी हमने बहुत कम कार्य किया

है। भाषा और व्याकरण दोनों की दृष्टि से हमारा काम प्रायः नगण्य ही है। वेदों की भाषा पिछली संस्कृत से पर्याप्त रूप में भिन्न है, यह छिपा नहीं है। उस प्राचीनतम भाषा का व्याकरण, उसके शब्द, शब्दों के प्रयोग, और मुहावरे भी पिछली संस्कृत से बहुत कुछ भिन्न हैं। इन सब का व्यवस्थित अध्ययन और अनुशीलन अभी तक किया ही नहीं गया है। इनमें प्रायः स्वेच्छाचारिता से काम ले लिया जाता है।

पाणिनि-व्याकरण में, यद्यपि उसको वेदाङ्ग कहा जाता है, वैदिक व्याकरण का केवल प्रासङ्गिक रूपेण प्रतिपादन किया गया है। इसी लिए वह **'बहुलं छन्दसि'** और **'छन्दसि व्यत्ययो बहुलम्'** इस प्रकार के नियमाभासों से भरा पड़ा है। 'बहुलम्' का अर्थ राजनीतिक शब्दावली में 'अराजकता' ही है। पर किसी भाषा में, विशेषकर वैदिक भाषा में, अराजकता हो नहीं सकती। इसलिए इस विषय में हमें अभी बड़ा कार्य करना है। पाश्चात्य विद्वानों ने इस विषय में बड़ा कार्य किया है। उससे भी हमें सधन्यवाद सहायता लेनी आवश्यक है।

वैदिक भाषा में भी अनेकानेक शब्दों और वाक्यखण्डों का प्रयोग मुहावरे के रूप में विशेष अर्थ रखता है, इस पर भी विद्वानों को बहुत कार्य करना है। **बृहदारण्यकोपनिषद्** (३।७।१) में याज्ञवल्क्य के प्रति विचारप्रसङ्ग में कहा गया है **"मूर्धा ते विपतिष्यति"**। इसका शाब्दिक अर्थ, जो प्रायः किया जाता है, स्पष्टतः असंगत है। पर 'तुम्हारा अपमान होगा' यह लाक्षणिक अर्थ बिल्कुल संगत बैठता है। ऐसे ही प्रयोग वेदमन्त्रों में भी हैं। उनकी ठीक-ठीक व्याख्या अपेक्षित है।

इसी प्रकार **निघण्टु** और **निरुक्त** में भी जिनकी अत्यन्त उपयोगिता वेदाध्ययन में होती है अनेकानेक स्थल और विषय ऐसे हैं जिनके विशेष मनन और अनुशीलन की आवश्यकता है।

ब्राह्मणादिग्रन्थों का प्राचीन वैदिक साहित्य, यदि उसका व्यवस्थित ढंग से गम्भीर अनुशीलन किया जाए तो, वेदों के अर्थ में बहुत सहायक हो सकता है। परन्तु इस विषय में हमने कितना कार्य किया है यह कहने की बात नहीं है।

इसी प्रकार बहुत बड़ा वैदिक साहित्य टीका आदि के रूप में अभी तक अमुद्रित और अप्रकाशित पड़ा है। उसके विषय में भी हमारी अभी तक उदासीनता ही है।

कहने का अभिप्राय यह है कि वेद का नाम रटते रटते, इस नवीन जागरण के युग में भी, बहुत दिन हो गये। अभी तक तो हमने विदेशियों ने भी जितना काम वेद के विषय में किया है उसका भी दशमांश नहीं किया है; यद्यपि हमारा उत्तरदायित्व इस विषय में उनकी अपेक्षा अनेक गुना अधिक है।

स्पष्टतः देश में ऐसी एक महान् संस्था की आवश्यकता है जो, वेदों के महत्त्व के अनुरूप, अपनी पूरी शक्ति से, वैदिक वाङमय के ही स्वाध्याय अनुशीलन और अनुसन्धान के साथ साथ, वैदिक आदर्शों और उदात्त भावनाओं के वास्तविक स्वरूप को लोक के सामने रखने का पूरा प्रयत्न कर सके।

अन्त में हम वेद के ही शब्दों में अपने भाषण को समाप्त करते हैं:—

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं
ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम् ।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभि-
र्देवानामवसे हुवे ॥

(अथर्व० ६।१०८।२)

॥ ओं शम् ॥

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं
ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम् ।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभि-
र्देवानामवसे हुवे ॥

द्वितीय परिशिष्ट

(ग)

[वैदिक कर्मकाण्ड की दृष्टि से यजुर्वेद का विशेष महत्त्व है। उसी के आधार पर वैदिक धारा के प्रारम्भ और उत्कर्ष के दिनों में वैदिक कर्मकाण्ड के मौलिक स्वरूप और प्रेरणाओं को दिखाने का इस लेख में प्रयत्न किया गया है।]

यजुर्वेद तथा वैदिक कर्मकाण्ड[1]

इसमें किसको सन्देह हो सकता है कि भारतीय संस्कृति की सूत्रात्मा के एक होनेपर भी तथा उसकी प्रगति की धारा के चिरन्तर काल से अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में आने पर भी, गङ्गा की धारा की तरह उसमें अनेकानेक सांस्कृतिक उपधाराओं का समय-भेद से समावेश होता रहा है। कालान्तर में वे उपधाराएँ उसी मूलधारा में अपृथक् रूप से मिलकर एक होती रही हैं। उन विभिन्न उपधाराओं ने, सतत प्रगतिशील मूलधारा के साथ विरोधभाव न रखकर,अन्त में पूरकता के रूप में उसको समृद्ध ही बनाया है। यही कारण है कि शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध, सिक्ख आदि सम्प्रदायों तथा ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग आदि मार्गों के भेदों से भारतीय संस्कृति छिन्न-भिन्न न होकर और भी पुष्ट तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विभिन्न रुचि और स्वभाव के मनुष्यों के अनुकूल बनकर एक विस्तृत व्यापक सार्वभौम मानवधर्म के रूप में आज हमारे सामने विद्यमान है।

---

१. ग्रन्थकार का यह लेख प्रथम बार "श्रीवेंकटेश्वर-समाचार", बम्बई, के सन् १९५१ के विशेषांक में प्रकाशित हुआ था।

भारतीय संस्कृति के विकास में अनेक सांस्कृतिक उपधाराओं के योग के रहने पर भी, उसके प्रधान स्वरूप के निर्धारण में वैदिक विचारधारा का निःसन्देह अत्यधिक भाग रहा है ।

उसमें **"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्"** (भगवद्गीता १८।४६) के अनुसार सारे विश्व-प्रपंच के विभिन्न व्यापारों और दृश्यों में एकसूत्रात्मकता को बतलाने वाली, **"तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः"** (यजु० ४०।७) के अनुसार समस्त प्राणियों में एकात्मदर्शन करानेवाली और **"रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः"** (गीता ७।८) के अनुसार बाह्य जगत् तथा आभ्यन्तर जगत् में परस्पर अविरोधात्मक अद्वैत या ऐक्य को दर्शानेवाली जो आध्यात्मिकता पायी जाती है,या अन्धकार पर प्रकाश की, मृत्यु पर अमृतत्व की और असत्य पर सत्य की विजय का जो अविचल आशावाद या आत्मविश्वास पाया जाता है और अन्त में **"जयेम सं युधि स्पृधः"** (ऋग्० १।८।३) या **"अहमिन्द्रो न परा जिग्ये"** (ऋग्० १०।४८।५) के अनुसार विरुद्ध परिस्थितियों में न टूटनेवाला, पराजित न होनेवाला जो लचीलापन विद्यमान है, वह सब बहुत कुछ वैदिक विचारधारा की ही देन है ।

सहस्रों वर्षों के व्यतीत होनेपर वह आज भी वैदिक संस्कृति के रङ्ग में रंगी हुई है । यहां तक कि आज भी भारतीय आर्य (हिंदू) धर्म में धार्मिक कृत्यों और संस्कारों में वैदिक मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है । आज भी विवाह की वही पद्धति है, जो सहस्रों वर्ष पूर्व पूर्व भारत में प्रचलित थी । वैदिक कर्मकाण्ड की व्यापकता का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि ऐसे धार्मिक सम्प्रदायों में भी, जो अपने को वैदिक परम्परा से पृथक् समझते हैं, विवाह आदि संस्कार बहुत कुछ वैदिक परम्परा के अनुसार ही होते आ रहे हैं ।

वैदिक कर्मकाण्ड का प्रधान उपस्तम्भ यजर्वेद ही है । अत. यजुर्वेद के विषय में ही आज हम अपने विचार पाठकों के सामने रखना चाहते हैं ।

वैदिक साहित्य में यजुर्वेद का महत्व

समस्त वैदिक साहित्य में यजुर्वेद अपना विशिष्ट स्थान रखता है । मनुष्य-जीवन के विकास की ज्ञान, कर्म और उपासना ये तीन सीढ़ियां हैं । इनमें कर्म की सीढी या कर्मकाण्ड का प्रतिपादन विशेषतः यजुर्वेद ही करता है । यद्यपि वैदिक कर्मकाण्ड में अन्य वेद भी अपना-अपना स्थान रखते हैं, तो भी उसका प्रधान आधार यजुर्वेद ही कहा जा सकता है । सुप्रसिद्ध वैदिक ग्रन्थ **निरुक्त** में ऋग्वेद आदि से संबंध रखनेवाले ऋत्विजों का वर्णन करते हुए कहा है—

"यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकः। अध्वर्युः। अध्वर्युरध्वरयुः। अध्वरं युनक्ति। अध्वरस्य नेता।" (निरुक्त १।८)

इसका अभिप्राय यही है कि यज्ञ की सारी इतिकर्तव्यता को यजुर्वेद ही बतलाता है। इसीलिए यजुर्वेद से सम्बन्ध रखनेवाले ऋत्विक् 'अध्वर्यु' को सारे 'यज्ञ का चलाने वाला' या 'यज्ञ का नेता' कहा जाता है।[1]

यजुर्वेद का साहित्य

वैदिक साहित्य की परिभाषा के अनुसार यजुःसंहिता और उसका ब्राह्मण-भाग—दोनों को यजुर्वेद कहा जाता है। पर यहां हम केवल संहिता-भाग को ही लेकर विचार करना चाहते हैं। संहिता की दृष्टि से भी यजुर्वेद का साहित्य अत्यन्त विस्तृत रहा है। अन्य वेदों की तरह यजुर्वेद की भी अनेकानेक शाखाएँ थीं। पर आजकल कृष्ण-यजुर्वेद और शुक्ल-यजुर्वेद नाम से दो प्रकार के ही यजुर्वेद प्रसिद्ध हैं। इन दोनों में प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से शुक्ल यजुर्वेद का ही प्राधान्य है। उसी को आधार मानकर हम अपने विषय का प्रतिपादन करेंगे।

यजुर्वेद का प्रतिपाद्य विषय

वैदिक मन्त्रों की व्याख्या के तीन परम्परागत सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं। निरुक्त आदि प्राचीन वैदिक ग्रन्थों के आधार पर ऐसा कहा जाता है कि प्रायः प्रत्येक मन्त्र की व्याख्या आधिभौतिक, आधिदैविक (या अधियज्ञ या याज्ञिक) और आध्यात्मिक दृष्टि से की जा सकती है। वास्तव में मनुष्य के मानसिक विकास के साथ साथ प्रकृति के प्रत्येक व्यापार में उपर्युक्त तीनों दृष्टियों का क्रमशः आविर्भाव होना स्वभाविक होता है। ऐसा होने पर भी यजुर्वेद की व्याख्या प्रायः अधियज्ञ दृष्टि से ही प्राचीन भाष्यकारों ने की है।

'यजुः' शब्द पर विचार करने से भी इसी बात की पुष्टि होती है। 'यजुः' और 'यज्ञ' दोनों शब्दों का संबंध एक ही 'यज' धातु से है। निरुक्त में कहा है—"यजुर्यजतेः" (नि० ७।१२)। दुर्गाचार्य इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—"तेन हि विशेषत इज्यते"। अर्थात् 'यजुः' को 'यजुः' इसीलिए कहा जाता है, क्योंकि उसीसे विशेषतः यज्ञ किया जाता है।

---

1. तु०—"आनुपूर्व्या कर्मणां स्वरूपं यजुर्वेदे समाम्नातम्। तत्र तत्र विशेषापेक्षायामपेक्षिता याज्यापुरोनुवाक्यादय ऋग्वेदे समाम्नायन्ते। स्तोत्रादीनि तु सामवेदे। तथा सति भित्तिस्थानीयो यजुर्वेदः, चित्रस्थानीयावितरौ। तस्मात् कर्मसु यजुर्वेदस्य प्राधान्यम्।" (सायणकृत काण्वसंहिताभाष्य की उपक्रमणिका)।

यजुर्वेद के मन्त्रों का अवान्तर-क्रम भी अधिकतर याज्ञिक परम्परा के आधार पर दर्शपूर्णमासेष्टि, पिण्डपितृयज्ञ, अग्न्याधेय आदि याज्ञिक कर्मों के क्रम के अनुसार ही रखा गया है। केवल दो-तीन अध्यायों का, विशेषकर अन्तिम ४० वें अध्याय का संबंध साक्षात् कर्मकाण्ड से न होकर उपनिषत्काण्ड या आत्मज्ञान से है। शतपथ-ब्राह्मण तथा उवट आदि प्राचीन टीकाकारों का भी यही मत है।

उपर्युक्त कारणों से यही कहना युक्ति-युक्त प्रतीत होता है कि यजुर्वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय अधियज्ञ ही है, और अन्त में अधियज्ञदृष्टि द्वारा ही परमात्म-दर्शन या परम पद की प्राप्ति का वह प्रतिपादन करता है।

अधियज्ञ-दृष्टि का स्वरूप और विकास

अधियज्ञ या याज्ञिक दृष्टि को ठीक-ठीक समझने के लिए वैदिक कर्मकाण्ड के विकास को समझने की आवश्यकता है। जैसा ऊपर कहा है, 'यज्ञ' और 'यजुः' दोनों शब्दों का विकास **'यज देवपूजा-संगतिकरण-दानेषु'** इस धातु से हुआ है। वास्तव में देखा जाए तो देव-पूजा, संगतिकरण और दान इन तीन अर्थों में याज्ञिक दृष्टि या वैदिक कर्मकाण्ड के विकास का पूरा इतिहास आ जाता है।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

(यजु० ३२।१)

(अर्थात्, अग्नि, आदित्य, वायु आदि विभिन्न देवता उसी एक परमात्म-तत्त्व की विभूतियाँ हैं), अथवा **"माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते"** (निरुक्त ७।४) (अर्थात्, एक ही परमात्मा की अनेक रूपों में स्तुति की जाती है), इत्यादि वचनों के अनुसार समस्त विश्व के संचालक परमात्मा की ही विभिन्न विभूतियों को वैदिक धर्म की परिभाषा में तत्तद् देवता के नाम से पुकारा जाता था। उन्हीं अग्नि, आदित्य, इन्द्र, वरुण आदि **देवताओं की पूजा, स्तुति या गुणगान,** यही यज्ञ या वैदिक कर्मकाण्ड का प्रारम्भिक स्वरूप था।

उन्हीं देवताओं के साथ **संगतिकरण** या सान्निध्य की भावना से, अन्य कर्म-काण्डों के समान ही, याज्ञिक कर्मकाण्ड का विकास प्रारम्भ हुआ। मनुष्य अपने आराध्य देवता की केवल स्तुति से ही सन्तुष्ट न होकर, इष्ट-मित्रादि के समान ही, स्वभावतः उसका **आवाहन,** सान्निध्य या साक्षात्कार भी चाहता है।

आवाहन के अनन्तर अपने आराध्य का विभिन्न पदार्थों द्वारा सत्कार किया जाता है। यही **दान** है। यही **"इदमग्नये इदं न मम"** की भावना का मूल है। यही **'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'** की भावना है। इसी भावना के

आधार पर अधियज्ञ दृष्टि या याज्ञिक कर्मकाण्ड का अन्ततः विकास हुआ था ।

वैदिक देवताओं का स्वरूप

वैदिक कर्मकाण्ड की मौलिक प्रेरणा को समझने के लिए वैदिक देवताओं के स्वरुप को कुछ अधिक स्पष्टता से समझ लेना चाहिए । ऊपर कहा है कि वास्तव में परमात्मा की विभिन्न विभूतियों को ही तत्तद्देवता के नाम से पुकारा जाता था। पर जहाँ तक वैदिक कर्मकाण्ड का संबंध है ये विभिन्न देवता, व्यावहारिक दृष्टि में, अपनी-अपनी स्वतन्त्र या पृथक् सत्ता रखते हुए माने जाते थे। प्राकृतिक कार्यों का संचालन करनेवाली इन दैवी शक्तियों की प्रात्यक्षिक पृथक् सत्ता किससे छिपी है ? तो भी वैदिक देवताओं की सारी प्रवृत्तियां समस्त जगत् के कल्याणार्थ, उसके कार्यों के संचालनार्थ ही हैं। ये परस्पर केवल अविरोध भाव से ही नहीं, अपितु परस्परोन्नायक भाव से कार्य करते हुए चराचर जगत् के नैतिक (या आभ्यन्तर) तथा भौतिक (या बाह्य) शाश्वत नियमों के अनुसार 'सत्य' और 'ऋत' का पालन करते हुए ही अपना-अपना कार्य करते हैं । **"देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते"** (ऋग्वेद १०।१९१।२) (अर्थात्, दैवी शक्तियां परस्परोन्नायक या सामञ्जस्य के भाव से ही अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करती हैं), **"सत्यं वै देवाः"**, **"ऋतज्ञाः"** इत्यादि वैदिक वचनों का यही अभिप्राय है । वैदिक देवता स्वभाव से ही प्रकाश-स्वरुप अर्थात् सब प्रकार के भ्रम, अज्ञान,या मोह से परे हैं ।

वैदिक धर्माचरण का लक्ष्य

वैदिक देवताओं के कल्याणोन्मुख उत्कृष्ट आदर्श-स्वरुप को ध्यान में रखकर ही स्वभावतः मरणधर्मा,अनृत और अज्ञान से अभिभूत, लघु स्वार्थों और आपातरमणीय ऐन्द्रियिक प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर पारस्परिक संघर्ष के भावों से पराभूत, दुर्बल मनुष्य, अपने को दैवी सम्पत्ति से समन्वित करने की अभिलाषा से, मानों अपने को देवतुल्य बनाने के लिए, या आधुनिक परिभाषा में, समष्टि के साथ सामञ्जस्य की स्थापना द्वारा अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के उद्देश्य से ही, वैदिक धर्माचरण में प्रवृत्त होता था।

इसी मौलिक उद्देश्य के आधार पर स्वभाव से अशान्त और चञ्चलचित्त मनुष्य को दान्त, शान्त, संयत और दृढव्रती बनाने की दृष्टि से अत्यन्त कठिन अनुशासन, नियमन और संयम के भावों से ओतप्रोत वैदिक कर्मकाण्ड की नींव हमारे पूर्वजों ने डाली थी । उसमें यजमान, यजमान-पत्नी और अनेक ऋत्विज्, सत्यभाषण, इन्द्रियसंयम आदि कठिन व्रतों का पालन करते हुए, विस्तृत और

जटिल कर्मकाण्ड को बड़ी सावधानता के साथ सम्पादन करते थे । बड़े-से-बड़े 'ड्रामा' या 'म्यूजिकल कान्सर्ट' से भी अधिक परस्पर सहयोग की आवश्यकता वैदिक कर्मकाण्ड में होती थी ।

वैदिक-धर्मी के लिए उसका सारा जीवन अपने पूर्ण विकासरूपी अभीष्ट पद की प्राप्ति के लिए एक लम्बी यात्रा के समान था । लम्बी यात्रा में जैसे मोटर-यात्री के लिए प्रत्येक मोड़ पर सावधानता की आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार प्रायेण वर्ष के पर्वों पर ही दर्श-पूर्णमासादि वैदिक कर्मों का विधान किया गया था । **"ऋतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते"** (गोपथब्राह्मण) (अर्थात्, ऋतुओं की सन्धियों के अवसर पर ही व्याधियों का प्रकोप होता है) तथा **"स्वस्ति संवत्सरस्य पारमशीमहि"** (अर्थात्, हम जीवन की यात्रा में कुशल-क्षेम के साथ जीवन के प्रत्येक वर्ष को पार करते चलें) इत्यादि वचनों से स्पष्टतया यही प्रतीत होता है ।

वैदिक धर्मी के लिए जीवन की यात्रा का लक्ष्य यही है कि वह उन्नति-विरोधी भावनाओं और शक्तियों पर विजय प्राप्त करता हुआ आत्मा का उत्तरोत्तर विकास करे । **"उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्"** (यजु० २०।२१) (अर्थात्, अज्ञान से प्रकाश की ओर बढ़ते हुए हम अपने को उत्तरोत्तर समुन्नत करें) आदि वैदिक वचनों का यही अभिप्राय है । इस प्रकार उत्तरोत्तर समुन्नति करते हुए आत्मा के पूर्ण विकास का लक्ष्य ही वास्तव में 'स्वर्ग' है; वही 'स्वाराज्य' या 'अमृतत्व' है। इसी को वैदिक मंत्रों में 'ज्योतिर्मय लोक' कहा गया है ।

इसलिए वैदिक धर्माचरण के लक्ष्य को हृदयंगम करने के लिए निम्नलिखित मौलिक सत्यों को मानना आवश्यक हो जाता है:——

(१) मनुष्य स्वभाव से अपूर्ण, दुर्बल-चित्त और लघु स्वार्थों से ग्रस्त है ।

(२) दैवी शक्तियों या देवताओं का स्वरूप इसके विपरीत है ।

(३) मनुष्य के जीवन का लक्ष्य होना चाहिए कि वह अपनी दुर्बलताओं और अपूर्णताओं पर विजय प्राप्त करता हुआ दैवी सम्पत्ति के सम्पादनार्थ ही अपने पूर्ण विकास के लिए सतत प्रयत्नशील रहे ।

(४) सारे विश्व-प्रपञ्च की संचालिका उस महाशक्ति या महानात्मा की, जिसकी विभूतियां ही विभिन्न देवता हैं, लीला का एकमात्र अभिप्राय प्राणिमात्र और विशेषत: मनुष्य के पूर्ण विकास में है और इसीलिए बाह्य और आभ्यन्तर (=भौतिक और आध्यात्मिक) सृष्टि के मूल में ऋत और सत्य का साम्राज्य है ।

वैदिक उदात्त भावनाएं

वैदिक धर्माचरण के उपर्युक्त मौलिक आधारों के कारण ही, अन्य वेदों के समान, यजुर्वेद भी, जिसका स्पष्टतः वैदिक कर्मकाण्ड से घनिष्ठ सम्बन्ध है, ऐसी उदात्त भावनाओं से ओत-प्रोत है, जो संसार के किसी भी अन्य वाङ्मय या संस्कृति की दृष्टि से अत्यन्त अभूतपूर्व हैं। संसार के नीरस-प्राय अन्य कर्मकाण्डों में तो ऐसे उदात्त विचार प्रायः देखने को भी नहीं मिलेंगे। यहाँ हम उन्हीं उदात्त भावनाओं का केवल दिग्दर्शन ही कराना चाहते हैं।

समष्टि-भावना

आधुनिक हिन्दूधर्म में उसका केन्द्र-बिन्दु बहुत कुछ व्यक्ति-परक है। मनुष्य समाज से भागकर केवल अपनी ही भलाई को, धर्म के क्षेत्र में भी, सोचता है। इसके विरुद्ध, वैदिक प्रार्थनाओं की, जिन से यजुर्वेद भरा पड़ा है, सब से पहली विशेषता उनकी समष्टिरूपता में है। इसीलिए वे प्रायः बहुवचन में ही होती हैं। उदाहरणार्थः—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्रं तन्न आ सुव॥

(यजु० ३०।३)

अर्थात्, हे देव सवितः! जो हमारे लिए वास्तविक कल्याण है उसे हम सब को प्राप्त कराइये।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

(यजु० ३।३५)

अर्थात्, सबके प्रेरक सवितृ-देव के उस प्रसिद्ध वरणीय तेजःस्वरूप का हम सब ध्यान करते हैं जो हमारी बुद्धियों को प्रेरणा प्रदान करे। इत्यादि प्रार्थनाओं में बहुवचनों के प्रयोग से स्वभावतः वैयक्तिक स्वार्थों में लिप्त मनुष्य के सामने समष्टि-भावना का उच्च आदर्श रखा गया है। आज की संघर्ष-प्रधान भावनाओं के वातावरण में यह समष्टि-भावना (=दूसरों के साथ में ही अपने हित के सम्पादन की भावना) कितना महत्त्व रखती है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं है।

आशावाद की भावना

मनुष्य के जीवन को सबसे अधिक नीचे गिरानेवाली भावना निराशावाद की भावना है। निराशावाद से अभिभूत मनुष्य जीवन की किसी समस्या को सुलझाने में असमर्थ होता है। इसीलिए इसका बड़ा भारी महत्त्व है कि वैदिक

धर्माचरण का सम्पूर्ण आधार ही आशावाद पर है। इसका सिद्धान्त यही है कि मनुष्य को अपने जीवन में उत्तरोत्तर उन्नति का ही लक्ष्य रखना चाहिए। और उत्साहपूर्वक समस्त विघ्नबाधाओं पर विजय प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए। उदाहरणार्थ:—

अदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् (यजु० ३६।२४)

अर्थात्, हम जीवन भर दैन्यभाव से अपने को दूर रखें।

अमृतत्वमशीय (यजु० ७।४५)

अर्थात्, मैं अमृतत्व को प्राप्त करूँ।

वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवे दिवे वाममस्मभ्यꣳ सावीः।

(यजु० ८।६)

अर्थात्, हे सवितृदेव! आप आज, कल, प्रतिदिन हमें स्पृहणीय सुख प्राप्त कराइए।

वर्चस्वानहं मनुष्येषु भूयासम् (यजु० ८।३८)

अर्थात्, मैं मनुष्यों के बीच में वर्चस्वी तेजस्वी होकर जीवन व्यतीत करूँ।

भद्र-भावना

विभिन्न धर्मों के कर्मकाण्डों का सम्बन्ध प्रायः मनुष्यों की छोटी-छोटी कामनाओं की पूर्ति से हुआ करता है। परन्तु वैदिक धर्माचरण की यह विशेषता है कि उसमें प्रायः सुखात्मक कामनाओं से ऊपर उठकर मानवता के नाते से मनुष्य के लिए जो वास्तविक कल्याण, भद्र या अच्छाई है उसके लिए बार-बार प्रार्थनाएँ आती हैं। "**यद् भद्रं तन्न आ सुव**" (यजु० ३०।३) (अर्थात्, भगवन्! हमारे लिए कल्याण को प्राप्त कराइए)। "**भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः**" (यजु० २५।२१) (अर्थात्, हे यजनीय देवताओ! हम कानों से भद्र को सुनें और आँखों से भद्र ही देखें) इत्यादि प्रार्थनाएँ भद्र-भावना की ही उदाहरण हैं।

इसी प्रकार विश्वबन्धुत्व की भावना, निष्पाप होने की भावना, इत्यादि प्रकार की उदात्त भावनाओं से परिपूर्ण प्रार्थनाएँ, अन्य वेदों के समान ही, कर्मकाण्ड-प्रधान यजुर्वेद में भी पायी जाती हैं।

यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, उपनिषत्काण्ड से सम्बन्ध रखता है। इसी में गीता के सुप्रसिद्ध कर्मयोग का बीज-रूप से उपदेश देनेवाला यह मन्त्र है:—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

(यजु० ४०।२)

अर्थात्, मनुष्य को चाहिए कि वह अपने कर्तव्य कर्मों को करता हुआ ही जीने की इच्छा करे। उसका कल्याण इसी में है। कर्मबन्धन से बचने का यही उपाय है।

इसी अध्याय में—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥

(यजु० ४०।७)

(अर्थात्, जो सब भूतों को अपने से अभिन्न समझता है उसके लिए शोक और मोह का प्रश्न ही नहीं उठता) इस प्रकार समस्त भूतों में एकात्मदर्शन द्वारा शोक, मोह आदि समस्त मनोविकारों को दूर करके मनुष्य-जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति का उपदेश है।

उपसंहार

इस प्रकार वैदिक संस्कृति के सार्वदेशिक और सार्वकालिक महत्त्व का सम्पादन करने वाली उदात्त भावनाओं से प्रेरित होकर विश्वभावन भगवान् को लक्ष्य करके वैदिक कर्मकाण्ड को करता हुआ मनुष्य उत्तरोत्तर श्रेयः-मार्ग पर अग्रसर होता हुआ परमपद को प्राप्त कर सकता है। वैदिक कर्मकाण्ड का यही गूढ रहस्य है। यजुर्वेद का यही प्रधान प्रतिपाद्य विषय है।

॥ ओं खं ब्रह्म ॥

—:०:—

द्वितीय परिशिष्ट

(घ)

[वैदिकधारा की कुछ उदात्त भावनाओं तथा जीवन-प्रद संदेशों को इस दीक्षान्त-भाषण[1] में दिखाने का यत्न किया गया है ।]

वेदों के जीवनप्रद संदेश

कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे

(ऋग्० १।३६।१४)

प्रधानमहोदय, देवियो तथा सज्जनो !

इस पवित्र अवसर पर दीक्षान्त-भाषण देने के लिए जो मुझे निमन्त्रित किया गया है उसके लिए मैं आप का आभारी हूँ। इन दिनों अपने कार्य के आधिक्य से, अवकाश के न रहने पर भी, इस संस्था से अपने निजी सम्बन्ध के नाते से स्नेहवश तथा मित्रों के अनुरोध से मुझे इस कार्यभार को स्वीकार करना ही पड़ा।

प्रिय स्नातकवर्ग !

यह अवसर आप के जीवन में अत्यन्त विशेष महत्त्व रखता है। "**अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि**" इत्यादि मन्त्रों द्वारा दीर्घायुष्य, बल, वर्चस् और तेजस् की प्राप्ति के लिए, जीवन के प्रथमकाल में, जिस कठिन व्रत को आपने

---

१. २७ दिसम्बर, १९४३ को गुरुकुल वृन्दावन के ३९ वें महोत्सव पर दिया गया ग्रन्थकार का दीक्षान्त-भाषण।

ग्रहण किया था उसकी समाप्ति पर आज आप 'तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः' (ऋग्० ३।८।४) इसके अनुसार गुरुओं के आशीर्वाद के साथ गुरुगृह से विदा ले रहे हैं। गुरुकुल के तपस्या, संयम, भ्रातृभाव और अकृत्रिम स्नेह के आदर्श वातावरण में रहते हुए आप आर्यधर्म की दीक्षा से दीक्षित हुए हैं। नये जगत् में प्रवेश करने पर आपका यह कर्तव्य होगा कि आप उसी आर्यधर्म के संदेश से, शब्दों द्वारा नहीं, किन्तु उदाहरण द्वारा भारतीय समाज में नये जीवन के संचार का यथाशक्य प्रयत्न करें।

पर जिस नये जगत् में आप प्रवेश करने जा रहे हैं वह उस जगत् की अपेक्षा जिसमें आप अब तक रहे हैं कहीं अधिक विशाल, विसंष्ठुल, विषम और कण्टकाकीर्ण है। आपकी जीवनयात्रा की कठिन परीक्षा का वह स्थान होगा। पर ध्यान रखिए कि जिस महान् आर्यधर्म के सिद्धान्तों और आदर्शों की शिक्षा आपने पायी है उसको व्यावहारिक रूप देकर चरितार्थ करने में ही इस नवीन जीवन का उपयोग और साफल्य है।

इस नये जीवन का सब से पहला संदेश आशावाद है।

आशावाद तथा निराशावाद

यह कौन नहीं जानता कि आर्यधर्म या वैदिक धर्म का मौलिक सिद्धान्त आशावाद है। वैदिक-साहित्य आशावाद के सिद्धान्त से ओतप्रोत है।

कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे

(ऋग्० १।३६।१४)

भगवन्! जीवनयात्रा में हमें समुन्नत कीजिए।

भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि

(ऋग्० १०।३७।६)

कल्याणमय जीवन व्यतीत करते हुए हम वृद्धावस्था को प्राप्त हों।

विश्वदानीं सुमनसः स्याम पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्

(ऋग्० ६।५२।५)

हम सदा प्रसन्नचित्त रहते हुए चिरकाल पर्यन्त उदीयमान सूर्य के दर्शन करें।

पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्।
बुध्येम शरदः शतम्। रोहेम शरदः शतम्।
पूषेम शरदः शतम्। भवेम शरदः शतम्।
भूषेम शरदः शतम्। भूयसीः शरदः शतात्।

(अथर्व० १९।६७।१-८)

अर्थात्, हम सौ और सौ से भी अधिक वर्षों तक देखें, जीवन-यात्रा करें, ज्ञानसंपादन करें, उत्तरोत्तर उन्नति को प्राप्त करें, पुष्टि को और दृढता को प्राप्त करें, तथा अपने को समृद्धि, ऐश्वर्य और गुणों से भूषित करें।

मनुष्यजीवन में एक नई स्फूर्ति, नई विद्युत् का संचार करने वाले इस प्रकार के प्राणसंजीवन वचनों से वैदिकसाहित्य भरा पड़ा है।

वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार मनुष्य का सबसे प्रथम कर्तव्य, ईश्वर-प्रदत्त शक्तियों का परस्पर सामञ्जस्येन विकास द्वारा अपने जीवन की सर्वाङ्गीण संपूर्णता ही है। विश्वबन्धु भगवान् का रचा हुआ यह संसार हमारी उस सर्वाङ्गीण समुन्नति का बाधक न होकर साधक ही है। इसी लिए एक आर्य के लिए यह जीवन, ग्लानि का विषय न होकर, प्रार्थना का विषय है। यह उदात्त भावना प्रकृति के नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करने वाले एक निष्पाप तथा स्वच्छहृदय व्यक्ति की ही हो सकती है।

इसके विपरीत, जिस समाज में आप प्रवेश करने जा रहे हैं वह शताब्दियों से अन्धकार और अवनति के गर्त में पड़ा हुआ निराशावाद के सिद्धान्तों से परिप्लुत हो रहा है। उन सिद्धान्तों या अप-सिद्धान्तों के अनुसार यह संसार मिथ्या है, स्वप्नवत् है, असार है, एक सराय के तुल्य है, उसमें हमारी स्थिति एक डूबते हुए व्यक्ति जैसी है, मानों ईश्वर ने उसे जेलरूप में ही हमारे लिए बनाया है। ऐसे ही निराशामय सिद्धान्तों ने भारतीय समाज को चिरकाल से निष्प्राण, निःसत्त्व और निस्तेज बना रखा है। उक्त सिद्धान्तों से प्रभावित लोगों ने ही रौरवादि नरकों की कल्पनाएँ की हैं। "मैं मूरख खल कामी", "नैया मेरी पार लगाओ" जैसी दयनीय प्रार्थनाएँ उसी विचार-धारा की प्रतीक हैं।

आर्यधर्म का सबसे पहला संदेश यह होना चाहिए कि हम इस प्राणघातक निराशावाद को समाज से निर्मूल करके वैदिक उदात्त भावनाओं से उसे भरपूर कर दें, और

> **ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम।**
> **मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रस्त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम॥**
>
> (ऋग्० १०।१२८।१)

जैसी वैदिक प्रार्थनाओं के अनुसार, समाज के नवयुवक ही नहीं, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख यह आदर्श रखें कि हम अपनी उन्नति की समस्त बाधक शक्तियों और प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करने के लिए ही उत्पन्न हुए हैं। जिस दिशा में भी हम उद्योग करेंगे हमको विजयलक्ष्मी प्राप्त होगी। हम अमृत

परमात्मा के पुत्र हैं। हम अपने जीवन को प्रकाशमय अतएव सत्यमय बनाते हुए दूसरों के जीवन को भी प्रकाशमय बनाएँगे।

प्रगतिवाद तथा रूढ़िवाद

भारतीय समाज की सर्वाङ्गीण उन्नति और पूर्ण विकास में सबसे अत्यन्त बाधक प्रवृत्ति उसका रूढ़िवाद है। इसकी उत्पत्ति और पुष्टि उन्हीं कारणों से हुई है जिन्होंने निराशावाद को जन्म दिया था। जिस व्यक्ति या समाज की उन्नति और विकास के मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं, वह स्वभावतः निराशावाद तथा आत्म-अविश्वास का शिकार होकर, उस अन्धे की तरह जो इस भय से कि पैर उठाते ही शायद कुएँ में न गिर पड़ूँ अपने स्थान पर ही रहना पसन्द करता है, रूढ़िवाद के ग्राह से ग्रस्त हो जाता है। इसके विपरीत जिस व्यक्ति या समाज के सामने उन्नति के मार्ग खुले रहते हैं और आशा का प्रकाश होता है और इसी लिए जो आत्मविश्वास रखता है वह स्वभावतः प्रगतिशील होता है। एक आँख रखनेवाला व्यक्ति प्रकाश के रहते हुए आत्म-विश्वास के साथ जहाँ चाहता है जा सकता है। इसीलिए जहाँ प्रगतिवाद प्रकाश का तथा आशामय और विश्वासमय जीवन का द्योतक है, वहाँ रूढ़िवाद अन्धकार तथा निराश और आत्म-विश्वासहीन जीवन का प्रतीक है। दूसरे शब्दों में, जहाँ रूढ़िवाद समाज की ऐसी स्थिति को बतलाता है जो पृथ्वी के गर्भ में रक्षित शिला के रूप को प्राप्त वृक्षादि के टुकड़े के समान निश्चेष्ट और जीवनरहित है; वहाँ प्रगतिवाद जीवनी क्रिया से सम्पन्न एक सचेष्ट प्राणी का परिचायक है।

यही रूढ़िवाद भारतीय समाज की सबसे बड़ी समस्या है। नाना रूपों में यह समाज को, पैरों में पड़ी बेड़ियों की तरह, आगे बढ़ने से रोकता है। इसका दुष्प्रभाव अत्यन्त सूक्ष्म और अदृश्य रीति से, भयानक राजयक्ष्मा के कीटाणुओं की तरह, हमारे समाज में प्रविष्ट हो उसे जीर्ण-शीर्ण करने के लिए सद्यः तत्पर रहता है।

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में इसकी प्रवृत्ति देखने में आती है। शब्दों के अर्थ के विषय में यही रूढ़िवाद हमको उनके अन्तस्तल तक पहुँचने से रोकता है और प्रायः मानसिक पाखण्ड या छद्म का पोषक बन जाता है। यही मनुष्य के अपने निम्न स्वार्थों और प्रवृत्तियों से प्रेरित कामों के वास्तविक स्वरूप को छिपाकर जनता को धोखा देने के लिए परदे का काम करता है। भक्ति, तप, दान, दया, यज्ञ, स्वर्ग, वर्ण, श्रद्धा जैसे शब्दों की दुर्दशा या दुष्प्रयोग का मूल कारण शब्दविषयक रूढ़िवाद ही तो है। भगवद्गीता में यज्ञ, तप, दान आदि का जो सात्विक, राजस और तामस भेद दिखलाया है, वह इसी शब्दगत रूढ़िवाद को दूर करने की चेष्टा है। आचार्य स्वामी दयानन्द की **आर्योद्देश्य-रत्न-माला**,

जिसके महत्त्व को प्रायः बहुत कम लोग समझते हैं, वास्तव में इसी शब्दगत रूढिवाद के खण्डन का प्रयत्न है।

उपर्युक्त रूढिवादमूलक मानसिक पाखण्ड या छद्म के ही कारण अनेक उद्भट विद्वान् भी प्राचीन ग्रन्थों के अर्थ को स्वसिद्धान्तानुकूल्येन दिखलाने की चेष्टा भारतीय इतिहास के विभिन्नकालों में करते रहे हैं और यह प्रवृत्ति अब भी देश में जारी है। उक्त कारण से ही देश में समय-समय पर महापुरुषों द्वारा, सुधार और प्रगति के उद्देश्य से, प्रचालित अनेकानेक आन्दोलन और संप्रदाय अपने प्रधान लक्ष्य से च्युत होकर रूढिवाद की दल-दल में फँसकर नष्ट हो गये। यह बात प्राचीन तथा सामयिक इतिहास के प्रेमियों से छिपी नहीं है। रूढिवादियों का यह स्वभाव है कि वे, जैसे परभोजी पौधे अन्य पौधों को नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार प्रगतिशील आन्दोलनों को हथियाकर उनको निष्प्राण तथा निःसत्त्व बना देते हैं; और ऐसा करने में वे समाज में आदृत शब्दों तथा भावनाओं के रूप में परम्परागत रूढियों का पूरा उपयोग अदृश्यरूप से करते हैं।

रूढिवाद की उक्त घातक अदृश्य प्रवृत्तियों से अपने को तथा अपने समाज को बचाने के लिए ऐकान्तिक सत्यनिष्ठा, आत्मपरीक्षण, तथा अमूढबुद्धि के सतत प्रयोग की आवश्यकता है। मानसिक छद्म या पाखण्ड करने वाले वञ्चकों के लिए ही वेदों में 'द्वयाविनः' शब्द का प्रयोग किया गया है और उनकी घोर निन्दा की गयी है।

निरुक्तपरिशिष्ट में **"मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्"** (=ऋषियों की परम्परा के इस जगत् से नष्ट होने पर देवताओं ने मनुष्यों से कहा कि आगे को तर्क ही आपके लिए ऋषियों का स्थानापन्न होगा) इस प्रकार बतलाये गये **'तर्क एव ऋषिः'** के सिद्धान्त का उपयोग, दूसरों के खण्डन में नहीं, किन्तु आत्मपरीक्षण में करना चाहिए।

ऐकान्तिक शब्दप्रमाणपरता या परम्परागत अन्धभक्ति का ही नाम रूढिवाद है और वह सर्वतःप्रथम बुद्धि की जड़ता का द्योतक है।

इसके विरुद्ध, वेदों में **"भद्राद्भभि श्रेयः प्रेहि"** (तैत्तिरीयसंहिता १।२।३।३) (अर्थात्, हे भगवन् आप हमको उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर पद को प्राप्त कराइये), **"कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे"** (ऋग्० १।३६।१४) (अर्थात्, हे भगवन् हम को जीवन-यात्रा में उन्नत और प्रगतिशील बनाइये), इत्यादि मन्त्रों द्वारा प्रगतिवाद का ही गुणगान किया गया है। वेदों द्वारा गीयमान आशावाद भी वास्तव में प्रगतिवाद का ही रूपान्तर है। वह जीवन का मुख्य लक्षण है।

नवीन जगत् में प्रवेश करने पर आपका कर्तव्य होना चाहिए कि आप सर्वदा 'तर्क एव ऋषि:' की सहायता से तात्त्विकदृष्ट्या आत्मपरीक्षण करके देखते रहें कि कहीं आप स्वयं ही रूढिवाद के शिकार होकर अपनी शिक्षा-दीक्षा के साथ प्रवञ्चना तो नहीं कर रहे हैं। इस प्रकार प्रगतिवाद तथा आशावाद के आधार पर आर्यधर्म के आदर्शों के अनुसार, आपको नवीन समाज के निर्माण के लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

हम वैदिक धर्म को सनातन तथा सार्वभौम धर्म समझते हैं। पर जिस समाज से हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध है उसका उस धर्म के आदर्श पर नवीन निर्माण किये बिना हम उस धर्म की सार्वभौमता सिद्ध नहीं कर सकते। अपने घर को गन्दा रखते हुए हम सफ़ाई की शिक्षा दूसरों को कैसे दे सकते हैं?

हम अतीत के गीत चिरकाल से गा रहे हैं। अब समय है कि भविष्य के गीत गाये जाएँ। वास्तविकदृष्ट्या आदर्श भविष्य में रहता है, न कि अतीत में। अतीत का गीत-गान सम्भव है हमारे जीवन की निश्चेष्ट तथा मन्द गति में कोई परिवर्तन न करे; पर भविष्य का गीत-गान हमारे जीवन को स्फूर्तिमय बनाये बिना नहीं रह सकता। **"परिमितं वै भूतम्"** **"अपरिमितं भव्यम्"** (ऐतरेय-ब्राह्मण ४।६), अर्थात्, अतीत परिमित, पर भविष्य अपरिमित होता है—यह कथन नितरां सत्य है। वास्तव में अतीत का महत्त्व वहीं तक है जहाँ तक वह हमारे भविष्य के निर्माण में सहायक हो सकता है।

श्रेय: और प्रेय: मार्गों का रहस्य भी इसी सिद्धान्त में निहित है। जहाँ प्रेय: मार्ग का सम्बन्ध हमारे जीवन की अतीतकालीन भावनाओं से है, वहाँ श्रेय: मार्ग का सम्बन्ध आदर्श से है। वास्तविक उन्नति का रहस्य दोनों के समन्वय तथा सामञ्जस्य में है।

मानवता का सम्मान तथा गौरव

आर्यधर्म या वैदिकधर्म को हम सनातन तथा सार्वभौम मानवधर्म समझते हैं। इसी लिए इसको विभिन्न तत्तत्कालीन वा तत्तद्देशीय संप्रदायों या मतों के साथ एक तुला में नहीं रखा जा सकता। हमारा यह विश्वास केवल भावना-मूलक ही नहीं है; इसका आधार ठोस कारणों पर है। पर सनातन सार्वभौम मानवधर्म की कसौटी यही हो सकती है कि उसमें मानवता के उत्कृष्ट पद के लिए पूरे सम्मान और गौरव का, और उसके प्रति शुद्ध न्याय तथा सत्य के व्यवहार का स्थान हो। हमारे प्राचीन साहित्य में इसी तथ्य को **'आनृशंस्यम्'** इस पद से प्रकट किया गया है।

पर खेद का विषय है कि मानवता के प्रति सम्मान और गौरव के भावों के साथ-साथ, इस पद का प्रयोग भी प्रायः हमारे वर्तमान समाज से लुप्त हो गया है।

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याᳬ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥
(यजु० २६।२)

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
(ऋग्० १०।१९१।२)

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ॥
(ऋग्० १०।१९१।३)

जैसी उदात्त वैदिक भावनाओं का स्थान आजकल व्यक्तिगत तथा वर्गगत स्वार्थों के परम्परागत पारस्परिक संघर्ष ने ले लिया है। इस संघर्ष से जीर्ण-शीर्ण भारतीय समाज और भी विषाक्त हो गया है।

धर्म की ओट में और उसके नाम पर निम्न स्वार्थों के साधन में हमारी तत्परता ने वैदिकधर्माभिमानी समाज को मानवता के सम्मान तथा गौरव के महान् लक्ष्य से विमुख कर दिया है। इसी कारण से प्रायः हमारे कथन और व्यवहार में सामञ्जस्य नहीं है। आर्य-धर्म की दीक्षा से दीक्षित आप स्नातकों का यह कर्तव्य है कि समाज से इस विसंवादिनी प्रवृत्ति को दूर करें और समाज को इस योग्य बनाएँ कि उससे संबन्ध रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ईश्वर-प्रदत्त शक्तियों के पूर्ण विकास का पूरा अवसर प्राप्त हो और वह अपने उचित आत्मसम्मान की रक्षा कर सके। ऐसा होने पर ही समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उसके अङ्ग होने का वास्तविक गर्व हो सकता है और वह समाज की सबलता का साधक बन सकता है।

मानवता के संमान और गौरव के उपर्युक्त सिद्धान्त को निश्छल हृदय से माने बिना, और अपने को बड़ा समझ कर दलित समाज के सिर पर केवल मिथ्या आश्वासन का हाथ रख कर, या उसके कान में ओंकार-रहित या ओंकार-सहित मन्त्रों को फूंक कर, और इस प्रकार दलितोद्धार को भी अपने पुजवाने का साधन बनाकर, हम उस समाज को न उठा सकते हैं, न अपना सकते हैं, उसको रुष्ट भले ही करदें। दलित समाज को अपनाने में हमारी असफलता का यही मुख्य कारण है। यह ध्रुव सत्य है कि उपर्युक्त सिद्धान्त को निश्छल

हृदय से माने बिना हम न तो आर्यधर्म की सार्वभौमता सिद्ध कर सकते हैं और न अपने समाज का भला कर सकते हैं।

ईश्वर के शाश्वत नियमों के साथ कोई मिथ्या व्यवहार करे और दण्डित न हो यह कभी नहीं हो सकता !

प्रिय स्नातकगण !

सत्य सनातन आर्यधर्म के प्राणप्रद सन्देश के उपर्युक्त मौलिक सिद्धान्तों को मनसा, वाचा, कर्मणा अपनाये बिना और उनके आधार पर भारतीय समाज का पुनः निर्माण किये बिना हम उसके प्रकाशमान स्वरूप को जगत् के सामने प्रकट नहीं कर सकते। इन सिद्धान्तों को अपनाने की हमें नूतन दृढ़ प्रतिज्ञा इन शब्दों में करनी चाहिए:—

ओं "ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत्।
ध्रुवासः पर्वता इमे" ध्रुवाः स्याम व्रते वयम्॥

आशावाद के जलसिञ्चन से, प्रगतिवाद के प्रकाश में, आत्मसमीक्षण सत्य-निष्ठा तथा मानवता के लिए सम्मान द्वारा सेवा किया गया ही भारतीय नवीन समाज का पौधा दृढ़मूल होकर पुष्पित और फलित हो सकता है।

वैदिक साहित्य का पुनरुद्धार

उपर्युक्त सिद्धान्तों और आदर्शों को समाज के हृदयंगम करने का सबसे मुख्य साधन वैदिक साहित्य का पुनरुद्धार और सर्वसाधारण में उसका प्रचार ही है। निराशावाद तथा आदर्शहीनता के वातावरण में निर्मित साहित्य ने हमारी समाज को अकर्मण्य, उत्साहहीन, म्लानमुख तथा दीन बना रखा है। आशावाद के प्राणसंजीवन रस से परिप्लुत वैदिक साहित्य ही उक्त अनार्यजुष्ट अस्वर्ग्य और अकीर्तिकर अवस्था से उस समाज का उद्धार कर सकता है।

पर वैदिक साहित्य का उद्धार वेदों की महिमा के गीत गाने से ही नहीं हो सकता। तपस्वी, त्यागी, प्रतिभाशाली, दृढ़निष्ठ, संशितव्रत विद्वान् ही इस कार्य को कर सकते हैं। इस दिशा में अभी तक हमारा प्रयत्न नगण्य ही है। इससे बड़ी आत्म-प्रवञ्चना क्या हो सकती है!

हमारा ध्येय तो यह होना चाहिए कि जिस प्रकार आधुनिक शिक्षित समाज की बातों में भी पाश्चात्य-शिक्षा का प्रभाव झलकता है, उससे कहीं अधिक हमारा समाज आबाल-वृद्ध, आपामर-प्राज्ञ, आराज-रंक प्राणसंजीवनी वैदिक विचार-धारा से प्रभावित हो, और उसके द्वारा उसके जीवन में एक अदृष्टपूर्व नई ज्योति का, नई प्रेरणा का, नये परिस्पन्दन का स्पष्ट चमत्कार दिखायी दे।

हमारे घरों में या ग्रामों में भी जो गीत गाये जाएँ, वे भी उसी विचारधारा के द्योतक हों। इस महान् स्पृहणीय लक्ष्य की सिद्धि कैसे हो सकती है, इसपर अत्यन्त गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

परमात्मा से यही प्रार्थना है कि वे हमें आत्मिक बल दें जिससे हम सत्यता-तथा दृढता-पूर्वक वैदिक सिद्धान्तों का पालन कर सकें।

ओम् मा प्र गाम पथो वयम् ॥

(ऋग्० १०।५७।१)

—×—

द्वितीय परिशिष्ट

(ङ)

[गीता ने यज्ञ, कर्म, संन्यास जैसे विषयों का जो तात्त्विक विवेचन किया है वह बहुत कुछ वैदिकधारा के मौलिक सिद्धान्तों से मिलता है । गीता का स्वयं कहना है :—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।

(गीता ४।१-३)

'कल्पना' (दिसम्बर, १९५३) से उद्धृत ग्रन्थकार के इस लेख में उक्त दृष्टि से ही कुछ विचार किया गया है ।]

भगवद्गीता का एक असाम्प्रदायिक अध्ययन

'भारतीय संस्कृति की विचार-धारा का लक्ष्य' शीर्षक अपने पिछले लेख में ('कल्पना', अगस्त, १९५३, पृष्ठ ६२०,), सांप्रदायिक पारिभाषिकता के दुष्प्रभाव को दिखाते हुए, हमने असांप्रदायिक दृष्टिकोण से अपने प्राचीन उत्कृष्ट साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता पर बल दिया था। भारतीय संस्कृति की प्रगति की पृष्ठभूमि में उन ग्रन्थों के वास्तविक स्वरूप और महत्त्व को इसी प्रकार समझा जा सकता है ।

सांप्रदायिकता की परिधि और तन्मूलक रूढ़िवाद की अन्ध प्रवृत्ति ने हमारे देश के अनेकानेक अनर्घ ग्रन्थ-रत्नों के प्रकाश को चिरकाल से सीमित कर रखा है, यह किससे छिपा है !

सांप्रदायिक रूढ़िवाद के अतिरिक्त, हमारा 'ब्राह्मण', 'पुराण' जैसा साहित्य ऐसी अर्थवादात्मक[1] पारिभाषिक शैली में लिखा हुआ है कि उसके बाह्य आवरण को छिन्न-भिन्न करके उसके सारांश या वास्तविक रहस्य तक पहुँचना पण्डितों के लिए भी अत्यन्त दुष्कर हो रहा है । बड़े-बड़े विद्वान् भी प्रायः रहस्यार्थ को न समझ कर, उसके बाह्य-आवरण-रूप शाब्दिक अर्थ को ही वास्तविक अर्थ मान लेते हैं । इसी कारण, उदाहरणार्थ, तात्त्विक दृष्टि से विचार करने वाला सांख्य-दर्शन जिस तत्त्व को 'महत्तत्त्व' या 'बुद्धितत्त्व' कहता है, उसी को, पुरुषविध उपाख्यान शैली को लेकर चलने वाले पुराण 'ब्रह्मा' कहते हैं[2], यह बात बहुत कम विद्वानों के मन में बैठेगी ।

वास्तव में एक ऐसे ग्रन्थ की अत्यन्त आवश्यकता है, जिसमें भारतीय प्राचीन वाङ्मय की विभिन्न पारिभाषिक शैलियों का तात्त्विक दृष्टि से विवेचन और स्पष्टीकरण किया जाए । यदि सम्भव हुआ, तो फिर कभी हम दो-चार लेखों में इसका विचार करेंगे ।

आज इस लेख में ऊपर की दृष्टियों को सामने रख कर भगवद्गीता के एक असांप्रदायिक अध्ययन को हम विद्वान् पाठकों के सामने रखना चाहते हैं ।

भगवद्गीता का स्वरूप और उपयोग

गीता भारतवर्ष की अक्षय निधि है । भारतीय संस्कृति की आत्मा का, समस्त मानव-समाज के कल्याण के लिए, वह एक अनर्घ उपहार है । परन्तु इसमे सन्देह ही है कि उसके वास्तविक स्वरूप, सन्देश और महत्त्व को ठीक-ठीक समझा गया है और उसका पूर्णतया सदुपयोग हमने किया है । ऐसी दशा में उसके कल्याणप्रद सन्देश को भारत के बाहर भेजने में हमारा प्रयत्न सर्वथा नगण्य ही रहा है, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है । इसका प्रधान कारण यही है कि अभी तक गीता प्रायेण साम्प्रदायिक आवरण के अन्दर ही रही है । अभी तक तो भारतवर्ष की ही अहिन्दू जनता उसको केवल हिंदुओं की (या वैष्णवों की) एक धार्मिक पुस्तक समझती है । चाहिए तो यह था कि

१. तु० "स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः" (न्यायसूत्र २।१।६४)।

२. तु० "मनो महान् मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः । प्रज्ञा चितिः स्मृतिः संविद् विपुरं (=लं) चोच्यते बुधैः ॥" (वायुपुराण ४।२५) ।

आज वह समस्त संसार में कर्तव्याकर्तव्य (कर्म या नीति) के सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्त के प्रतिपादक एक वैज्ञानिक ग्रन्थ के रूप में विभिन्न विश्वविद्यालयों में पढ़ायी जाती। हमारा विश्वास है कि एक दिन ऐसा अवश्य आएगा। यह तभी होगा, जब कि हम उसे साम्प्रदायिक पारिभाषिकता के आवरण से बाहर निकाल सकेंगे।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि गीता के स्वरूप के विषय में अनेकानेक मत और धारणाएँ चिरकाल से ही भारतवर्ष में रहीं हैं। भिन्न-भिन्न मतों को लेकर जितने भाष्य और टीकाएँ गीता पर लिखी गयी हैं, उतनी कदाचित् ही किसी अन्य ग्रन्थ पर होंगी। प्रायः प्रत्येक संप्रदाय के आचार्यों और विद्वानों ने गीता के अभिप्राय को अपने-अपने अनुकूल दिखाने का प्रयत्न किया है। इससे जहाँ एक ओर गीता का सर्वसम्मत महत्त्व स्पष्ट होता है, वहाँ साथ ही एक तटस्थ जिज्ञासु के सामने जटिल समस्या गीता के स्वाध्याय में दिखायी देती है।

हमारी समझ में इस समस्या का समाधान बहुत अंशों में गीता की पृष्ठ-भूमि या ऐतिहासिक भित्ति को समझ लेने से स्वतः हो जाता है। यह समझना कि गीता जैसे महत्त्व के ग्रन्थ की ऐतिहासिक भित्ति, तात्कालिक सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था न होकर, केवल अर्जुन की युद्धक्षेत्र की संशयात्मकता ही थी, अपने को धोखा ही देना है। संसार के किसी भी महत्त्व के ग्रन्थ की ऐतिहासिक भित्ति केवल एक-घटना-मूलक नहीं मानी जाती। इसलिए गीता के अपने विचारों के वैशिष्ट्य और सामञ्जस्य को समझने के लिए, तात्कालिक समाजगत प्रवृत्तियों को समझना आवश्यक है। उन प्रवृत्तियों का स्वरूप गीता के अध्ययन से ही स्पष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ, गीता के नीचे दिये वचनों को लीजिए:

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नाम यज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ (१६।१४,१५, १७)
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ (२।४२-४३)

अर्थात्, मैं शक्तिशाली हूँ; समर्थ, सुखी, कुलीन और ऐश्वर्यवान् हूँ; मेरे जैसा और कौन है? इस प्रकार धन और मान के मद से समन्वित, अभिमान में चूर लोग ही प्रायः यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं। तात्त्विक ज्ञान से शून्य मनुष्य

ही नाना प्रकार के भोगों और ऐश्वर्यों के प्रलोभन से कर्मकाण्डबहुल यज्ञों के प्रतिपादक, श्रुति-मधुर वैदिक वचनों में अनुरक्त देखे जाते हैं ।

> अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
> दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ।।
> कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
> मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ।।(१७।५-६)

अर्थात्, दम्भ और अहंकार से युक्त, नाना प्रकार की कामनाओं से प्रेरित, आसुरी प्रवृत्ति के लोग ही अशास्त्रीय, घोर शारीरिक तपों में प्रवृत्त होते हैं । वे केवल अपने शरीर को ही कष्ट नहीं देते, अपितु अपने अन्दर वास करने वाले आत्मा को भी पीड़ा देते हैं ।

> न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
> न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।।
> नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
> कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।
> कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
> इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।। (३।४-६)
> काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
> सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।। (१८।२)

अर्थात्, कर्मों के न करने से ही मनुष्य नैष्कर्म्य को नहीं पा लेता है । केवल संन्यास से सिद्धि नहीं मिल जाती है; क्योंकि, मनुष्य प्रयत्न करने पर भी, क्षण भर के लिए भी, बिना कर्म के नहीं रह सकता । केवल बाहर से कर्म न करते हुए, जो मनुष्य मन से ऐन्द्रियक वासनाओं में डूबा रहता है, वह मिथ्याचारी कहाता है । वास्तव में कामना-प्रधान कर्मों के छोड़ने को ही संन्यास कहते हैं और समस्त कर्मों के फलों में आसक्ति को छोड़ना ही सच्चा त्याग है ।

गीता के इन वचनों से स्पष्ट है कि गीता के उपदेश का तात्कालिक विशिष्ट कारण जहाँ एक ओर उस समय समाज में फैली हुई **अत्यधिक कर्मकाण्ड की प्रवृत्ति** थी, वहाँ दूसरी ओर या तो सारे कर्मकाण्ड का तिरस्कार करने वाली **संन्यास की प्रवृत्ति** या घोर शारीरिक कष्ट के रूप में **तप की प्रवृत्ति** थी ।

इसमें सन्देह नहीं कि ये प्रवृत्तियाँ स्वाभाविकता के आधार पर अपनी-अपनी सीमा के अन्दर मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति में सहायक हो सकती हैं; पर यह भी संसार के विभिन्न धर्मों के इतिहास से सिद्ध है कि रजोगुण तथा तमोगुण से अभिभूत मनुष्यों के हाथ में आकर, अविवेक, स्वार्थ-बुद्धि,

दम्भ, मान, प्रमाद और आलस्य के कारण, ये ही प्रवृत्तियां शनैः-शनैः विकृत रूप धारण कर लिया करती हैं ।

भारतवर्ष के ही इतिहास में यज्ञादि कर्मकाण्ड के प्रारम्भ और अतिरेक को लीजिए । यह कर्मकाण्ड, जो मूल में मनुष्य-जीवन के यावत्कर्तव्य-कर्मों के प्रतीक रूप में था और समाज में उदात्त भावनाओं का पोषक था, शनैः-शनैः यजमान और ऋत्विजों की निम्न वा आसुरी वासनाओं की तृप्ति के साधन, नीरस तथा निष्प्राण, शुष्क क्रियाकलाप में परिवर्तित हो गया ।

उपनिषदों के निम्नलिखित प्रमाण इसी निष्प्राण, आदर्शहीन क्रिया-कलाप के प्रति उद्विग्नता को स्पष्टतया प्रकट करते हैं—

> **प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा**
> **अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।**
> **एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा**
> **जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥** (मुण्डकोपनिषद् १।२।७)
> **अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः**
> **स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।**
> **दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा**
> **अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥** (कठोपनिषद् १।२।५)

अर्थात्, ये आदर्श-हीन यज्ञादि कर्मकाण्ड अदृढ नौका के समान हैं । अविवेकी लोग इनको ही जीवन का लक्ष्य बना कर, अपनी अन्ध वासनाओं के भँवर में ही पड़े रहते हैं और आध्यात्मिक उन्नति के पद को नहीं प्राप्त कर सकते । मूढ लोग, अपने को पण्डित और बुद्धिमान् समझते हुए, पर वास्तव में अज्ञानवश आदर्शहीन क्रियाकलाप में फँसे हुए, आत्मिक उन्नति के सरल-सीधे मार्ग में अग्रसर नहीं हो पाते हैं । वे मान, दम्भ, मोह के टेढ़े मार्ग में ही फँस कर अपने जीवन को नष्ट करते हैं । उनकी दशा वास्तव में अन्धे के पीछे चलने वाले अन्धों के ही समान होती है ।

ऐसे ही आदर्शहीन क्रियाकलाप को लक्ष्य करके गीता के उपर्युक्त भाव प्रकट किये गये हैं ।

दूसरी ओर, अत्यधिक कर्मकाण्ड की उक्त प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया के रूप में, देश में ज्ञान-काण्ड की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ था । यह प्रवृत्ति भी बढ़ते-बढ़ते कालान्तर में, अतिमात्रता के कारण, शुष्क ज्ञान के रूप में आकर प्रमाद, आलस्य तथा अकर्मण्यता में परिवर्तित हो गयी ।

इसी प्रकार, तीसरी प्रवृत्ति, जिसका प्रभाव भी सामान्य जनता पर काफ़ी

था, देश में तपस्वि-नामधारियों की थी, जो तरह-तरह की घोर शारीरिक यातनाओं को स्वेच्छया सहने में ही अपनी कृतकृत्यता समझते थे[1]।

उक्त तीनों प्रकार की प्रवृत्तियों के कारण उत्साह साहस तथा पराक्रम की भावनाओं से ओत-प्रोत, जीवित आर्यजाति में आदर्शहीन, कर्तव्याकर्तव्य-विवेक-शून्य, अनेक मूढ-ग्राहों से अभिभूत, निष्प्रभ, अकर्मण्य तथा मृतप्राय जाति के लक्षण दिखायी देने लगे थे। गीता के ऊपर दिये हुए वचनों से और उसकी सारी विचार-धारा से यह स्पष्ट है कि गीता का उदय देश और जाति को उक्त प्रवृत्तियों के दुष्प्रभाव से बचाने के लिए ही हुआ था। गीता के उपदेश का अभिप्राय यही था कि उक्त प्रवृत्तियों में आदर्शहीनता के आ जाने से जो परस्पर विरोध आ गया था, उसको एक मौलिक आदर्श की दृष्टि से दूर करके सामञ्जस्य स्थापित किया जाए।

गीता का दुरुपयोग

पर ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत करके उक्त ऐतिहासिक भित्ति या पृष्ठभूमि को न समझने के कारण ही गीता का दुरुपयोग चिरकाल से होता रहा है। इसी कारण गीता के विषय में प्रायः यह भावना देश में चिरकाल से ही फैली हुई है कि वह साधु-संन्यासियों की पुस्तक है; वह ऐसा शास्त्र है, जिसका उपयोग, बूढ़ों के लिए भले ही हो, सांसारिक कार्यों में लगे हुए, गृहस्थों या नवयुवकों के लिए नहीं है। यह मिथ्या-भावना मूढ और पण्डित, दोनों में समान रूप से फैली हुई चली आ रही है। अभी कुछ वर्ष पूर्व गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस, के सामान्य पाठ्यक्रम में गीता रखने का संस्कृत के अनेक पण्डितों ने विरोध इसी आधार पर किया था कि उसका कोई स्थान सर्वसाधारण के पाठ्यक्रम में हो ही नहीं सकता।

यह कहना कठिन है कि गीता के विषय में उक्त मिथ्या-भावना प्रारम्भ में क्यों और कैसे प्रचलित हुई; तो भी यह तो निश्चय है कि इसका बहुत-कुछ उत्तरदायित्व जीवन के विषय में उदास और आशामय भावनाओं से शून्य, मध्य-

---
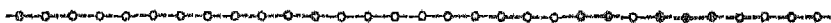
१. उदाहरणार्थ, **वाल्मीकि-रामायण** (३।६।२-६) में अश्मकुट्ट (=कूटे हुए कच्चे अन्न को खाने वाले), दन्तोलूखलिन् (=कच्चे अन्न को भी बिना कूटे खाने वाले), पत्राहार (=केवल पत्ते खाने वाले), अशय्य (=न सोने वाले), अनवकाशिक (=एक ही पैर पर खड़े रहने वाले), आर्द्रपटवासस् (=गीले कपड़े पहनने वाले) आदि घोर तपस्वियों का उल्लेख किया गया है।

काल के उन भाष्यकारों और टीकाकारों पर है, जिन्होंने गीता को वेदान्तशास्त्र के साथ बाँध दिया। परन्तु देखिए, स्वयं गीता का उत्तर इस विषय में क्या है।

गीता के उपक्रम और उपसंहार

यह मानी हुई बात है कि किसी भी ग्रन्थ के वास्तविक तात्पर्य का निर्णय उसके उपक्रम (=प्रारम्भ) और उपसंहार (=समाप्ति) से ही किया जाता है। **गीता का उपक्रम** शस्त्र-सज्जित युयुत्सु वीरों से भरे हुए युद्धक्षेत्र में '**प्रवृत्ते शस्त्र-संपाते**' होता है। ऐसे अवसर पर विचार-संघर्ष में लीन, विषाद के गर्त में पड़े हुए, किंकर्तव्य-विमूढ, संशयात्मा अर्जुन के प्रति भगवान् श्रीकृष्ण का सब से पहला वचन यह है—

> **कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।**
> **अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ! ॥**
> **क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ ! नैतत्त्वय्युपपद्यते ।**
> **क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ! ॥**(२।२-३)

अर्थात्, हे अर्जुन ! इस अवसर पर आर्यों से निन्दित, आत्मा को गिराने वाली तथा अपयश की हेतु यह घबराहट तुम्हारे हृदय में कहाँ से आ गयी ? तुम वीर हो, शत्रुओं का नाश करने वाले हो, हृदय की इस क्षुद्र दुर्बलता को छोड़कर युद्ध के लिए खड़े हो जाओ !

अब **गीता के उपसंहार** को लीजिए। गीता का अन्तिम श्लोक यह है—

> **यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।**
> **तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥**(१८।७८)

इसमें संजय का यही कहना है कि मेरी धारणा है कि जहाँ विशुद्ध कर्तव्य-भावना के उपदेष्टा श्रीकृष्ण तथा धनुर्धारी वीर अर्जुन के संवादात्मक इस गीता के उपदेश का अनुसरण किया जाएगा, वहाँ लक्ष्मी, विजय, ऐश्वर्य तथा सत्य से न डिगनेवाली नीति रहेगी। दूसरे शब्दों में इसका यही अभिप्राय है कि गीता, जिसका उपदेश युद्धक्षेत्र में स्थित वीर अर्जुन को लक्ष्य करके किया गया है, श्री, विजय, भूति तथा सन्नीति का प्रतिपादक शास्त्र है। निश्चय ही इनका कोई स्थान वेदान्त-शास्त्र में नहीं हो सकता, न कोई वेदान्त-शास्त्र का ग्रन्थ वेदान्त-के जिज्ञासु के सामने लक्ष्मी, विजय आदि को आदर्श-रूप से रखेगा।

यह भी ध्यान में रखने की बात है कि गीता के उपदेश का प्रभाव अर्जुन पर यह नहीं हुआ कि वह युद्ध से मुँह मोड़ कर जंगल में जाकर तपस्या करता

या किसी देव-मन्दिर में बैठ कर भगवान् की भक्ति और आराधना करता। उसका प्रभाव तो यही हुआ कि अर्जुन ने प्राणपण से युद्ध में भाग लिया और शत्रुओं पर पूर्ण विजय प्राप्त की। गीता के समस्त उपदेश को सुनकर अर्जुन स्वयं कहता है:—

> नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
> स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥(१८।७३)

अर्थात्, हे अच्युत ! आपके उपदेश से मेरा सारा मोह और भ्रम दूर हो गया है। मैं अब आपका कहना करूँगा और युद्ध में भाग लूँगा।

इससे यह स्पष्ट है कि गीता केवल साधु-संन्यासी या बूढ़ों का शास्त्र नहीं है, न वह कर्मभीरु, प्रमादी, आलसी या झूठे वैराग्य की ओट में अपने सांसारिक कर्त्तव्यों से मुँह मोड़ने वालों का शास्त्र है।

प्रत्युत वह

> **ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु**
> **वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ।**
> **मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रस्**
> **त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम ॥ (ऋग्० १०।१२८।१)**
> **इन्द्र त्वोतास आ वयं**
> **वज्रं घना ददीमहि ।**
> **जयेम सं युधि स्पृधः ॥ (ऋग्० १।८।३)**

(अर्थात्, हे भगवन् ! हम वर्चस्वी, तेजस्वी तथा बलवान् बन कर, अपने शत्रुओं पर, अपनी उन्नति में बाधक शक्तियों पर विजय प्राप्त करें और समस्त दिशाएँ हमारे सामने नतमस्तक हों ! भगवन् ! आपकी रक्षा में हम समग्र उपकरणों से सन्नद्ध हो कर, विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त करते हुए, उन्नति-मार्ग में अग्रसर होते रहें) ऐसी उदात्त प्रार्थनाओं को करने वाले, कर्मशील, सत्यनिष्ठ, विजयी लोगों का कर्मशास्त्र है।

गीता का वास्तविक स्वरूप

गीता के वास्तविक स्वरूप और प्रतिपाद्य विषय को ठीक-ठीक समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि गीता किसी धर्म-विशेष या संप्रदाय-विशेष का प्रतिपादन नहीं करती, न वह किसी सम्प्रदाय का खण्डन या तिरस्कार ही करती है। वह तो दार्शनिक मौलिक सत्य का प्रतिपादक शास्त्र है, और इसीलिए वह, हमारे मत में, सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक महत्त्व रखती है।

मनुष्य की धार्मिक प्रवृत्तियों की समालोचना करते हुए, वह उनके लिए सच्चे आदर्श का प्रदर्शन भी करती है। वास्तव में गीता को हम कर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, या कर्तव्याकर्तव्यशास्त्र कह सकते हैं। वह प्रत्येक धर्म-कर्म की कसौटी है, और इस प्रकार 'धर्मशास्त्रों का धर्मशास्त्र' है।

हमारा तो ऐसा विचार है कि गीता में, प्राचीनतम भारतीय रूपकोन्मुख प्रवृत्ति के अनुसार ही, महाभारतीय युद्धक्षेत्र में अवस्थित अर्जुन और भगवान् वासुदेव के संवाद के व्याज से, सांसारिक संघर्षमय जीवन के क्षेत्र में उद्योगशील प्रत्येक व्यक्ति के लिए भगवान् कृष्ण द्वारा प्रदर्शित कर्तव्यपथ का वर्णन किया गया है।

गीता जैसे शास्त्र के महत्व को हृदयंगम करने के लिए हमें एक और सिद्धान्त को भी समझ लेना आवश्यक है। वह सिद्धान्त यह है कि आध्यात्मिक तथा दार्शनिक तत्त्वों के परिशीलन में भाषा केवल परिभाषा का ही काम करती है। जैसे तत्तत्-शास्त्रों में व्यवहार की सुविधा के लिए पारिभाषिक शब्दों की कल्पना कर ली जाती है, ऐसे ही आध्यात्मिक और दार्शनिक जगत् में, समाज-गत शाब्दिक रूढ़ियों का सहारा लेकर, तत्तत्-प्रमेयों का प्रतिपादन किया जाता है। इस प्रकार भाषा, तात्त्विक स्वरूप में भेदक न हो कर, उस स्वरूप के विभिन्न पहलुओं को ही बताती है। इसलिए 'शब्दब्रह्मातिवर्तते' के अनुसार भाषा के स्तर से ऊपर उठजाने वाले एक तत्त्वदर्शी स्थितप्रज्ञ की दृष्टि में वेदान्त का 'ब्रह्म', नीतिशास्त्र का 'सत्य', बौद्ध-दर्शन का 'धर्म' या 'धम्म', मीमांसादर्शन का 'कर्म', तन्त्र-शास्त्र का 'शक्ति', या स्वयं गीताशास्त्र का 'अहम्' या 'वासुदेव' शब्द वास्तव में एक ही मौलिक तत्त्व के प्रतिपादक हैं।

मनुष्य की बनायी हुई भाषा, जो कि

"वाग् वै मनसो ह्रसीयसी। अपरिमिततरमिव हि मनः।
परिमिततरेव हि वाक्।" (शतपथब्राह्मण १।४।४।७)

(अर्थात्, निश्चय ही वाणी का पद मन या विचार से छोटा है। वाणी या भाषा की अपेक्षा मन या विचार का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है) इस श्रुति के अनुसार विचार को स्पष्ट करने का एक अपूर्ण साधन है, स्वतःसिद्ध मूल-तत्त्व को बताने ही वाली (=प्रतिपादक) है, बनाने वाली (=उत्पादक) नहीं।

उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार एक तत्त्वदर्शी विपश्चित् की दृष्टि, मनुष्य की निम्न वासनाओं को दबा कर उसकी उच्च आध्यात्मिक या नैतिक प्रवृत्तियों के प्रबोधन तथा पोषण के निमित्त विभिन्न धर्मों द्वारा प्रतिपादित, विभिन्न कर्मकाण्डों में, विभिन्न देव-पूजा-पद्धतियों में, या, अधिकारि-भेद या प्रवृत्तिभेद के कारण, विभिन्न शाब्दिक परिभाषाओं के आश्रय से मौलिक तत्त्व के प्रतिपादक विभिन्न दर्शन-(=दृष्टि) शास्त्रों में भेद नहीं देखती।

*गीता के कर्म तथा यज्ञ का स्वरूप

गीता को हमने ऊपर कर्तव्याकर्तव्य-शास्त्र या कर्म-शास्त्र कहा है । उसका विशिष्ट प्रतिपाद्य विषय यही है कि मनुष्य को कर्म कर्तव्य-बुद्धि या अनासक्त बुद्धि से ही नहीं, अपितु ईश्वरार्पण-बुद्धि या भक्तिभावना से भी करना चाहिए ।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ॥ (३।१९-२०)
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ (९।२७)

अर्थात् मनुष्य को अपना कर्तव्य-कर्म उसके फल में अनासक्त हो कर करना चाहिए। इसी प्रकार वह अपने अभीष्ट चरम पद को प्राप्त कर सकता है । इसका अभिप्राय, दूसरे शब्दों में, यही है कि मनुष्य अपने कर्तव्य-कर्म को करता हुआ, उसको समस्त जगत् की समष्टिरूप ईश्वर को अर्पण करने की बुद्धि से ही करे ।

इस प्रकार अनासक्त बुद्धि तथा ईश्वरार्पण-बुद्धि से किये गये कर्म की महिमा गीता में भरी पड़ी है । साथ ही

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ (३।१०)
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ (४।३१)

(अर्थात्, सृष्टि के प्रारम्भ में यज्ञ के साथ ही समस्त प्रजाओं को उत्पन्न करते ही प्रजापति ने कहा था कि यज्ञ ही तुम्हारी कामनाओं की पूर्ति करेगा और तुम्हारी सारी उन्नति का आधार यज्ञ होगा । यज्ञ द्वारा ही मनुष्य परिपूर्ण अवस्था को प्राप्त कर सकता है । उसके बिना तो इस लोक में भी मनुष्य सुखी नहीं हो सकता ।) इस प्रकार यज्ञ की भी महिमा का काफ़ी गान किया गया है ।

परन्तु गीता के सिद्धान्त को ठीक-ठीक समझने के लिए कर्म और यज्ञ के वास्तविक स्वरूप को जानना अत्यन्त आवश्यक है । शब्द-विषयक रूढ़िवाद के प्रभाव से तप, दान, दया, स्वर्ग, वर्ण, श्रद्धा—जैसे महत्त्व के शब्दों के समान, 'कर्म' और 'यज्ञ' शब्दों के अर्थ के विषय में भी हमारा समाज वास्तविकता से बहुत दूर चला गया है । हमारे धर्मशास्त्र भी इसके अपवाद नहीं हैं । रूढ़िमूलक इसी परम्परागत भ्रम को दूर करने के लिए गीता ने, अन्य कई शब्दों

की तरह, 'कर्म' और 'यज्ञ' शब्दों के भी वास्तविक अर्थों को दिखाने के लिए काफी प्रयत्न किया है । कर्म-विषय में गीता ने कहा है :—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः । (४।१६)

अर्थात्, कर्म तथा अकर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने में कवियों या विद्वान् लोगों ने भी भूल की है ।

सामान्य रूप से कर्म शब्द का अर्थ यज्ञादि कर्मकाण्ड या पूजा-पाठ आदि लिया जाता है । परन्तु जिस कर्म का विचार गीता करती है, उसमें तो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, नागरिकता आदि के सांसारिक सम्बन्धों से प्रेरित होकर, मनुष्य जितने भी काम करता है, वे सब सम्मिलित हैं । यज्ञादि कर्मकाण्ड तो केवल उसी व्यापक जीवन की तैयारी है, प्रतीक है । जैसे कुछ मिनिटों के शारीरिक व्यायाम का महत्त्व हमारे शरीर को सारे दैनिक कार्य के लिए स्वस्थ रखने में होता है, इसी तरह सारे कर्मकाण्ड का महत्त्व, मनुष्य की उच्च भावनाओं की पुष्टि द्वारा, उसके सारे जीवन की पवित्रता और सच्चरित्रता में है । जब कर्मकाण्ड या पूजापाठ में यह भावना नहीं रहती, जब वह स्वयं हमारा लक्ष्य बन जाता है, तब वह मान, दम्भ, पाषण्ड, लोभ और परप्रतारणा के भावों से संचालित होकर, आदर्शहीन, जटिल क्रिया-कलाप के रूप में, व्यक्तिगत तथा समाजगत उच्च भावनाओं तथा नैतिकता का पोषक होने के स्थान में, उनका घातक बन जाता है । जनता समझने लगती है कि थोड़े से पूजापाठ से ही मनुष्य को कृतकृत्यता मिल सकती है और उसके दिन-रात के अन्य कर्तव्यों का आध्यात्मिक जीवन से कोई संबंध नहीं है । ऐसे ही आदर्शहीन यज्ञादि कर्मकाण्ड को गीता ने तामस और राजस कहा है और अनेक प्रकार से उसकी भर्त्सना की है ।

गीता की दृष्टि से किसी भी काम का महत्त्व, चाहे वह लौकिक हो या धार्मिक, उस भावना पर निर्भर है, जिससे प्रेरित होकर मनुष्य उसे करता है । कर्म करने वाला चाहे बड़ा विद्वान् हो, पण्डित हो, ब्राह्मण हो, शक्तिशाली हो, या साधारण-से-साधारण काम करने वाला शूद्र या हरिजन हो, दोनों के व्यक्तित्व का, ऊँच-नीच का, निर्णय गीता इसी दृष्टि से करेगी । हमारे पुराणादि साहित्य में धर्मव्याध आदि की कथाओं का यही अभिप्राय है

यही दशा 'यज्ञ' शब्द की है । उसके भी वास्तविक अर्थ को भूलकर, चिरकाल से हम संकुचित अर्थ में उसका प्रयोग करने लगे हैं । यज्ञ का मौलिक अर्थ अग्नि में आहुति डालना नहीं है । यह तो वास्तविक यज्ञ-भावना का केवल एक प्रतीक है । **यज्ञ का वास्तविक अर्थ अल्पज्ञ, स्वभावतः इन्द्रिय-परायण तथा स्वार्थसाधन में तत्पर मनुष्य का, अपनी निम्न-प्रवृत्तियों पर विजय पाने के लिए, जगत् की पोषक**

स्वभावतः परार्थ-प्रवृत्त दैवी शक्तियों या शक्ति के साथ अपना सम्पर्क स्थापित करना है। और यह सम्पर्क निःस्वार्थ लोकसेवा द्वारा ही स्थापित किया जा सकता है। इसी भाव को गीता ने

> **देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।**
> **परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।। (३।११)**

इन शब्दों में वर्णन किया है। ऐतरेय-ब्राह्मण आदि ग्रन्थों मे इसी अर्थ में **'भावना-यज्ञ'** शब्द का प्रयोग किया गया है। 'यज्ञ' शब्द की धातु 'यज देवपूजा-संगतिकरण-दानेषु' की देव-पूजा का वास्तविक अर्थ यही है। इसी प्रकार के यज्ञ द्वारा, गीता के मत में, **"भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्"** (५।२९) के अनुसार, यज्ञ तथा तप के भोक्ता भगवान् की भक्ति या पूजा की जा सकती है। वास्तव में गीता के अनुसार कर्त्तव्य-तथा ईश्वरार्पण-बुद्धि से किया हुआ कर्म ही सच्चा यज्ञ है।

गीता की भक्ति

गीता में अत्यन्त महत्त्व का शब्द 'भक्ति' है। परन्तु 'भक्ति' शब्द का जो प्रचलित अर्थ है, गीता की 'भक्ति' उससे नितरां भिन्न है। गीता के अनुसार **विश्व-प्रपञ्च को चलाने वाले, समस्त प्रेरणाओं के केन्द्र, समस्त व्यष्टियों के प्राण-रूप, यज्ञ तथा तप के उपभोक्ता अर्थात् सार्थक्य के संपादक, समष्टि-रूप** मूलतत्त्व के साथ सामञ्जस्य के लिए (जिसको सांप्रदायिक परिभाषा में 'सर्व-लोक-महेश्वर भगवान् की प्रीत्यर्थ' इन शब्दों में कहा जा सकता है) **कर्म करना ही सच्ची भक्ति है।**

> **यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।**
> **स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।। (गीता १८।४६)**

इसके अनुसार मनुष्य-जीवन की सफलता का रहस्य कर्म द्वारा ईश्वर-भक्ति (अर्थात् व्यष्टि और समष्टि के सामञ्जस्य) में है। यह ठीक भी है, क्योंकि व्यक्ति के कर्त्तव्य की इतिश्री समष्टि के साथ उसके सामञ्जस्य में ही है। इस प्रकार भक्तिवाद कर्त्तव्यबुद्धि या आदर्शवाद की ही पराकाष्ठा है। यह भक्तिवाद कर्त्तव्यबुद्धि की भावना में नवीन मधुररस का संचार करता है। इसमें दैन्य, आलस्य, प्रमाद या अकर्मण्यता के लिए स्थान नहीं है। न यह पुरुष को, प्रकृति के विरुद्ध, स्त्रीतुल्य आचरण करना सिखाता है, न अत्याचारी के अत्याचार को सहना। **"वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि"** के अनुसार इसमें नम्रता और शौर्य का अनोखा सामञ्जस्य है। गीता के भक्तिवाद की दृष्टि से स्व-कर्त्तव्य-पालन में

सर्वस्व की बलि देने वाले महाराणा प्रताप या गुरु गोविन्दसिंह वैसे ही भक्त हैं, जैसे गोस्वामी तुलसीदास या भक्त सूरदास।

गीता का भक्त आशा और आत्मविश्वास की प्रतिमूर्ति होता है। वह बड़े-बड़े संकटों से भी न घबड़ा कर उनका स्वागत करता है। उसकी मानसिक अवस्था का सुन्दर वर्णन गीता इस प्रकार करती है —

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ (२।३२)

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ (२।३८)

वास्तव में गीता की प्रक्रिया के अनुसार, यज्ञ तप आदि की तरह, भक्ति के भी सात्विक, राजस और तामस, ये तीन भेद किये जा सकते हैं। हमारी समझ में यह भेद निम्नलिखित प्रकार से दर्शाया जा सकता है—

योऽन्तरात्मा जगत्साक्षी सृष्टवानिदमद्भुतम्।
कल्याणबुद्ध्या जीवानां तत्प्रसादाय केवलम्॥१॥

कर्तव्यमिति यत्कर्म क्रियते नियतात्मभिः।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समैर्भूत्वा भक्तिः सा सात्त्विकी मता॥२॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं समुत्साहः स्वकर्मसु।
श्रेयोऽभ्युदयसिद्धिश्च तस्याः फलमिहोच्यते॥३॥

सत्कारमानपूजार्थं प्रतार्य सकलं जगत्।
जीविकासाधनार्थं वा प्रेयोमार्गपरायणैः॥४॥
लोकेशस्य प्रसादार्थमेवमुद्घोष्य सर्वतः।
क्रियते यः समारम्भो भक्तिः सा राजसी मता॥५॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च समुद्वेगः स्वकर्मसु।
चित्तचञ्चलता चैव तस्याः फलमिहोच्यते॥६॥
समुत्सृज्य स्वकं कर्म सदालस्यपरायणैः।
कर्मण्यकर्म पश्यद्भिरकर्मणि च कर्म यत्॥७॥
नाम्नः संकीर्तनेनैव न तु कर्मसमाश्रयात्।
पूज्यते भगवान्नित्यं भक्तिः सा तामसी मता॥८॥
निरुद्यमा निरुत्साहा हीनसत्त्वपराक्रमाः।
अनार्यजुष्टमार्गस्था जायन्ते तां समाश्रिताः॥९॥

(रश्मिमाला ६५।१–९)

अर्थात्, जगत् के साक्षिभूत जिन अन्तरात्मा भगवान् ने यह अद्भुत सृष्टि जीवों के कल्याणार्थ की है, केवल उनकी प्रसन्नता के लिए, सिद्धि तथा असिद्धि को बराबर समझने वाले, संयतात्मा मनुष्य कर्तव्य-बुद्धि से जो काम करते हैं वही सात्त्विकी भक्ति है। उस भक्ति से मन की प्रसन्नता, सौम्यता, अपने कर्मों में उत्साह और निःश्रेयस तथा अभ्युदय की सिद्धि, ये प्राप्त होते हैं।

केवल स्वार्थ-तत्पर लोगों द्वारा, 'ईश्वर की प्रसन्नता के लिए ही यह काम किया जा रहा है' प्रत्यक्षतः ऐसी सर्वत्र घोषणा करके, अपने सत्कार मान और पूजा के लिए या जीविका-प्राप्ति के लिए, जगत् को धोखा देकर, जो कार्य किया जाता है, वह राजसी भक्ति कहलाती है। इस भक्ति से मनुष्य में केवल दम्भ, दर्प, अभिमान, अपने कार्यों में अशान्ति तथा चित्तचञ्चलता, इनकी ही वृद्धि होती है।

कर्म को अकर्म और अकर्म को कर्म समझने वाले आलसी लोगों द्वारा, अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा करके, केवल नाम के संकीर्तन से, न कि निःस्वार्थ कर्म द्वारा, भगवान् की पूजा करना तामसी भक्ति है। ऐसी भक्ति करने वाले, उद्यम, उत्साह तथा तेज और पराक्रम से विहीन हो कर, अनार्यसेवित मार्ग का अवलम्बन करते हैं।

आत्मपरीक्षण या अन्तरवेक्षण

ऊपर हमने कहा है कि गीता किसी संप्रदाय-विशेष की पुस्तक नहीं है, न वह किसी कर्मकाण्ड-विशेष का प्रतिपादन करती है। वह तो मनुष्यमात्र के सामने, चाहे वह किसी संप्रदाय या धर्म का अनुयायी हो, कर्म करने का उच्चतम आदर्श रखती है। साथ ही वह बतलाती है कि प्रत्येक कर्म को उसकी भावात्मिका भित्ति की दृष्टि से देखना चाहिए; क्योंकि प्रत्येक धार्मिक या नैतिक कर्म का महत्त्व हमारे भावों पर निर्भर है। भाव-संशुद्धि को गीता ने मानस-तपों में गिनाया है। इसके लिए आत्म-परीक्षण या अन्तरवेक्षण की अत्यन्त आवश्यकता है। यह अन्तरवेक्षण गीता की शिक्षा का एक बड़ा वैशिष्ट्य है।

यह अन्तरवेक्षण प्रकृतिसिद्ध सत्त्व, रजस्, तमस्, इन तीन गुणों के आधार पर ही किया जा सकता है। स्थूल रूप से कहा जा सकता है कि अविवेक, मोह, जडता, आलस्य तथा प्रमाद ये तमोगुण के लक्षण हैं; परम्परागत अन्ध-रूढियों तथा चिर-प्ररूढ अपनी ही वासनाओं की दासता रजोगुण का लक्षण है; और अपने प्रत्येक कार्य के परीक्षण में सजग रहना, अमूढ रहना और प्रमाद तथा वासनाओं से असंपृक्त, शुद्ध बौद्धिक दृष्टि को स्थिर रखना सत्त्वगुण की पहचान है। गीता ने स्वयं, उदाहरण के रूप में, श्रद्धा, यज्ञ, तप, दान आदि का सात्त्विक,

राजस, तामस भेद से त्रैविध्य दिखाया है। इसी कसौटी द्वारा हम अपने प्रत्येक कर्म का परीक्षण कर सकते हैं।

'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' के अनुसार अन्ध रूढ़ियों के प्रभाव में बहती हुई भारतीय जनता को आज प्रायः प्रत्येक दिशा में इस अन्तरवेक्षण की कितनी आवश्यकता है, यह कहने की बात नहीं है। हमारे दान, यज्ञ, तप तथा धर्म के नाम पर किये जाने वाले अन्य कार्य भी, सात्त्विक रूप से गिरकर, प्रायः रिवाज, मान, दम्भ तथा अविवेक की वस्तु हो गये हैं। गीता की शिक्षा का पहला प्रभाव हम पर यह होना चाहिए कि हम अन्तरवेक्षण द्वारा अपने कामों की तथा अपनी रूढ़ियों की गीता की कसौटी पर परीक्षा करना सीखें। इसी आत्म-परीक्षण के लिए गीता ने प्रायः 'असंमोह' शब्द का प्रयोग किया है। गीता का कहना है :

गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्। (१५।५)

कठोपनिषद् ने इसी बात को अपने सुन्दर शब्दों में कहा है :

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।

अर्थात्, कोई वीर-वीर पुरुष ही, आत्मकल्याण को चाहता हुआ, आत्मपरीक्षण की ओर झुकता है।

गीता का आशावाद

भारतीय आर्य-धर्म की एक मुख्य विशेषता उसका आशावाद है। हमारा प्राचीन साहित्य, विशेष कर वैदिक साहित्य, आशावाद के ओजपूर्ण भावों से ओत-प्रोत है। जैसे—

ओजोऽस्योजो मयि धेहि।

(=परमात्मन् आप ओजःस्वरूप हैं, मुझे भी ओजस्वी बनाइए)।

अदीनाः स्याम शरदः शतम्।

(=हम जीवन में कभी दीनता को धारण न करें)।

मदेम शतहिमाः सुवीराः।

(=हम वीर सन्तानों से युक्त होकर जीवनभर प्रसन्नता से रहें)।

कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे

(=भगवन्! आपके अनुग्रह से हम उन्नत जीवन के लिए सदा सचेष्ट रहें)।

हमारी जाति के इस आशावाद का आधार जहाँ एक ओर आत्मविश्वास था, वहाँ दूसरी ओर जगन्नियन्ता भगवान् की सृष्टि में, अत्यन्त व्यापक अर्थों में, सत्य का साम्राज्य है, इस विश्वास में था। ''असतो मा सद् गमय'' (=भगवन्! मुझे असत्य से सत्य की ओर ले चलिए), ''सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा''

(=सत्याचरण द्वारा ही मनुष्य अपने सच्चे स्वरूप को पहचान सकता है), "सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्" (=सारा विश्व सत्य में ही प्रतिष्ठित है), इन श्रुतियों से हमारे पूर्व-पुरुषों की गम्भीर तथा व्यापक सत्य-भावना स्पष्ट है।

गीता में भी यही महान् आदर्श ओत-प्रोत है। गीता जहाँ एक ओर "**उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्**" (६।५) (अर्थात्, अपनी उन्नति अपने भरोसे पर करो और आत्मग्लानि से अपने को बचाओ) की शिक्षा देती है, वहाँ दूसरी ओर भगवान् कृष्ण के प्यार-भरे शब्दों में विश्वास दिलाती है:

कौन्तेय ! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति। (९।३१)
नहि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात ! गच्छति। (६।४०)
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते। (२।४०)

अर्थात्, हे प्रिय अर्जुन ! इसका विश्वास रखो कि कर्त्तव्य-बुद्धि से कर्म करने वाला, कल्याणमार्ग का पथिक कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं हो सकता। कोई भी सत्प्रयत्न निष्फल रहे, ऐसा नहीं हो सकता।

यह कल्याण-भावना भोगैश्वर्यप्रसक्त, इन्द्रियलोलुप, या समयानुकूल अपना काम निकालने वाले आदर्शहीन व्यक्तियों की वस्तु नहीं है। इसके स्वरूप को तो वही समझ सकता है, जिसका यह विश्वास है कि उसका सत्य बोलना, संयत जीवन व्यतीत करना, आपत्तियों के आने पर भी अपने कर्तव्य से मुँह न मोड़ना उसके स्वभाव, उसके व्यक्तित्व के अंतस्तम स्वरूप की आवश्यकता है। जैसे एक फूल का सौन्दर्य और सुगन्ध किसी बाह्य कारण से न होकर, उसके स्वरूप का अंग है; ऐसे ही एक कल्याणमार्ग के पथिक का निरपेक्ष या अनासक्त हो कर कर्तव्यपालन करना उसके स्वरूप का अंग है; उसके जीवन का सार्थक्य, जीवन की पूर्णांगता ही इसमें है। गीता इसी को सात्त्विकी श्रद्धा कहती है। गीता की भक्ति और निष्काम कर्म के मूल में यही आशामय, श्रद्धामय कल्याण-भावना निहित है।

आशावाद-मूलक गीता की यह कल्याणभावना, और "**यद्भद्रं तन्न आ सुव**" (=भगवन् ! जो भद्र या कल्याण है, उसकी हमें प्राप्ति कराइए,), "**भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि**" (=भद्र या कल्याणमार्ग पर चलते हुए हम अपना जीवन व्यतीत करें), "**भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः**" (=हम भद्र को सुनें और भद्र को ही देखें) इत्यादि अनेकानेक मन्त्रों में वर्णित वैदिक भद्र-भावना, दोनों एक ही हैं। दोनों के मूल में आशावाद है, और दोनों का लक्ष्य मनुष्य को सतत कर्तव्यशील बनाना है।

उपसंहार

ऊपर हमने संक्षेप में गीता के 'कर्म', 'यज्ञ', 'भक्ति' आदि के विषय में कुछ मौलिक सिद्धान्तों को असाम्प्रदायिक दृष्टि से दिखाने का यत्न किया है। गीता के वास्तविक स्वरूप और महान् उपयोग को समझने में इससे अवश्य सहायता मिलेगी, ऐसी हमें आशा है।

निःसन्देह गीता की महिमा अनन्त है। वह हमारी जाति का एक अनर्घ समुज्ज्वल रत्न है। आवश्यकता इस बात की है कि हम उसके महत्त्व और उपयोग को ठीक-ठीक समझें और उसके द्वारा जनता में तन्द्रा, क्लान्ति, दैन्य, निराशा, आलस्य, प्रमाद, दम्भ और पाखण्ड को हटा कर, उनके स्थान में स्फूर्ति, उत्साह, आशा, आत्म-सम्मान, कर्तव्यपरायणता और सत्यनिष्ठा की स्थापना द्वारा नव-जीवन का संचार करें।

गीता हमारी है; उसका हमको गर्व है। पर साथ ही उसका सार्वदेशिक और सार्वकालिक महत्त्व भी है। समस्त मानव-समाज के कल्याण का रहस्य उसमें निहित है। कर्तव्य-बुद्धि की भावना में मधुर रस का संचार करने वाला, गीता का भक्तिवाद तथा आत्म-परीक्षण ही संसार के सन्तप्त तथा उद्विग्न मानव-समाज को शांति प्रदान कर सकता है। हमारा कर्तव्य है कि हम गीता के जीवन-प्रद उपदेश और सन्देश को, उदाहरण द्वारा, देश के कोने-कोने में पहुँचाएँ, और इस प्रकार वह दिन शीघ्र आए, जब कि प्रबुद्ध भारत मानव-जाति के कल्याण की भावना से उसके अनुपम प्रकाश को संसार में फैला सके।

——×——

द्वितीय परिशिष्ट

(ब)

[अभिनव भारत के निर्माण में रूढ़ि-मूलक वर्ण-भेद एक गहरी समस्या है। इस लेख में इसी समस्या के एक पहलू पर ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन किया गया है। प्रकृत ग्रन्थ में इस विवेचन का कई बार उल्लेख हुआ है।]

वर्णभेद तथा जातिभेद का परस्पर सम्बन्ध[1]

भारतवर्ष में हिन्दू-समाज की सबसे बड़ी विशेषता जाति-भेद और वर्ण-भेद है। एक ओर हिंदू-समाज सैकड़ों विभिन्न जातियों में बँटा हुआ है, जो व्यवहार में एक दूसरे से बहुत करके बिलकुल असंबद्ध हैं। दूसरी ओर प्राचीन परम्परा के विद्वान् उन सैकड़ों जातियों के चार वर्णों में वर्गीकरण करने का असफल प्रयत्न चिरकाल से करते आये हैं। जाति-भेद और वर्ण-भेद का परस्पर क्या संबंध है, इसी का विचार हम ऐतिहासिक दृष्टि से इस लेख में करना चाहते हैं।

इस पर विचार करने से पहले यह बतला देना आवश्यक है कि वर्ण-व्यवस्था का विचार वैज्ञानिक और व्यावहारिक, दोनों दृष्टियों से किया जा सकता है। वैज्ञानिक विचार तो समस्त सभ्य जातियों पर लागू हो सकता है; क्योंकि वैज्ञानिक दृष्टि के अनुसार तब तक किसी सभ्य जाति का काम चल ही नहीं सकता, जब तक उसमें चारों वर्णों के मनुष्य उचित संख्या में न हों। वास्तव में जो जाति जितनी ही सभ्य और उन्नत होगी, उसमें उतने ही वस्तुतः उन्नत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होंगे। इस प्रकार की वास्तविक तथा

---

१. काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'श्री संपूर्णानन्द अभिनन्दन-ग्रन्थ' से कुछ परिवर्तन और परिवर्धन के साथ उद्धृत ग्रन्थ-कर्ता का लेख।

अकृत्रिम वर्ण-व्यवस्था बहुत अंशों में, उदाहरणार्थ, आजकल योरप के इंग्लैण्ड आदि देशों में पायी जाती है। इसीलिए वे देश रूढ़ि-मूलक वर्ण-व्यवस्थावाले देशों की अपेक्षा अधिक ज्ञान, बल, धन और शिल्प से भरपूर हैं। जितने ज्ञानी (=ब्राह्मण), बली (=क्षत्रिय), धनी (=वैश्य) और शिल्पी (=शूद्र) उन देशों में हैं, उतने हमारे जैसे देशों में नहीं।

पुराणों[1] में जहाँ तत्तद् द्वीप के भेद से भिन्न-भिन्न चार नामों से चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का वर्णन किया है वहाँ इसी प्रकार की वैज्ञानिक वर्ण-व्यवस्था से अभिप्राय है।

परंतु भारतवर्ष की आधुनिक वर्ण-व्यवस्था का विचार वैज्ञानिक दृष्टि के स्थान में व्यावहारिक दृष्टि से ही किया जा सकता है। यहाँ वर्ण-व्यवस्था का विचार यही कह देने से समाप्त नहीं हो जाता कि ज्ञान-प्रधान, कर्म-प्रधान और इच्छा-प्रधान व्यक्तियों को क्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और जिनमें ज्ञान, क्रिया, इच्छा का समुचित विकास न हुआ हो उनको शूद्र समझना चाहिए। यहाँ तो वैज्ञानिक दृष्टि से सांकर्य, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषों के रहने पर भी, रूढ़ि या व्यवहार के अनुसार ही वर्ण-भेद माना जा सकता है। यहाँ "**शास्त्राद्रूढिर्बलीयसी**" यह न्याय बिलकुल घट जाता है। इसी कारण से रूढ़ि-मूलक वर्ण-भेद के पोषकों ने भिन्न-भिन्न वर्णों को देखते ही उनका भेद प्रतीत हो जाए, इस उद्देश्य से भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में उन के लिए भिन्न-भिन्न कृत्रिम चिह्नों के रखने का विधान किया है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण, क्षत्रिय

---

१. उदाहरणार्थ, जम्बू-द्वीप (जिसमें भारतवर्ष है) के अतिरिक्त प्लक्ष, शाल्मल, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर, इन छह द्वीपों के वर्णन के प्रसङ्ग में उन सबमें, भिन्न-भिन्न नामों से, चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का वर्णन **विष्णु-पुराण** में इस प्रकार किया गया है—"वर्णाश्च तत्र (=प्लक्षे) चत्वारस्तान् निबोध वदामि ते ।। **आर्यकाः कुरराश्चैव विदिश्या भाविनश्च ते।** विप्रक्षत्रियवैश्यास्ते शूद्राश्च मुनिसत्तम ।।...**शाल्मले** ये तु वर्णाश्च वसन्त्येते महामुने। **कपिलाश्चारुणाः पीताः कृष्णाश्चैव** पृथक् पृथक् ।। ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव...वर्णास्तत्रापि (=कुशद्वीपे) चत्वारो...**दमिनः शुष्मिणः स्नेहा मन्देहाश्च** महामुने ।। ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चानुक्रमोदिताः ।...(क्रौञ्चद्वीपे) **पुष्कराः पुष्कला धन्यास्तिष्याख्याश्च** महामुने। ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चानुक्रमोदिताः ।।.... (शाकद्वीपे) **वङ्गाश्च मागधाश्चैव मानसा मन्दगास्तथा।** वङ्गा ब्राह्मणभूयिष्ठा मागधाः क्षत्रियास्तथा। वैश्यास्तु मानसास्तेषां शूद्रास्तेषां तु मन्दगाः ।।...(पुष्कर-द्वीपे) वर्णाश्रमाचारहीनं धर्माचरणवर्जितम् ।..." (विष्णुपुराण २।४।१६-१७; ३०-३१; ३८-३९; ५३; ६९; ८२)।

और वैश्य वर्ण के ब्रह्मचारियों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के दंड, मेखला आदि का विधान **मनुस्मृति** आदि में किया गया है।[1]

इतनी उपक्रमणिका के पश्चात् अब हमें यह विचार करना चाहिए कि भारतीय आधुनिक वर्ण-भेद और जाति-भेद में परस्पर क्या संबन्ध है। इस संबंध के विषय में कई मत हो सकते हैं। प्रथम तो उन लोगों का मत है, जो चिरकाल से भारतवर्ष में वैज्ञानिक वर्ण-व्यवस्था को रूढ़ि-मूलक वर्ण-व्यवस्था का रूप देने का प्रयत्न करते रहे हैं। उनका मत है कि सृष्टि के प्रारंभ से ही चारों वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख आदि अंगों से पृथक् पृथक् हुई।

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मणा वर्णतां गतम् ।।

(महाभारत । शान्तिपर्व १८८।१०)

तथा **(कृतयुगे)...वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च न तदासन्न संकरः ।**

(वायुपुराण ८।६०)

इस प्रकार के अनेकानेक स्पष्ट वचनों के प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों में पाये जाने पर भी, वे लोग

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳬ शूद्रो अजायत ।।

(यजुर्वेद ३१।११)

जैसे वचनों का उपर्युक्त अर्थ ही करते हैं।

इस मत की प्रत्यक्ष दुर्बलता तथा अनैतिहासिकता के विषय में यहाँ कुछ न कहकर, हम उसके केवल इस अभिप्राय को लेकर ही विचार करेंगे कि

---

१. उदाहरणार्थ, **मनुस्मृति** में विभिन्न वर्णों के ब्रह्मचारियों के लिए भिन्न-भिन्न चर्म, मेखला आदि का विधान इस प्रकार किया गया है—"कार्ष्णरौरवबास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः । वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमादिकानि च ।। मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला । क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ।।...कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत् । शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ।। ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ । पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ।।" (मनु० २।४१–४२, ४४–४५) इत्यादि। इस प्रकार की पृथक्त्व की प्रवृत्ति प्रारम्भ में न होकर क्रमशः बढ़ती गयी, यह प्राचीन तथा नवीन ग्रन्थों के काल-क्रमिक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। भेद-भाव की इस प्रवृत्ति के इतिहास पर हम फिर कभी विचार करेंगे।

उपर्युक्त चारों भेद सृष्टि के प्रारंभ से ही हैं। इस मत के मान लेने पर यह प्रश्न उठता है कि ऐसी दशा में आजकल की अनेकानेक जातियाँ कहाँ से आ गयीं? इसका उत्तर उक्त मतवादियों की तरफ़ से यही दिया जाता है कि इन जातियों में से कुछ तो उपर्युक्त वर्णों की ही भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं, और कुछ की उत्पत्ति चारों वर्णों के परस्पर संकर से हुई है। **मनुस्मृति**[1] आदि ग्रंथों में इसी प्रकार से अनेक (मागध, सूत, चर्मकार आदि) जातियों की उत्पत्ति बतलायी गयी है। दूसरे शब्दों में, इस मत के अनुसार रूढ़ वर्ण-व्यवस्था पहले से है, और जातियों का भेद उसके बाद का है। इसीलिए इस मत के अनुसार जाति-भेद का वर्ण-भेद से घनिष्ठ मौलिक संबंध है। इस मत के आधार पर वर्णों को भी जाति-भेद मानकर जातियों को अवांतर जातियाँ कहा जाता है।

दूसरा मत आजकल के अनेक सुधारकों का है। वे कहते हैं, प्राचीन समय में अनेकानेक जातियाँ नहीं थीं। गुण-कर्मानुसार उपर्युक्त वैज्ञानिक अर्थ में केवल चार वर्ण थे। उसके पश्चात् आर्थिक, सामाजिक तथा स्थानीय आदि अनेक कारणों से अनेकानेक जातियाँ हो गयीं। संकरज कहलाने वाली जातियों के विषय में उनका क्या मत है, यह हम ठीक-ठीक नहीं कह सकते। कदाचित् वे लोग संकरज जातियाँ नहीं मानते।

कई विशेष अंशों में उक्त मतों से समानता रखने पर भी, सामान्य रूप से हमारा विचार उनसे भिन्न है। हमारे विचार में अनेकानेक वर्तमान जातियों का वर्ण-भेद से कोई मौलिक संबंध नहीं है। जाति-भेद का कारण वर्ण-संकरता बहुत ही कम है। वास्तविक कारण आर्थिक और सामाजिक तथा मनुष्य-जाति-विज्ञान आदि से संबंध रखनेवाले हैं। बहुत अंशों में अनेक जातियाँ वर्ण-विभाग से पूर्व की भी हो सकती हैं। इसलिए जातियों को वर्णों का विकृत या परि-वर्तित रूप न मानकर यही कहना ठीक होगा कि अनेक भिन्न-भिन्न कारणों से स्वतंत्रतया सिद्ध और कई अंशों में वर्ण-व्यवस्था से पूर्ववर्ती जातियों पर बाहरी वर्ण-व्यवस्था का आरोप करने का प्रयत्न चिरकाल से बराबर किया गया है।

सभ्यता के इतिहास में एक समय ऐसा आता है, जब अनेक कारणों से अनेक बिरादरियाँ या जातियाँ बन जाती हैं। अनेक कारणों में से एक कारण आर्थिक होता है। सभ्यता की उस अवस्था में, जब कि मनुष्यों की आवश्यकताएँ बहुत अधिक न होकर नियत होती हैं, साथ ही दूर देशों के साथ गमनागमन भी कम होता है, भिन्न-भिन्न पेशों के अनुसार भिन्न-भिन्न मनुष्य-समुदाय अपना पृथक् समाज बना लेते हैं। उनको इसमें सहूलियत होती है कि आपस में ही विवाहादि

---

१. देखिए—**मनुस्मृति** का १० वाँ अध्याय।

संबंध करें। उदाहरणार्थ, एक कुम्हार के लड़के को कुम्हार ही की लड़की से शादी करने में बड़ी सुविधा होती है। वह अपने बाल्यकाल में ही अपने पेशे में निपुण हो जाती है, और पति के घर आते ही उसको उसके काम में सहायता देने लगती है। यही दशा चर्मकार आदि दूसरे पेशों के लोगों की है। जातियों का एक कारण वंश-मूलक भी हो सकता है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की जातियों का रूढ़ि-मूलक वर्ण-भेद से कोई मौलिक संबंध नहीं है।

जाति-भेद का कारण वर्ण-सांकर्य बहुत कम है, इसका एक प्रमाण **यजुर्वेद** (माध्यंदिन-संहिता, अध्याय ३०) में मिलता है। इसमें सूत, रथकार, मागध, चर्मकार, चांडाल आदि अनेक ऐसी जातियों का उल्लेख है, जो **मनुस्मृति** आदि के अनुसार वर्णसंकरता से ही उत्पन्न हुई हैं। **मनुस्मृति** आदि के इस कथन को माननेवाले लोगों से पूछना चाहिए कि जब वेद, वर्णों की तरह, सृष्टि के प्रारंभ में ही उत्पन्न हुए, तो उसी समय ये वर्ण-सांकर्य से उत्पन्न जातियाँ कहाँ से आ गयीं ?

महाभाष्य, अष्टाध्यायी आदि से भी मनुस्मृति आदि ग्रंथों के वर्णसंकरमूलक सिद्धांत का विरोध प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, **मनुस्मृति** (अध्याय १०) आदि के अनुसार आम्बष्ठ्य, और मागध संकर-मूलक जातियाँ हैं; परंतु **पाणिनीय-अष्टाध्यायी** (देखिए अध्याय ४, पाद १, सूत्र १६८–१७१) तथा **महाभाष्य** के अनुसार ये क्षत्रियों की विशेष जातियाँ थीं।

इस विरोध का कारण हमें निम्नलिखित प्रतीत होता है।

प्रारंभ में 'ब्राह्मण', 'क्षत्रिय' आदि वर्णवाची शब्द यौगिक समझे जाते थे। इसी कारण आर्यावर्त के अंदर तथा आसपास रहनेवाली अनेक आर्य तथा अनार्य जातियों को उनके कर्म के अनुसार आर्य लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि शब्दों से पुकारते थे। पीछे से जब ये शब्द आर्यावर्त में रूढार्थक हो गये, तब उन आर्य या अनार्य जातियों को जिनमें आर्यावर्तीय आर्य-संस्कृति ठीक रूप में नहीं पायी जाती थी, यहाँ के शास्त्री लोग संकरज या शूद्र कहने लगे। यही कारण है कि जहाँ एक ओर **अष्टाध्यायी** (देखिए काशिका ४।१। १६८–१७८) आदि के अनुसार पौण्ड्र, कंबोज, चोल, केरल, शक आदि आर्य या अनार्य जातियाँ क्षत्रिय कही गयी हैं, वहाँ दूसरी ओर **मनुस्मृति**[1] आदि के अनुसार वे या तो वृषल कही गयी हैं या संकरज बतलायी गयी हैं। चीनी आदि अनार्य जातियों के विषय में

१. देखिए—"शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः। वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ।। पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः। पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ।। (मनु० १०।४३–४४)

मनुस्मृति का यह कहना कि वे "शनकैस्तु क्रियालोपाद्...ब्राह्मणादर्शनेन च", अर्थात् पूर्ववर्ती आर्य-संस्कृति के छोड़ देने से शूद्रता को प्राप्त हो गयी हैं, केवल उपहासास्पद है।

ऊपर के उदाहरणों से प्रतीत होता है कि सृष्टि के प्रारंभ से ही चार पृथक्-पृथक् रूढिपरक वर्णों की स्थिति के सिद्धान्त को माननेवालों ने जब अनेकानेक जातियाँ देखीं, विशेष कर भारतवर्ष के उन प्रान्तों में जहाँ रूढिपरक वर्ण-व्यवस्था प्रचलित नहीं हुई थी, तब उनको संकर-मूलक कहना प्रारंभ कर दिया। वास्तव में उनका वर्ण-भेद-व्यवस्था से कोई संबंध उस समय तक नहीं होने पाया था, और वे प्रायेण स्वतंत्रतया सिद्ध जातियाँ थीं।

जाति-भेद और वर्ण-भेद के संबंध को समझाने के लिए हम 'शूद्रों' का उदाहरण ले सकते हैं। शूद्र कहलाने वाले लोगों के लिए जाति-भेद तो वास्तविक है। वे शूद्र हैं, इसको न तो वे कहते हैं, न जानते ही हैं। 'शूद्र' शब्द उनकी बोली या भाषा में है ही नहीं। वास्तव में देखा जाए, तो यही कहना होगा कि 'शूद्र' शब्द शास्त्री लोगों ने उनके ऊपर उसी तरह लाद दिया है, जैसे 'नेटिव' शब्द का समारोप हमारे ऊपर विदेशी लोग करने लगे थे।

हिंदू-समाज में इस समय भी अनेकानेक ऐसी जातियाँ हैं, जिनके विषय में एकमत से यह नहीं कहा जा सकता कि उनका किस वर्ण से संबंध है। इससे भी यह स्पष्ट है कि वर्ण-भेद जाति-भेद से वस्तुतः असंबद्ध है, और कई अंशों में उसके बाद का भी हो सकता है।

रूढि-मूलक वर्ण-व्यवस्था के पक्षपाती यह देखकर प्रायः बुरा मानते हैं कि अनेक जातियाँ किसी ऋषि आदि की अपने आदि-पुरुष के रूप में कल्पना करके अपने को तत्तद्वर्ण का कहना चाहती हैं। यह प्रवृत्ति आजकल कुछ अधिक देखी जा रही है, यद्यपि भारतवर्ष के इतिहास में यह बिलकुल नई नहीं है। हमारे सिद्धान्त से तो रूढि की दृष्टि से किसी अनिश्चित-वर्ण जाति के लोगों का भिन्न-भिन्न वर्णों में घुसने का प्रयत्न बिलकुल व्यर्थ है। इससे उनमें आत्म-सम्मान की मात्रा की कमी और रूढि के प्रति दास्य-बुद्धि ही प्रकटित होती है।

वर्ण-भेद और जाति-भेद के परस्पर संबंध के विषय में परंपरागत विचार ही उक्त प्रयत्न का प्रेरक होता है। इस संबंध का यदि वास्तविक स्वरूप और इतिहास लिया जाय, तब तो यही कहना ठीक होगा कि उन लोगों का रूढि मूलक वर्णव्यवस्था से अभी तक कोई संबंध नहीं हुआ है। परंतु सामाजिक वातावरण में फैले हुए विचार उनको विवश करते हैं। जो दशा आज है, वही प्राचीन

समय में रही होंगी। अनेक भारतीय जातियाँ, जिनका रूढ वर्ण-भेद से कोई संबंध नहीं था, वर्ण-भेद को मानने वाली तथा राजनीतिक आदि कारणों से अपने से प्रबल जातियों की देखा-देखी अपने को भी उस-उस वर्ण का कहने लगती होंगी। मुसलमानों में वर्ण-भेद के लगभग समानार्थक 'शेख़', 'पठान', और 'सैयद' शब्दों की भी यही गति रही है। हिन्दुओं की अनेक जातियाँ धर्मपरिवर्तन के बाद अपने को इन्हीं नामों से कहने लगी हैं।

जाति-भेद और वर्णभेद के इतिहास का वास्तव में परस्पर कोई मौलिक संबंध नहीं है। बहुत अंशों में जातियाँ, किसी न किसी रूप में, वर्ण-भेद से पूर्व भी रही होंगी। हाँ, प्राचीन समय में वे आजकल के समान पक्की तौर पर एक-दूसरे से बिलकुल असम्बद्ध न रही होंगी। वैदिक 'पञ्चजनाः' शब्द का अर्थ विद्वान् यह समझते हैं कि उस समय आर्यों में मुख्य पाँच कुल या जातियाँ थीं। इसी प्रकार स्काटलैण्ड आदि दूसरे देशों में भी प्राचीन समय में लोगों में अनेकानेक गण होते थे। जाति-भेद का एक बड़ा अच्छा उदाहरण अमेरिका के संयुक्तराज्य से मिलता है। वहाँ योरप के भिन्न-भिन्न देशों के लोग जाकर बसे हैं। उनके इटैलियन, रशियन, जर्मन आदि गण बन गये हैं, यद्यपि वे ऐसे परस्पर असंबद्ध नहीं हैं, जैसी आजकल की भारतवर्ष की बिरादरियाँ।

सामान्य रीति से यह कहा जा सकता है कि बहुत अंशों में जाति-भेद और वर्ण-भेद का इतिहास पृथक्-पृथक् है। ये दो स्वतंत्र धाराएँ हैं। जाति-भेद की धारा को यदि ऐतिहासिक कहा जाए, तो वर्ण-भेद की धारा को रूढ़ या सांकेतिक कह सकते हैं। प्रथम का कारण यदि ऐतिहासिक या वस्तुगत है, तो दूसरी का काल्पनिक या केवल विचार-मूलक।

उपर्युक्त सिद्धान्त की दृष्टि से यही कहना होगा कि सामान्य रूप से पूर्व-सिद्ध चार वर्णों से विकृत या परिवर्तित होकर ये आजकल की अनेकानेक जातियाँ नहीं बनी हैं, किन्तु इसके विपरीत अनेक अन्य कारणों से स्वतन्त्रतया सिद्ध अनेक जातियों को ही पहले आर्यभाषा के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार शब्दों द्वारा, बहुत-कुछ इनके यौगिक अर्थों में, चार विभागों में बाँटा गया। पीछे से ये शब्द रूढि-परक होकर प्रयुक्त होने लगे। इसका काल वह ज्ञात होता है, जब कि आर्य लोग पंजाब से आगे बढ़कर मध्यदेश में बस चुके थे। उसी काल में पहले यौगिक और पीछे से रूढि-मूलक वर्ण-व्यवस्था का प्रचार हुआ। रूढिमूलक वर्ण-व्यवस्था के स्थिर हो जाने पर यह माना जाने लगा कि सृष्टि के प्रारंभ से ही चारों वर्ण एक-दूसरे से पृथक् हैं। उस समय के पीछे जब आर्य पंडितों ने दूसरी अनार्य या आर्य होते हुए भी रूढ वर्ण-व्यवस्था

को न माननेवाली जातियों को देखा, तब विवशतया उन्हें संकर के सिद्धान्त की कल्पना करनी पड़ी। तब भी आर्यों के प्रभाव और भारतवर्ष में विस्तार के बढ़ने के साथ-साथ वे जातियाँ अपने को तत्तद् वर्ण के साथ संबद्ध करने का प्रयत्न करती रहीं। अनेक जातियों में अपने-अपने वर्ण के विषय में जो विवाद पाया जाता है, वह बहुत करके इसी प्रयत्न का लक्षण है। ऐसी जातियों में से अनेक, जिनका प्रभाव अधिक था, अपने पेशे आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न उच्च वर्णों की बन गयीं। परंतु अनेक जातियों को शास्त्रीय पंडित अब तक संकरज या शूद्र ही कहते हैं।

इस प्रकार की अनेक अनार्य या अनार्य-बहुल जातियाँ आजकल के प्रत्येक वर्ण में मौजूद हैं। इसका प्रमाण, मनुष्य-जाति-विज्ञान की सहायता के बिना भी, प्राचीन पुस्तकों में पाया जाता है। **अष्टाध्यायी** में एक सूत्र है—"**आर्यो ब्राह्मण-कुमारयोः**" (६।२।५८)। इसके उदाहरण और प्रत्युदाहरण हैं—'**आर्यब्राह्मणः**' और '**आर्यक्षत्रियः**'। दोनों में कर्मधारय समास है। दोनों जगह 'आर्य' शब्द मूलतः विशिष्ट-जाति-परक (या 'रेशियल सेन्स' में) ही हो सकता है; क्योंकि उस काल के साहित्य में 'आर्य' शब्द, 'शूद्र' शब्द के मुकाबले में प्रयुक्त होने से, यही अर्थ रख सकता था।[1] इन उदाहरणों से अर्थापत्ति से यही सिद्ध होता है कि उस काल में भी अनेक जातियाँ ब्राह्मणों और क्षत्रियों आदि में ऐसी रही होंगी, जो वास्तव में 'अनार्य' थीं। **शतपथ-ब्राह्मण** (१।१।४।१४) में **असुर-ब्राह्मणों**[2] के उल्लेख से भी यही सिद्ध होता है। इसी प्रकार आसाम के इतिहास में '**म्लेच्छ-ब्राह्मणों**'[3] का उल्लेख मिलता है। धर्मशास्त्र के ग्रंथों में श्राद्ध में जो **द्राविडादि ब्राह्मणों** के निमंत्रण का निषेध पाया जाता है[4], उसके भी मूल में यही कारण प्रतीत होता है।

---

१. तु० "**अवरोऽप्यार्यः शूद्रेण**" (गौतमधर्मसूत्र ६।११) पर हरदत्त की टीका "**आर्यस्त्रैवर्णिकः।**"

२. देखिए—"**किलाताकुली इति हासुरब्रह्मावासतुः**" (शतपथ-ब्रा० १।१।४।१४)

३. देखिए—"The Social History of Kāmarūpa", Vol. I, by N. N. Vasu, पृष्ठ १२७, १५४.

४. तु० "**हेमाद्रौ मात्स्ये। त्रिशङ्कून् बर्बरानन्ध्रान् चीनद्रविडकोङ्कणान्। कर्णाटकांस्तथाभीरान् कलिङ्गांश्च विवर्जयेत्॥ तत्रैव सौरपुराणे। अङ्गवङ्गकलिङ्गांश्च...द्राविडान्...। आवन्त्यान् मागधांश्चैव ब्राह्मणांस्तु विवर्जयेत्॥**" (निर्णयसिन्धु, श्राद्ध में निषिद्ध ब्राह्मणों का प्रकरण)। यहाँ **चीनी** और **बर्बर** आदि **ब्राह्मणों** का भी उल्लेख है।

यदि यह ठीक है कि आज-कल के रूढ़ि-मूलक ब्राह्मण आदि वर्णों में अनेक अनार्य जातियाँ भी सम्मिलित हैं, तब तो यही कहना होगा कि पंजाब का एक ब्राह्मण, ऐतिहासिक दृष्टि से, पंजाब के खत्री से जितना घनिष्ठ संबंध रखता है, उतना मदरास के अनेक ब्राह्मणों से नहीं। यही बात दूसरे वर्णों के विषय में भी ठीक है।

उपसंहार

ऊपर के प्रतिपादन के अनुसार जातियों के साथ वर्ण-भेद का संबन्ध केवल सांकेतिक या रिवाजू है। उसमें ऐतिहासिकता प्रायः नहीं है। ऐसी दशा में **आचार-विचार और रुचि की समानता रहने पर** विभिन्न जातियों में वैवाहिक संबन्ध, भिन्न-भिन्न गोत्रों के समान ही, हो सकते हैं। उसमें रूढ़ि-मूलक वर्ण-व्यवस्था के विचार को लाना अनावश्यक और अवैज्ञानिक भी है; विशेषकर आजकल, जब कि आजीविका के प्रकार में और वर्ण-भेद में कोई घनिष्ठ संबन्ध नहीं रहा है।

दूसरे, परम्परागत विचार-धारा के अनुसार वर्ण-भेद के साथ ऊँच-नीच की भावना का गहरा संबन्ध है, जाति-भेद के साथ नहीं। रूढ़िमूलक वर्ण-भेद की भावना की उपेक्षा से, जातियाँ एक स्तर पर आ जाती हैं। वे आचार-विचार और रुचि की समानता के आधार पर आसानी से मिल भी सकती हैं।

---:o:---

डाक्टर मङ्गलदेव शास्त्री द्वारा

प्रणीत अथवा संपादित ग्रन्थों का परिचय[1]

(हिन्दी भाषा में)

मूल्य

(१) भाषाविज्ञान (अथवा तुलनात्मक भाषाशास्त्र), चतुर्थ संस्करण (परिवर्धित पञ्चम संस्करण छप रहा है)। प्राप्तिस्थान—इंडियन प्रेस लिमिटेड, बनारस। ५)

(२) भारतीय आर्यधर्म की प्रगतिशीलता (भारतीय संस्कृति के विकास का विवेचनात्मक अध्ययन)। प्राप्तिस्थान—इंडियन प्रेस लिमिटेड, बनारस। ॥)

(३) मिना (=प्रेम और प्रतिष्ठा का संघर्ष) ('मिना फ़न बार्नहेल्म' नामक जर्मन नाटक का अनुवाद)। प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद। २।)

(४) वेदों का वास्तविक स्वरूप, अथवा 'वेदों के महान् आदर्श'। प्राप्तिस्थान—मेसर्स मोतीलाल बनारसीदास, बुकसेलर्स, पोस्ट बाक्स नं० ७५, बनारस। ।=)

(५) रश्मिमाला (अथवा 'जीवन-संदेश-गीताञ्जलि')। मूल संस्कृत पद्य तथा हिन्दी अनुवाद। उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत। प्रकाशक—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद। ३॥)

(संस्कृत भाषा में)

(६) ऋग्वेदप्रातिशाख्यम्, उवटाचार्यकृतभाष्येण सहितम्। प्राप्तिस्थानम्—इंडियन प्रेस लिमिटेड, बनारस। ८॥)

(७) प्रबन्धप्रकाशः (संस्कृतनिबन्धसंग्रहात्मकः) प्रथमो भागः, नवमं संस्करणम्। प्राप्तिस्थानम्—इंडियन प्रेस लिमिटेड, बनारस। ३)

(८) प्रबन्धप्रकाशः, द्वितीयो भागः (दीक्षान्तादिभाषणानां संग्रहात्मकः 'सुविचारमाधुकर्या' तथा 'ऐतरेयब्राह्मणपर्यालोचनेन' सहितश्च)। प्राप्तिस्थानम्—इंडियन प्रेस लिमिटेड, बनारस। ३)

---

१. गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस, के प्रिंसिपल के रूप में प्रकृत लेखक द्वारा संपादित 'सरस्वती भवन ग्रन्थमाला' की पुस्तकों का उल्लेख इस सूची में नहीं है।

(९) न्यायसिद्धान्तमाला (द्वौ भागौ)। प्रकाशकः—गवर्नमेण्ट प्रेस, इलाहाबाद।

(१०) उपेन्द्रविज्ञानसूत्रम् (वेदान्तः)। प्रकाशकः—गवर्नमेण्ट प्रेस, इलाहाबाद। १)

(११) उपनिदानसूत्रम् (सामवेदीयम्)। प्रकाशकः—गवर्नमेण्ट प्रेस, इलाहाबाद। ॥)

(१२) आश्वलायनश्रौतसूत्रम् (सिद्धान्तिभाष्यसहितम्) प्रथमो भागः। प्रकाशकः—गवर्नमेण्ट प्रेस, इलाहाबाद। ॥)॥

(१३) आर्यविद्यासुधाकरः। प्रकाशकः—श्रीमोतीलाल बनारसीदास, बुकसेलर्स, चौक, बनारस। १०)

(१४) भारतीयसंविधानस्य (उत्तरार्धस्य) संस्कृतानुवादः। प्रकाशकः—गवर्नमेंट आफ़ इंडिया, देहली।

(१५) ऐतरेयारण्यकपर्यालोचनम् (अथवा 'ऐतरेयारण्यक आचार-विचाराः')। प्राप्तिस्थानम्—श्री मोतीलाल बनारसीदास, बुकसेलर्स, पोस्ट बाक्स नं० ७५, बनारस। २)

(इंगलिश भाषा में)

(१६) ऋग्वेदप्रातिशाख्यम् (English Translation, Critical Notes, Appendices, etc.).
प्रकाशक—श्री मोतीलाल बनारसीदास, बुकसेलर्स, पोस्ट बाक्स नं० ७५, बनारस। २०)

(१७) ऋग्वेदप्रातिशाख्यम् (Critical Introduction, Text in Sanskrit Stanzas, Appendices, etc.). In the Press (to be had from the above address).

——:०:——